श्री चन्द्रर्षि महत्तर प्रणीत

पंचसंग्रह

[बन्धनकरण-प्ररूपणा अधिकार]

(मूल, शब्दार्थ, विवेचन युक्त)

हिन्दी व्याख्याकार

श्रमणसूर्य प्रवर्तक मरुधरकेसरी

श्री मिश्रीमल जी महाराज

दिशा-निदेशक

मरुधरारत्न प्रवर्तक मुनिश्री रूपचन्दजी म० 'रजत'

सम्प्रेरक

मरुधराभूषण श्री सुकनमुनि

सम्पादक

देवकुमार जैन

प्रकाशक

आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान, जोधपुर

□ श्री चन्द्रर्षि महत्तर प्रणीत
पचसग्रह (६)
(बन्धनकरण-प्ररूपणा अधिकार)

□ हिन्दी व्याख्याकार
स्व० मरुधरकेसरी प्रवर्तक मुनि श्री मिश्रीमल जी महाराज

□ दिशा निदेशक
मरुधरारत्न प्रवर्तक मुनि श्री रूपचन्द जी म० 'रजत'

□ सयोजक-सप्रेरक
मरुधराभूषण श्री सुकनमुनि

□ सम्पादक
देवकुमार जैन

□ प्राप्तिस्थान
श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति
पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)

□ प्रथमावृत्ति
वि० स० २०४२ पौष, जनवरी १९८६
गुरुदेवश्री की द्वितीय पुण्य तिथि

□ मूल्य
लागत से अल्पमूल्य १०/- दस रुपया सिर्फ

□ मुद्रण
श्रीचन्द सुराना 'सरस' के निदेशन मे
शक्ति प्रिंटस, आगरा

प्रकाशकीय

जैनदर्शन का मर्म समझना हो तो 'कर्मसिद्धान्त' को समझना अत्यावश्यक है। कर्मसिद्धान्त का सर्वांगीण तथा प्रामाणिक विवेचन 'कर्मग्रन्थ' (छह भाग) मे बहुत ही विशद रूप से हुआ है, जिनका प्रकाशन करने का गौरव हमारी समिति को प्राप्त हुआ। कर्मग्रन्थ के प्रकाशन से कर्मसाहित्य के जिज्ञासुओ को बहुत लाभ हुआ तथा अनेक क्षेत्रो से आज उनकी माग बराबर आ रही है।

कर्मग्रन्थ की भांति ही 'पचसग्रह' ग्रन्थ भी जैन कर्मसाहित्य मे अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसमे भी विस्तारपूर्वक कर्म-सिद्धान्त के समस्त अगो का विवेचन हुआ है।

पूज्य गुरुदेव श्री मरुधरकेसरी मिश्रीमल जी महाराज जैनदर्शन के प्रौढ विद्वान और सुन्दर विवेचनकार थे। उनकी प्रतिभा अद्भुत थी, ज्ञान की तीव्र रुचि अनुकरणीय थी। समाज मे ज्ञान के प्रचार-प्रसार मे अत्यधिक रुचि रखते थे। यह गुरुदेवश्री के विद्यानुराग का प्रत्यक्ष उदाहरण है कि इतनी वृद्ध अवस्था मे भी पचसग्रह जैसे जटिल और विशाल ग्रन्थ की व्याख्या, विवेचन एव प्रकाशन का अद्भुत साहसिक निर्णय उन्होने किया और इस कार्य को सम्पन्न करने की समुचित व्यवस्था भी करवाई।

जैनदर्शन एव कर्मसिद्धान्त के विशिष्ट अभ्यासी श्री देवकुमार जी जैन ने गुरुदेवश्री के मार्गदर्शन मे इस ग्रन्थ का सम्पादन कर प्रस्तुत किया है। इसके प्रकाशन हेतु गुरुदेवश्री ने प्रसिद्ध साहित्यकार श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना को जिम्मेदारी सौंपी और वि० स० २०३९ के आश्विन मास मे इसका प्रकाशन-मुद्रण प्रारम्भ कर दिया

गया। गुरुदेवश्री ने श्री सुराना जी को दायित्व सौपते हुए फरमाया —'मेरे शरीर का कोई भी भरोसा नही है, इस कार्य को शीघ्र सम्पन्न कर लो।' उस समय यह बात सामान्य लग रही थी। किसे ज्ञात था कि गुरुदेवश्री हमे इतनी जल्दी छोडकर चले जायेंगे। किंतु क्रूर काल की विडम्बना देखिये कि ग्रन्थ का प्रकाशन चालू ही हुआ था कि १७ जनवरी १९८४ को पूज्य गुरुदेव के आकस्मिक स्वर्गवास से सर्वत्र एक स्तब्धता व रिक्तता-सी छा गई। गुरुदेव का व्यापक प्रभाव समूचे सघ पर था और उनकी दिवगति से समूचा श्रमणसघ ही अपूरणीय क्षति अनुभव करने लगा।

पूज्य गुरुदेवश्री ने जिस महाकाय ग्रन्थ पर इतना श्रम किया और जिसके प्रकाशन की भावना लिये ही चले गये, वह ग्रन्थ अब पूज्य गुरुदेवश्री के प्रधान शिष्य मरुधराभूषण श्री सुकनमुनि जी महाराज के मार्गदर्शन मे सम्पन्न हो रहा है, यह प्रसन्नता का विषय है। श्रीयुत सुराना जी एव श्री देवकुमार जी जैन इस ग्रन्थ के प्रकाशन मुद्रण सम्बन्धी सभी दायित्व निभा रहे है और इसे शीघ्र ही पूर्ण कर पाठको के समक्ष रखेगे, यह दृढ विश्वास है।

आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध सस्थान अपने कार्यक्रम मे इस ग्रन्थ को प्राथमिकता देकर सम्पन्न करवाने मे प्रयत्नशील है।

आशा है, जिज्ञासु पाठक लाभान्वित होगे।

मन्त्री
आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध सस्थान
जोधपुर

श्रमण सूर्य प्रवर्तक गुरुदेव श्री मिश्रीमलजी महाराज — विद्याभिलाषी श्री सुकन मुनि

श्रमणसघ के भीष्म-पितामह

श्रमणसूर्य स्व० गुरुदेव श्री मिश्रीमल जी महाराज

स्थानकवासी जैन परम्परा के ५०० वर्षो के इतिहास मे कुछ ही गिने-चुने महापुरुष हुए है जिनका विराट व्यक्तित्व अनन्त-असीम नभोमण्डल की भांति व्यापक और सीमातीत रहा हो। जिनके उपकारो से न सिर्फ स्थानकवासी जैन, न सिर्फ श्वेताम्बर जैन, न सिर्फ जैन किन्तु जैन-अजैन, बालक-वृद्ध, नारी-पुरुष, श्रमण-श्रमणी सभी उपकृत हुए है और सब उस महान् विराट व्यक्तित्व की शीतल छाया से लाभान्वित भी हुए है। ऐसे ही एक आकाशीय व्यक्तित्व का नाम है श्रमणसूर्य प्रवर्तक मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमल जी महाराज।

पता नहीं वे पूर्वजन्म की क्या अखूट पुण्याई लेकर आये थे कि बाल सूर्य की भांति निरन्तर तेज-प्रताप-प्रभाव-यश और सफलता की तेजस्विता, प्रभास्वरता मे बढते ही गये, किन्तु उनके जीवन की कुछ विलक्षणता यही है कि सूर्य मध्यान्ह बाद क्षीण होने लगता है, किन्तु यह श्रमणसूर्य जीवन के मध्यान्होत्तर काल मे अधिक-अधिक दीप्त होता रहा, ज्यो-ज्यो यौवन की नदी बुढापे के सागर की ओर बढती गई त्यो-त्यो उसका प्रवाह तेज होता रहा, उसकी धारा विशाल और विशालतम होती गई, सीमाएँ व्यापक बनती गई, प्रभाव-प्रवाह सौ-सौ धाराएं बनकर गाव-नगर-वन-उपवन सभी को तृप्त-परितृप्त करता गया। यह सूर्य डूबने की अन्तिम घड़ी, अतिम क्षण तक तेज से दीप्त रहा, प्रभाव मे प्रचण्ड रहा और उसकी किरणो का विस्तार अनन्त-असीम गगन के दिक्कोणो के छूता रहा।

जैसे लड्डू का प्रत्येक दाना मीठा होता है, अगूर का प्रत्येक अश मधुर होता है, इसी प्रकार गुरुदेव श्री मिश्रीमल जी महाराज का

जीवन, उनके जीवन का प्रत्येक क्षण, उनकी जीवनधारा का प्रत्येक जलबिन्दु मधुर मधुरतम जीवनदायी रहा। उनके जीवन-सागर की गहराई मे उतरकर गोता लगाने से गुणो की विविध बहुमूल्य मणिया हाथ लगती है तो अनुभव होता है, मानव जीवन का ऐसा कौनसा गुण है जो इस महापुरुष मे नही था। उदारता, सहिष्णुता, दयालुता, प्रभावशीलता, समता, क्षमता, गुणज्ञता, विद्वत्ता, कवित्वशक्ति, प्रवचनशक्ति, अदम्य साहस, अद्भुत नेतृत्व क्षमता, सघ समाज की सरक्षणशीलता, युगचेतना को धर्म का नया बोध देने की कुशलता, न जाने कितने उदात्त गुण उनके व्यक्तित्व सागर मे छिपे थे। उनकी गणना करना असभव नही तो दु सभव अवश्य ही है। महान तार्किक आचार्य सिद्धसेन के शब्दो मे—

कल्पान्तवान्तपयस प्रकटोऽपि यस्मान्
मीयेत केन जलधेर्नन् रत्नराशे

कल्पान्तकाल की पवन से उत्प्रेरित, उचाले खाकर बाहर भूमि पर गिरी समुद्र की असीम अगणित मणिया सामने दीखती जरूर है, किन्तु कोई उनकी गणना नही कर सकता, इसी प्रकार महापुरुषो के गुण भी दीखते हुए गिनती से बाहर होते है।

जीवन रेखाएँ

श्रद्धेय गुरुदेव का जन्म वि० स० १९४८ श्रावण शुक्ला चतुर्दशी को पाली शहर मे हुआ।

पाच वर्ष की आयु मे ही माता का वियोग हो गया। १३ वर्ष की अवस्था मे भयकर बीमारी का आक्रमण हुआ। उस समय श्रद्धेय गुरुदेव श्री मानमलजी म एव स्व गुरुदेव श्री बुधमलजी म ने मगलपाठ सुनाया और चमत्कारिक प्रभाव हुआ, आप शीघ्र ही स्वस्थ हो गये। काल का ग्रास बनते-बनते बच गये।

गुरुदेव के इस अद्भुत प्रभाव को देखकर उनके प्रति हृदय की असीम श्रद्धा उमड आई। उनका शिष्य बनने की तीव्र उत्कठा जग

पडी। इसी बीच गुरुदेवश्री मानमलजी म का वि स १९७४, माघ वदी ७ को जोधपुर मे स्वर्गवास हो गया। वि. स० १९७५ अक्षय तृतीया को पूज्य स्वामी श्री बुधमलजी महाराज के कर-कमलो से आपने दीक्षारत्न प्राप्त किया।

आपकी बुद्धि बडी विचक्षण थी। प्रतिभा और स्मरणशक्ति अद्भुत थी। छोटी उम्र मे ही आगम, थोकडे, सस्कृत, प्राकृत, गणित, ज्योतिष काव्य, छन्द, अलकार, व्याकरण आदि विविध विषयो का अधिकारिक ज्ञान प्राप्त कर लिया। प्रवचनशैली की ओजस्विता और प्रभावकता देखकर लोग आपश्री के प्रति आकृष्ट होते गये और यो सहज ही आपका वर्चस्व, तेजस्व बढता गया।

वि स० १९८५ पौष बदि प्रतिपदा को गुरुदेव श्री बुधमलजी म का स्वर्गवास हो गया। अब तो पूज्य रघुनाथजी महाराज का सप्रदाय का समस्त दायित्व आपश्री के कधो पर आ गिरा। किन्तु आपश्री तो सर्वथा सुयोग्य थे। गुरु से प्राप्त सप्रदाय-परम्परा को सदा विकासोन्मुख और प्रभावनापूर्ण ही बनाते रहे। इस दृष्टि से स्थानागसूत्रवर्णित चार शिष्यो (पुत्रो) मे आपको अभिजात (श्रेष्ठतम) शिष्य ही कहा जायेगा, जो प्राप्त ऋद्धि-वैभव को दिन दूना रात चौगुना बढाता रहता है।

वि स १९९३, लोकाशाह जयन्ती के अवसर पर आपश्री को मरुधर-केसरी पद से विभूषित किया गया। वास्तव मे ही आपकी निर्भीकता और क्रान्तिकारी सिंह गर्जनाएँ इस पद की शोभा के अनुरूप ही थी।

स्थानकवासी जैन समाज की एकता और सगठन के लिए आपश्री के भगीरथ प्रयास श्रमणसघ के इतिहास मे सदा अमर रहेगे। समय-समय पर टूटती कडियाँ जोडना, सघ पर आये सकटो का दूरदर्शिता के साथ निवारण करना, सत-सतियो की आन्तरिक व्यवस्था को सुधारना, भीतर मे उठती मतभेद की कटुता को दूर करना—यह आपश्री की ही क्षमता का नमूना है कि बृहत श्रमणसघ का निर्माण हुआ, बिखरे घटक एक हो गये।

किन्तु यह बात स्पष्ट है कि आपने सगठन और एकता के साथ कभी सौदेबाजी नही की। स्वय सब कुछ होते हुए भी सदा ही पदमोह से दूर रहे। श्रमणसघ का पदवी-रहित नेतृत्व आपश्री ने किया और जब सभी का पद-ग्रहण के लिए आग्रह हुआ तो आपश्री ने उस नेतृत्व चादर को अपने हाथो से आचार्य सम्राट (उस समय उपाचार्य) श्री आनन्दऋषिजी महाराज को ओढा दी। यह है आपश्री की त्याग व निस्पृहता की वृत्ति।

कठोर सत्य सदा कटु होता है। आपश्री प्रारम्भ से ही निर्भीक वक्ता, स्पष्ट चिन्तक और स्पष्टवादी रहे है। सत्य और नियम के साथ आपने कभी समझौता नही किया, भले ही वर्षो से साथ रहे अपने कहलाने वाले साथी भी साथ छोडकर चले गये, पर आपने सदा ही सगठन और सत्य का पक्ष लिया। एकता के लिए आपश्री के अगणित बलिदान श्रमणसघ के गौरव को युग-युग तक बढाते रहेगे।

सगठन के बाद आपश्री की अभिरुचि काव्य, साहित्य, शिक्षा और सेवा के क्षेत्र मे बढती रही है। आपश्री की बहुमुखी प्रतिभा से प्रसूत सैकडो काव्य, हजारो पद छन्द आज सरस्वती के शृ गार वने हुए है। जैन राम यशोरसायन, जैन पाडव यशोरसायन जैसे महाकाव्यो की रचना, हजारो कवित्त, स्तवन की सर्जना आपकी काव्यप्रतिभा के बेजोड उदाहरण हैं। आपश्री की आशुकवि-रत्न की पदवी स्वय मे सार्थक है।

कर्मग्रन्थ (छह भाग) जैसे विशाल गम्भीर ग्रन्थ पर आपश्री के निदेशन मे व्याख्या, विवेचन और प्रकाशन हुआ जो स्वय मे ही एक अनूठा कार्य है। आज जैनदर्शन और कर्मसिद्धान्त के सैकडो अध्येता उनसे लाभ उठा रहे है। आपश्री के सान्निध्य मे ही पचसग्रह (दस भाग) जैसे विशालकाय कर्मसिद्धान्त के अतीव गहन ग्रन्थ का सम्पादन, विवेचन और प्रकाशन प्रारम्भ हुआ है, जो वर्तमान मे आपश्री की अनुपस्थिति मे आपश्री के सुयोग्य शिष्य श्री सुकनमुनि जी के निदेशन मे सम्पन्न हो रहा है।

प्रवचन, जैन उपन्यास आदि की आपश्री की पुस्तकें भी अत्यधिक लोकप्रिय हुई है। लगभग ६-७ हजार पृष्ठ से अधिक परिमाण मे आप श्री का साहित्य आंका जाता है।

शिक्षा क्षत्र मे आपश्री की दूरदर्शिता जैन समाज के लिये वरदान-स्वरूप सिद्ध हुई। जिस प्रकार महामना मालवीय जी ने भारतीय शिक्षा-क्षेत्र मे एक नई क्रान्ति—नया दिशादर्शन देकर कुछ अमर स्थापनाएँ की हैं, स्थानकवासी जैन समाज के शिक्षा क्षेत्र मे आपको भी स्थानकवासी जगत का 'मालवीय' कह सकते है। लोकाशाह गुरुकुल (सादडी) गणावास की शिक्षा सस्थाएँ, जयतारण आदि के छात्रावास तथा अनेक स्थानो पर स्थापित पुस्तकालय, वाचनालय, प्रकाशन सस्थाए शिक्षा और साहित्य-सेवा के क्षेत्र मे आपश्री की अमर कीर्ति गाथा गा रही हैं।

लोक-सेवा के क्षेत्र मे भी मरुधरकेसरी जी महाराज भामाशाह और खेमा देदराणी की शुभ परम्पराओ को जीवित रखे हुए थे। फर्क यही है कि वे स्वय धनपति थे, अपने धन को दान देकर उन्होने राष्ट्र एव समाज सेवा की, आप एक अकिंचन श्रमण थे, अत आपश्री ने धन-पतियो को प्रेरणा कर्तव्य बोध और मार्गदर्शन देकर मरुधरा के गाव-गाव, नगर-नगर मे सेवाभावी सस्थाओ का, सेवात्मक प्रवृत्तियो का व्यापक जाल बिछा दिया।

आपश्री की उदारता की गाथा भी सैकडो व्यक्तियो के मुख से सुनी जा सकती है। किन्ही भी सत, सतियो को किसी वस्तु की, उप-करण आदि की आवश्यकता होती तो आपश्री नि सकोच, बिना किसी भेदभाव के उनको सहयोग प्रदान करते और अनुकूल साधन-सामग्री की व्यवस्था कराते। साथ ही जहाँ भी पधारते वहा कोई रुग्ण, असहाय, अपाहिज, जरूरतमन्द गृहस्थ भी (भले वह किसी वर्ण समाज का हो) आपश्री के चरणो मे पहुच जाता तो आपश्री उसकी दयनीयता से द्रवित हो जाते और तत्काल समाज के समर्थ व्यक्तियो द्वारा उनकी उपयुक्त व्यवस्था करा देते। इसी कारण गाव-गाव मे किसान

कुम्हार, ब्राह्मण, सुनार, माली आदि सभी कौम के व्यक्ति आपश्री को राजा कर्ण का अवतार मानने लग गये और आपश्री के प्रति श्रद्धावनत रहते। यही सच्चे सत की पहचान है, जो किसी भी भेदभाव के बिना मानव मात्र की सेवा मे रुचि रखे, जीव मात्र के प्रति करुणाशील रहे।

इस प्रकार त्याग, सेवा, सगठन, साहित्य आदि विविध क्षेत्रो मे सतत प्रवाहशील उस अजर-अमर यशोधारा मे अवगाहन करने से हमे मरुधरकेसरी जी म० के व्यापक व्यक्तित्व की स्पष्ट अनुभूतिया होती है कि कितना विराट्, उदार, व्यापक और महान था वह व्यक्तित्व !

श्रमणसघ और मरुधरा के उस महान सत की छत्र-छाया की हमे आज बहुत अधिक आवश्यकता थी किन्तु भाग्य की बिडम्बना ही है कि विगत १७ जनवरी १९८४, वि० स० २०४०, पौष शुदि १४, मगलवार को वह दिव्यज्योति अपना प्रकाश विकीर्ण करती हुई इस धराधाम से उठकर अनन्त असीम मे लीन हो गयी थी।

पूज्य मरुधरकेसरी जी के स्वर्गवास का उस दिन का दृश्य, शवयात्रा मे उपस्थित अगणित जनसमुद्र का चित्र आज भी लोगो की स्मृति मे है और शायद शताब्दियो तक इतिहास का कीर्तिमान बनकर रहेगा। जैतारण के इतिहास मे क्या, सभवत राजस्थान के इतिहास मे ही किसी सन्त का महाप्रयाण और उस पर इतना अपार जन-समूह (सभी कौमो और सभी वर्ण के) उपस्थित होना, यह पहला घटना थी। कहते है, लगभग ७५ हजार की अपार जनमेदिनी से सकुल शवयात्रा का वह जलूस लगभग ३ किलोमीटर लम्बा था, जिसमे लगभग २० हजार तो आस-पास व गावो के किसान बन्धु ही थे जो अपने ट्रेक्टरो, बैलगाडियो आदि पर चढकर आये थे। इस प्रकार उस महापुरुष का जीवन जितना व्यापक और विराट रहा उसमे भी अधिक व्यापक और श्रद्धा परिपूर्ण रहा उसका महाप्रयाण !

उस दिव्य पुरुष के श्रीचरणो मे शत-शत वन्दन !

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

उदार अर्थ सहयोगी

धर्मप्रेमी उदारमना

श्रीमान एल सुगनचन्द जी गुगलिया

श्रीमान सुगनचन्द जी जैन (गुगलिया) मारवाड मे कूकडा निवासी है।

आपके पूज्य पिताजी श्री लक्ष्मीचन्द जी जीवराजजी गुगलिया धर्मप्रेमी गुरुभक्त श्रावक थे। पूज्य गुरुदेव श्रमणसूर्य मरुधर केसरी श्री मिश्रीमल जी म० सा० के प्रति आपकी अत्यधिक श्रद्धा भक्ति थी। वे धर्म साधना, जीवदया आदि कार्यो मे सतत जीवन को कृतार्थ करते रहते थे। अपने व्यवसाय के साथ समाज-सेवा मे भी आप पूरा समय तथा सहयोग देते थे।

आपके सुपुत्र श्रीमान सुगनचन्द जी सा० भी पिताश्री की तरह धर्म एव गुरु के प्रति अनन्य भक्ति भाव रखते है। समय समय पर समाज-सेवा, साहित्य प्रचार तथा अन्य विविध सुकृत कार्यो मे आप उदारता पूर्वक लक्ष्मी का सदुपयोग करते रहते है। पूज्य गुरुदेव श्री मरुधर केसरी जी म० के प्रति आपकी प्रगाढ श्रद्धा थी। वतमान मे गुरुदेव श्री के आज्ञानुवर्ती तपस्वी मरुधरारत्न श्री रूपचन्दजी महाराज 'रजत' तथा गुरुदेव श्री के प्रमुख शिष्य मरुधराभूषण श्री सुकन मुनि जी म० आदि के प्रति भी उसी प्रकार श्रद्धाशील है।

पचसग्रह के प्रकाशन मे आपने पूज्य पिताजी लक्ष्मीचन्द जी गुर्गलिया की पुण्य स्मृति स्वरूप उदारता पूर्वक अर्थ सहयोग प्रदान किया है। तदर्थ सस्था आपकी आभारी रहेगी।

मत्री—
आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध सस्थान

उदार सहयोगी

श्री पी० बस्तीमलजी बोरा

(राबर्टसन पेठ K G F)
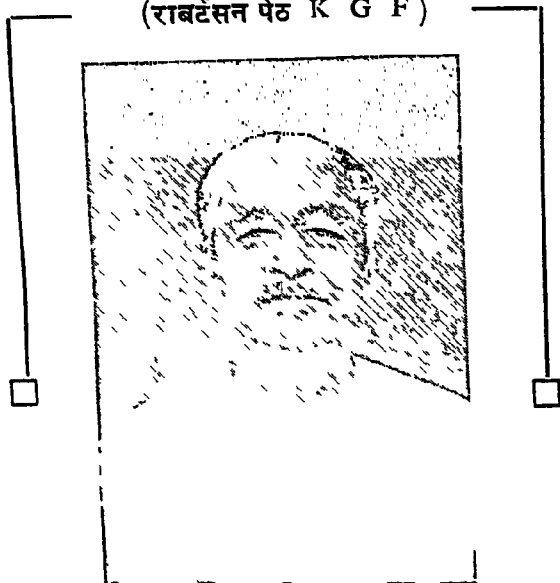
आप जाडण (मारवाड) निवासी श्रीमान पुखराजजी बोरा के सुपुत्र है। प्रारम्भ से ही आप बडे प्रतिभाशाली तथा धर्म के प्रति आस्थाशील रहे है। समाज सेवा, जीव दया, शिक्षा एव ज्ञान प्रचार आदि कार्यो मे आपकी विशेष रुचि है। आप स्वभाव से वहुत ही

विनम्र और मधुर हैं। तथा सदा हँसमुख रहकर सबको साथ लेकर चलते हैं। स्व० गुरुदेव श्रमण सूर्य मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमलजी महाराज के प्रति आपकी व समस्त परिवार की अटूट भक्ति रही है।

आपके भाई श्रीमान मोहनलाल जी, मदनलाल जी एव सोहन लाल जी आदि भी बडे धार्मिक विचारो के उदार हृदय वाले है। आपके सुपुत्र श्रीमान हरकचन्द जी बडे ही उत्साही युवक है। K G F मे आपका जवाहरात का बहुत विशाल व्यवसाय है। श्री मरुधर केसरी गुरु सेवा समिति, सोजत के आप कार्याध्यक्ष हैं।

'पर्युषण पर्व सन्देश' तथा पच सग्रह भाग १ का प्रथम विमोचन गुरुदेव श्री की प्रथम पुण्य तिथि पर जैतारण मे आपके कर-कमलो से सम्पन्न हुआ। विमोचन के उपलक्ष्य मे आपने एक बडी धनराशि साहित्य प्रकाशन खाते मे देने की घोषणा करके साहित्य प्रेम का अनुकरणीय उदाहरण रखा। आपका समस्त परिवार धर्म शासन की सेवा करता हुआ यशस्वी व दीर्घजीवी हो, यही मगल भावना है।

मत्री

आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध सस्थान

जोधपुर ब्यावर

प्राक्कथन

श्रमण भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित जैनदर्शन मे कर्म-विचारणा एक महत्वपूर्ण अग रूप है। स्याद्वाद और अहिंसावाद की व्याख्या और वर्णन जैसा जैन दर्शन ने किया है उतनी ही कुशलता से कर्मवाद का विचार भी किया है। यही कारण है कि जैनदर्शन द्वारा की गई कर्म-विचारणा विश्व के दार्शनिक साहित्य का एक महत्वपूर्ण प्रमुख अग है।

जैनदर्शन मे कर्म-विचारणा को प्रमुखता देने के तीन प्रयोजन है—

१ वैदिक दर्शनो मे ईश्वरविषयक ऐसी कल्पना की गई है कि जगत का उत्पादक ईश्वर ही है, वही अच्छे या बुरे कर्मो का फल जीव से भोगवाता है। कर्म जड होने से ईश्वर की प्रेरणा के बिना अपना फलभोग नही करा सकते है। जीव चाहे कितनी ही उच्चकोटि का हो, परन्तु वह अपना विकास करके ईश्वर नही हो सकता है, जीव जीव ही रहेगा। ईश्वर के अनुग्रह के बिना उसका ससार से निस्तार नही हो सकता है।

किन्तु इस प्रकार के विश्वास मे यह तीन भूले है—१ कृतकृत्य ईश्वर का निष्प्रयोजन सृष्टि मे हस्तक्षेप करना। २ आत्म-स्वातत्र्य का अपलाप कर दिया जाना। ३ कर्म की शक्ति का ज्ञान न होना। ये भूले जैसे वर्तमान मे प्रचलित है, तदनुरूप भगवान महावीर के युग मे भी प्रचलित थी। इसीलिये इन भूलो का परिमार्जन करने और यथार्थ वस्तुस्थिति को बतलाने के लिये भगवान महावीर ने कर्म-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

२ बौद्धदर्शन ने ईश्वरकर्तृत्व का निषेध किया है और कर्म एव उसका विपाक भी माना है। लेकिन बुद्ध ने क्षणिकवाद का प्रतिपादन किया। अर्थात् आत्मा आदि प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है। इस प्रतिपादन का निराकरण करने के लिये भगवान महावीर ने स्पष्ट किया कि यदि आत्मा को क्षणिक मान लिया जाये तो कर्मविपाक की किसी तरह उपपत्ति नही हो सकती है। स्वकृत कर्म का भोग और परकृत कर्म के भोग का अभाव तभी घटित होता है जबकि आत्मा को न तो एकान्त नित्य माना जाये और न एकान्त क्षणिक।

३ भौतिकवाद का प्रचार प्रत्येक युग मे रहा है। भौतिकवादी कृतकर्मभोगी पुनर्जन्मवान किसी स्थायी तत्व को नही मानते हैं। भौतिक तत्वो के सयोग से चेतन की उत्पत्ति होती है। यह दृष्टि बहुत ही सकुचित थी, जिसका कर्म सिद्धान्त के द्वारा निराकरण किया गया।

जैनदर्शन की कर्म-विवेचना का साराश

यद्यपि कुछ वैदिक दर्शनो और बौद्धदर्शन मे भी कर्म की विचारणा है। परन्तु उनके द्वारा ससारी आत्मा की अनुभवसिद्ध भिन्न भिन्न अवस्थाओ का जैसा स्पष्टीकरण होना चाहिये वैसा कुछ भी नही किया गया है। पातजल दर्शन मे कर्म के जाति, आयु और भोग ये तीन तरह के विपाक बताये हैं किन्तु वह वर्णन जैनदर्शन के कर्मविचार के सामने नाममात्र का है।

जनदर्शन ने कर्म विचार का वर्णन अथ से इति तक किया है। सक्षेप मे जिसका रूपक इस प्रकार है—

कर्म अचेतन पौद्गलिक है और आत्मा चेतन, परन्तु आत्मा के साथ कर्म का बध कैसे होता है ? किन-किन कारणो से होता है ? किस कारण से कर्म मे कैसी शक्ति पैदा होती है ? कर्म अधिक से अधिक और कम से कम कितने समय तक आत्मा के साथ सबद्ध रहता है ? आत्मा के साथ सबद्ध कर्म कितने समय तक विपाक देने मे अस-

मर्थ है ? विपाक का नियत समय वदला जा सकता है या नही ? यदि वदला जा सकता है तो उसके लिये कैसे आत्म-परिणाम आवश्यक है ? एक कर्म अन्य कर्मरूप कव वन सकता है ? उसकी बधकालीन तीव्र-मद शक्तिया किस प्रकार वदली जा सकती है ? पीछे से विपाक देने वाला कर्म पहले कव और किस प्रकार भोगा जा सकता है ? कितना भी वलवान कर्म क्यो न हो पर उसका विपाक शुद्ध आत्मिक परिणामो द्वारा कैसे रोक दिया जाता है ? कभी-कभी आत्मा के शतश प्रयत्न करने पर भी कर्म का विपाक बिना भोगे क्यो नही छूटता है ? आत्मा किस तरह कर्म का कर्ता और किस तरह कर्म का भोक्ता है ? सक्लेश रूप परिणाम अपनी आकर्षण शक्ति से आत्मा पर एक प्रकार की सूक्ष्म रज का पटल किस प्रकार डाल देते हैं ? आत्मा अपनी वीर्य शक्ति के द्वारा इस सूक्ष्मरज के पटल को किस प्रकार उठा फेंकता है ? स्वभावत शुद्ध आत्मा भी कर्म के प्रभाव से किस-किस प्रकार मलिन-मा दीखता है ? वाह्य हजारो आवरणो के होने पर भी आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप की अभिव्यक्ति किस प्रकार करता है ? वह अपनी उत्क्राति के समय पूर्ववद्ध तीव्र कर्मो को भी किस प्रकार क्षय कर देता है ? वह अपने वर्तमान परमात्म-भाव को देखने के लिये जिस समय उत्सुक होता है, उस समय उसके और अन्तराय-मूलक कर्म के वीच कैसा वलावल का द्वन्द्व (युद्ध) होता है ? अत मे वीर्यवान आत्मा किस प्रकार के परिणामो से वलवान कर्मो को कम-जोर करके अपने प्रगति मार्ग को निष्कटक वनाता है ? इस शरीरस्थ आत्ममदिर मे वर्तमान परमात्मदेव का साक्षात्कार कराने मे सहायक परिणामो (जिन्हे अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरण कहते हैं) का क्या स्वरूप है ? कर्म, जो कुछ देर के लिये दवे होते है, कभी-कभी गुलाट खाकर प्रगतिशील आत्मा को किस तरह नीचे पटक देते ह ? कौन-कौन कर्म वध और उदय की अपेक्षा आपस मे विरोधी है ? किस कर्म का वध किस अवस्था मे अवश्यभावी और किस अवस्था मे अनियत है। आत्म मवद्ध अतीन्द्रिय कर्म किस प्रकार की आकर्षण शक्ति से

स्थूल पुद्गलो को खीचता है और उनके द्वारा शरीर, मन, सूक्ष्म-शरीर आदि का निर्माण करता है ? इत्यादि ऐसे ही कर्म से सम्बन्धित सख्यातीत प्रश्नो का सयुक्तिक विस्तृत वर्णन जैन कर्म-साहित्य के सिवाय अन्य किसी भी दर्शन के साहित्य मे नही किया गया है। यही जैनदर्शन की कर्मतत्त्व के विषय मे विशेषता है।

कर्म का लक्षण

कर्मतत्त्वविषयक विशेषता का उल्लेख करने पर यह सहज ही जिज्ञासा होती है कि जैनदर्शन मे कर्म का लक्षण क्या है ?

कर्म का सामान्य अर्थ क्रिया होता है। लेकिन यह एक पारिभाषिक शब्द भी है कि राग-द्वेष सयुक्त ससारी जीव मे प्रति समय परिस्पन्दन रूप क्रिया होती रहती है। उसके निमित्त से आत्मा द्वारा एक प्रकार का अचेतन द्रव्य आकर्पित किया जाता है और राग द्वेष का निमित्त पाकर वह आत्मा के साथ बँध जाता है। समय पाकर वह द्रव्य सुख-दुख आदि फल देने लगता है, उसे कर्म कहते हैं।

इस कर्म के दो भेद हैं—भावकर्म और द्रव्यकर्म। जीव के जिन राग-द्वेषरूप भावो का निमित्त पाकर जो अचेतन कर्मद्रव्य आत्मा की ओर आकृष्ट होता है, उन भावो का नाम भावकर्म है और जो अचेतन कर्मद्रव्य आत्मा के साथ सबद्ध होता है उसे द्रव्यकर्म कहते है।

भावकर्म के रूप मे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन पाच को माना है और सक्षिप्त रूप मे इन पाचो को कषाय एव योग के रूप मे ग्रहण कर लिया जाता है। इन दो कारणो को भी अति सक्षेप मे कहा जाये तो एक कषाय मात्र ही कर्मबन्ध की कारण ठहरती है। अध्यात्मवादियो ने राग और द्वेष इन दो को कर्मबध का कारण मानकर भावकर्म के रूप मे माना है। क्योंकि कोई भी मानसिक विचार हो, या तो वह राग (आसक्ति) रूप या द्वेष (घृणा) रूप है। अनुभव से भी यही सिद्ध है। समस्त ससारी जीवो की प्रवृत्ति

चाहे ऊपर से कैसी भी क्यो न दीख पडे परन्तु वह या तो रागमूलक या द्वेपमूलक होती है। ऐसी प्रवृत्ति ही विविध वासनाओ का कारण होती है। प्राणी जान सके या नही पर उसकी वासनात्मक सूक्ष्म दृष्टि का कारण उसके राग और द्वेप ही होते है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि किसी को भी कर्म का कारण क्यो न कहा जाये पर यदि उसमे कर्म की बधकता है तो वह राग-द्वेप के सम्बन्ध से ही है। राग-द्वेप का अभाव होते ही अज्ञानपना आदि कम या नष्ट होते जाते है।

साराश यह कि राग-द्वेप जनित शारीरिक-मानसिक प्रवृत्ति से कर्मबध होता है। वह राग-द्वेपरूप प्रवृत्ति भावकर्म है। इस प्रवृत्ति के द्वारा आत्म-प्रदेशवर्ती जिन कर्मयोग्य पुद्गल परमाणुओ का आकर्पण होकर आत्मा से बध होता है, उन गृहोत पुद्गल परमाणुओ का समूह द्रव्यकर्म कहलाता है।

बध के चार प्रकार

इन द्रव्यकर्मो का क्रमश निम्नलिखित चार बंधभेदो मे वर्गीकरण कर लिया जाता है—

१ प्रकृतिबध, २ प्रदेशबध, ३ अनुभागबध, ४ स्थितिबध।

प्रकृतिबध मे कर्म-परमाणुओ की प्रकृति अर्थात् स्वभाव का विचार किया जाता है। प्रदेशबध मे भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले कर्मो के परमाणुओ की सख्या अर्थात् उनमे से प्रत्येक के कितने कर्म-प्रदेश है एव उनका तुलनात्मक अनुपात क्या है, का कथन होता है। अनुभागबध एव स्थितिबध मे क्रमश कर्मो के फल देने की शक्ति की तीव्रता मदता आदि का निश्चय और कर्मफल के काल—समय—स्थिति का दिग्दर्शन किया जाता है।

इन चार वन्ध-प्रकारो मे से प्रकृति और प्रदेश वन्ध आत्मा की योगरूप परिणति से होते है एव अनुभाग व स्थिति बध कषाय से

होते हैं। यहाँ यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि कषाय के अभा योग परिणति रहने पर भी कर्म आत्मा के साथ सम्बद्ध नही सकते है।

कर्म की विविध अवस्थाएँ

जैन कर्मशास्त्र मे जैसे कर्म के भेद, बध-प्रकार आदि का विस्त से वर्णन किया है उसी प्रकार कम की विविध अवस्थाओ का निर्देश किया है। उनका सम्बन्ध कर्म के बध, उदय, स परिवर्तन आदि से है। मोटे तौर पर निम्नलिखित भेदो मे वर्गीक किया गया है—

१ बधन—आत्मा के साथ कर्म-परमाणुओ का बधना अर्थात् नी क्षीरवत् एकरूप हो जाना बधन कहलाता है। यह बधन चार प्रक का होता है—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बध। इनका सवे पूर्व मे किया जा चुका है।

२ सत्ता—बद्ध कर्म-परमाणुओ का अपनी निर्जरापर्यन्त – क्षय पर्यन्त आत्मा के साथ सम्बद्ध रहने की अवस्था का नाम सत्ता है इस अवस्था मे कर्म अपना फल प्रदान करते और न करते हुए भ विद्यमान रहते है। फल प्रदान न करने रूप काल को अबाधाका कहते है। इस काल मे कर्म के सत्ता मे रहते हुए भी बिपाक-वेदन नह होता है किन्तु विपाक-वेदन होने रूप परिस्थिति का निर्माण होता है

३ उदय– कर्म की फल प्रदान करने की अवस्था को उदय कहत है। उदयप्राप्त कर्म पुद्गल अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार फल देकर नष्ट हो जाते है।

४ उदीरणा—नियत समय से पूर्व कर्म का उदय मे आना उदीरणा कहलाता है। जिस प्रकार प्रयत्न द्वारा नियत समय से पहले फल पकाये जा सकते है, उसी प्रकार प्रयत्नपूर्वक नियत समय से पहले वद्ध कर्मो को भोगा जा सकता है।

सामान्यतया जिस कर्म का उदय प्रवर्तमान रहता है, उसके सजातीय कर्म की उदीरणा होती है।

५ उद्वर्तना—बद्ध कर्मो का स्थिति और अनुभाग—इसका निश्चय बध के साथ विद्यमान कषाय की तीव्रता और मन्दता के अनुसार होता है। उसके बाद की स्थितिविशेष अथवा भावविशेष—अध्यवसायविशेष के कारण उस स्थिति के अनुभाग मे वृद्धि हो जाना उद्वर्तना कहलाता है।

६ अपवर्तना—यह अवस्था उद्वर्तना के विपरीत है। बद्ध कर्मो की स्थिति तथा अनुभाग मे अध्यवसायविशेष से कमी कर देने का नाम अपवर्तना है।

७ सक्रमण—एक प्रकार के कर्म परमाणुओ की स्थिति आदि का दूसरे प्रकार के परमाणुओ की स्थिति आदि मे परिवर्तन अथवा परिणमन होना सक्रमण कहलाता है।

यह सक्रमण किसी एक मूलप्रकृति की उत्तरप्रकृतियो मे होता है, विभिन्न मूलप्रकृतियो मे परस्पर सक्रमण नही होता है। सक्रमण सजातीय उत्तरप्रकृतियो मे ही माना गया है, विजातीय प्रकृतियो मे नही होता है। सजातीय प्रकृतियो के सक्रमण मे भी कुछ अपवाद हैं, जैसे कि आयुकर्म के चारो भेदो मे परस्पर सक्रमण नही होता है और न दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय मे।

८. उपशमन—कर्म की जिस अवस्था मे उदय अथवा उदीरणा सम्भव नही होती, उसे उपशमन कहते है। इस अवस्था मे भी उद्वर्तन-अपवर्तन और सक्रमण की सम्भावना है। उपशमन अवस्था मे रहा हुआ कर्म उस अवस्था के समाप्त होते ही उदय मे आकर फल प्रदान करने रूप अपना कार्य प्रारम्भ कर देता है।

९ निधत्ति—कर्म की उदीरणा और सक्रमण के सर्वथा अभाव की स्थिति को निधत्ति कहते है। इस स्थिति मे उद्वर्तना और अपवर्तना की सम्भावना रहती है।

१० निकाचना—उद्वर्तना, अपवर्तना, सक्रमण और उदीरणा इन चार अवस्थाओ के न होने की स्थिति का नाम निकाचना है। इस अवस्था का अर्थ है कि कर्म का जिस रूप मे बध हुआ है उसी रूप मे उसे अनिवार्यत भोगना। किसी-किसी कर्म प्रकृति की यह अवस्था भी होती है।

अन्य-अन्य दार्शनिक परम्पराओ मे उदय के लिए प्रारब्ध, सत्ता के लिये सचित, बधन के लिये क्रियमाण, निकाचन के लिये नियत-विपाकी, सक्रमण के लिये आवापगमन, उपशमन के लिये तनु आदि शब्दो का प्रयोग मिलता है।

अवस्थाओ के विषय मे विशेष

उक्त दस अवस्थाओ मे से उदय और सत्ता यह दो कर्म-सापेक्ष है। इनमे आत्मशक्ति का प्रयत्न कार्यकारी नही होता है और शेष अवस्थाये आत्मसापेक्ष है। अर्थात् आत्मा की वीर्यशक्ति के द्वारा बधन आदि आठ अवस्थाएँ होती है। इसलिए आत्म-परिणामो का बोध कराने के लिये 'करण' शब्द जोडकर 'बधनकरण' आदि का और कर्म की अवस्था बताने के लिये सिर्फ 'बधन, सक्रमण' आदि का प्रयोग होता है।

यह तो पूर्व मे सकेत किया जा चुका है कि सामान्य ससारी जीव को प्रति समय कर्मबध होता रहता है। परन्तु इतना होने पर भी प्रति समय प्रत्येक कर्म एक समान रीति से नही बधता है परन्तु अनेक रीति से बधता है तथा जो कर्म जिस रूप मे बँधा हो, वह कर्म उसी प्रकार से उदय मे आये और फल दे ऐसा भी नही है। कितनी ही बार कितने ही कर्म जिस रूप मे वधे हो उसी रूप मे नियत समय पर उदय मे आते हैं और अपना विपाक वेदन कराते है। परन्तु ऐसा भी होता है कि कितने ही कर्म बधसमय मे जिस रूप मे बधे हो, उससे अन्य रूप मे फल देते हैं, निश्चित समय की अपेक्षा आगे-पीछे अथवा अधिक काल तक फल देते हैं एव ऐसा भी होता है कि कितने ही कर्म फल दिये विना क्षय हो जाते है।

इस प्रकार कर्मों मे वध के समय और वध होने के अनन्तर अध्य-वसायो द्वारा कैसी स्थिति वनती है यह आठ करणो का स्वरूप सम-झने से भली भाँति जान सकते है।

वधकाल मे अध्यवसायो द्वारा आत्मा कर्मवध तीन प्रकार से करता है—

१ सामान्य वधनकरण के अध्यवसायो से वधे हुए कर्म पर अमुक काल के वाद सक्रमण आदि सात करणो मे से यदि किसी भी करण का असर न हो तो उसमे किसी भी प्रकार का फेरफार नही होता है। अर्थात् वध के समय जितने काल, जिस रीति से जितना फल देने रूप स्वभाव नियत हुआ है उसी प्रकार मे उदय मे आता है और यदि किसी करण का असर हो जाये तो उसमे फेरफार हो जाता है अथवा वे प्रकृतियाँ अन्यथा रूप मे फल देने वाली वन जाती है।

२ निद्धत्त प्रकार के अध्यवसायो द्वारा जो कर्म जिस रूप मे वधा हो, उसी रूप मे भोगना पडता है। मात्र ऐसे अध्यवसायो से बँधे कर्म की स्थिति और रस मे वृद्धि या हानि हो सकती है। ऐसे वध को निद्धत्तवध कहते है।

३ जिसके फल-भोग मे किसी प्रकार का परिवर्तन न हो सके ऐसे वध को निकाचित वध कहते है। इस प्रकार के कर्मवध मे कोई भी करण लागू नही होने से किसी भी प्रकार का फेरफार नही होता है।

निद्धत्त अध्यवसायो द्वारा वधे हुए कर्म मे स्थिति और रस मे वृद्धि करने वाले उद्वर्तना और घटाने वाले अपवर्तना यह दो करण प्रवर्तित हो सकते हैं, अन्य कोई करण लागू नही होते है। निकाचना मे तो उद्वर्तना और अपवर्तना यह दो करण भी कार्यकारी नही होते है। निकाचन अध्यवसाय द्वारा वध समय मे जितनी स्थिति और जितने रस वाला एव निश्चित फल देने आदि स्वरूप वाला जो कर्म वधा हो उस वध के वाद और पहले वधन या निधत्ति करण मे वधे हुए होने पर भी वाद मे उसमे तीव्र अध्यवसाय रूप निकाचना करण

लगकर वह कर्म निकाचित हो जाये तो उसमे किसी भी प्रकार का परिवर्तन नही हो सकता है परन्तु जिस स्वरूप मे निकाचित बध हुआ हो या बाद मे निकाचित हुआ हो उसी रूप मे भोगने के बाद ही वह कर्म क्षय को प्राप्त होता है ।

यद्यपि पहले से ही निकाचित बधे हुए अथवा बाद मे निकाचित हुए कर्म मे भी आठ करण मे से किसी भी करण द्वारा किसी भी प्रकार का फेरफार नही होता है किन्तु जो कर्म जिस रीति से निकाचित हुआ हो, वह कर्म उस रीति से ही भोगना पडता है, यह शास्त्रीय कथन है, लेकिन श्रेणिगत् अध्यवसायो के द्वारा अर्थात् उस प्रकार के शुक्लध्यान या धर्मध्यान द्वारा निकाचित कर्म भी बिना भोगे क्षय हो जाते है ऐसा शास्त्र मे अपवाद रूप विशिष्ट सिद्धान्त है। जिससे कभी भी निद्धत्त या निकाचित हुए जो कोई कम सत्ता मे होते है वे अपने अपूर्वकरण तक अथवा अपूर्वकरण नामक आठवे गुणस्थान तक निद्धत्त और निकाचित रूप मे सत्ता मे होते है, परन्तु अपने अनिवृत्तिकरण से अथवा अनिवृत्तिकरण नामक नौवे गुणस्थान के प्रथम समय से किसी भी कर्म का कोई भी भाग निद्धत्त या निकाचित रूप मे होता ही नही है। तात्पर्य यह है कि आयु के बिना सत्तागत सर्वकर्म भोगे बिना भी क्षय हो, वैसे हो जाते हैं ।

सक्रमण आदि उपशमना पर्यन्त पाँच करणो का आशय सुगम होने से उनके लिये विशेष सकेत की आवश्यकता नही रह जाती है ।

द्रव्यकर्म की अपेक्षा बंध, उदय और सत्ता यह तीन अवस्थायें मुख्य है जिनका वधविधि नामक पाचवें अधिकार मे विस्तार से वर्णन किया जा चुका है और भावकर्म की दृष्टि से बन्धनकरण आदि आठ करण मुख्य है जिनका छठे, सातवे, आठवे और नौवे इन चार भागो मे विवेचन किया गया है। इस छठे भाग मे बन्धनकरण का निरूपण किया गया है। विषय परिचय के रूप मे जिसकी सक्षिप्त रूपरेखा यहाँ प्रस्तुत करते हैं ।

बन्धनकरण विषय परिचय

अधिकार के प्रारम्भ मे मगलाचरणपूवक कर्मप्रकृति विभाग के प्रतिपाद्य बधन आदि आठ करणो की व्याख्या करने का निर्देश किया है और फिर बधन आदि आठ करणो के नाम और उनके लक्षण बतलाये हे।

यथाक्रम वर्णन करने के न्यायानुसार प्रथम बधनकरण का सविस्तार विवेचन करने के लिए ससारी जीव के कर्मबध की कारण-रूप वीर्य शक्ति जो योग के नाम से भी कहलाती है, की लाक्षणिक व्याख्या की है और अपर पर्यायवाची नामो का उल्लेख किया है।

तदनन्तर योगसज्ञक वीर्य शक्ति की विस्तार से विचारणा करने के लिये अविभाग, वर्गणा, स्पर्धक, अन्तर, स्थान, अनन्तरोपनिधा, परपरोपनिधा, वृद्धि (हानि), काल और जीवाल्पबहुत्व इन दस प्ररूपणा अधिकारो के नामनिर्देशपूर्वक इनकी यथायोग्य आवश्यक विवेचना की हे। जो गाथा ५ से लेकर १२ तक आठ गाथाओ मे पूर्ण हुई है और आगे की तेरहवी गाथा मे योग द्वारा होने वाले कार्य का उल्लेख किया है कि जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट योग शक्ति के माध्यम से ससारी जीव तदनुरूप कर्मस्कन्धो को ग्रहण करते है और औदारिकादि शरीर रूप मे परिणमित करते है एव भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन के योग्य पुद्गलो का अवलबन लेते है।

ससारी जीव पुद्गल स्कन्धो को ग्रहण आदि करते है। अतएव फिर यह स्पष्ट किया है कि कौन से पुद्गल ग्रहण योग्य है और कौन से अयोग्य है ? इसकी विस्तृत विवेचना करने के लिए चौदह पन्द्रह सोलह इन तीन गाथाओ द्वारा पुद्गल वर्गणाओ का निरूपण किया है कि ये पौद्गलिक वर्गणाये अनेक है। जिनमे से औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तजस, भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन और कार्मण ये आठ वर्गणाये जीव द्वारा ग्रहणयोग्य है तथा ये आठो अग्रहण वर्गणाओ से

अन्तरित है। इनके अतिरिक्त शेष वर्गणायें न तो ससारी जीव द्वारा ग्राह्य है और न कभी ग्रहणयोग्य बनती है।

गाथा सत्रह मे वर्गणागत परमाणुओ का सख्या प्रमाण बतलाकर अठारहवी गाथा मे वर्गणाओ के वर्णादि का निरूपण किया है।

यह सब वर्णन करने के बाद पुद्गलो के परस्पर बध के कारण-रूप स्नेह गुण का विवेचन स्नेहप्रत्ययस्पर्धक, नामप्रत्ययस्पर्धक और प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक इन तीन प्रकार की प्ररूपणाओ द्वारा किया है।

नामप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा अविभाग, वर्गणा, स्पर्धक, अन्तर, वर्गणागत पुद्गलो के स्नेहाविभाग के समस्त समुदाय, स्थान, कंडक और षट्स्थान इन आठ अनुयोगद्वारो द्वारा की है एव प्रयोगप्रत्यय स्पर्धक प्ररूपणा के भी आठ अनुयोग द्वार इस प्रकार हैं—अविभाग, वर्गणा, स्पर्धक, अन्तर, स्थान, कडक, षट्स्थान और वर्गणागत स्नेहाविभाग सकल समुदाय प्ररूपणा । इन दोनो प्ररूपणाओ का वर्णन गाथा २५ से प्रारम्भ करके गाथा ३७ तक पूर्ण हुआ है। अन्त मे तीनो स्पर्धक प्ररूपणाओ के वर्गणागत स्नेहाविभाग का गाथा ३८ मे अल्पबहुत्व बतलाया है।

तदनन्तर बधनकरण की सामर्थ्य से बधने वाली मूल और उत्तर प्रकृतियो के विभाग होने के कारण को स्पष्ट करने के बाद प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन चार प्रकार के बधो के लक्षण बतलाये है।

प्रदेशबध का वर्णन करते हुए सर्वप्रथम प्रकृतियो मे दलिक विभाग विधि का निरूपण किया है एव उत्कृष्ट और जघन्य पद मे प्रदेशो का अल्प-बहुत्व वतलाया है तथा प्रदेशबधविषयक शेष वर्णन बधविधि नामक पाचवे अधिकार मे किये जाने से यहाँ पुनरावृत्ति न करने का सकेत किया है।

अनन्तर अनुभागबध का विस्तार से वर्णन करने के लिये निम्न-लिखित पन्द्रह अधिकारो का नामोल्लेख किया है—

अध्यवसाय, अविभाग, वर्गणा, स्पर्धक, अन्तर, स्थान, कडक, षट्स्थान, अधस्तनस्थान, वृद्धि, समय, यवमध्य, ओजोयुग्म, पर्यावसन

और अल्पबहुत्व प्ररूपणा। यथाक्रम से गाथा ४४ से प्रत्येक प्ररूपणा का आशय स्पष्ट करना प्रारम्भ किया जिसकी समाप्ति गाथा ६० मे हुई है।

तत्पश्चात् अनुभागबधस्थानो के बधक जीवो की प्ररूपणा एक स्थान प्रमाण, अन्तरस्थान, निरन्तरस्थान, कालप्रमाण, वृद्धि, यवमध्य, स्पर्शना, और अल्पबहुत्व इन आठ द्वारो के माध्यम से की है। यह निरूपण गाथा ६२ मे लेकर गाथा ७० तक मे पूर्ण हुआ है।

तदनन्तर स्थिति एव रस बध के निमित्तभूत अध्यवसायो का वर्णन करके उन्हे शुभ और अशुभ प्रकृतियो मे घटित किया है। इसी प्रसग मे रसबधाध्यवसायस्थानो की तीव्रता का स्पष्ट ज्ञान कराने के लिये अनुभागबध मे हेतुभूत अध्यवसायो की अनुकृष्टि किस स्थिति-स्थान से प्रारम्भ की जाती है, का कथन किया है।

अनुकृष्टि के विचार का नियम सूत्र बतलाकर अपरावर्तमान अशुभ शुभ, परावर्तमान शुभ अशुभ, इन चार वर्गो मे प्रकृतियो का वर्गीकरण करके प्रत्येक वर्गगत प्रकृतियो के नाम गिनाये हैं। फिर इन्ही चारो वर्गगत प्रकृतियो की अनुकृष्टि का निरूपण किया एव जिन प्रकृतियो के विषय मे विशेष उल्लेखनीय है, उन तिर्यचद्विक और नीचगोत्र तथा त्रसचतुष्क इन सात प्रकृतियो की अनुकृष्टि का वर्णन पृथक से किया है।

अनुकृष्टि का विवेचन करने के पश्चात् गाथा ९२ से ९८ तक मे पूर्वोक्त चार वर्गों मे वर्गीकृत एव तिर्यंचद्विक, नीचगोत्र, त्रसचतुष्क की अनुभागबध सम्बन्धी तीव्रता-मदता का निरूपण किया है और इसके साथ ही अनुभागबध सम्बन्धी वर्णन भी समाप्त हो जाता है।

तदनन्तर स्थितिबध का प्रारम्भ किया है। जिसकी प्ररूपणा के निम्नलिखित चार अधिकार बताये है—

स्थितिस्थान प्ररूपणा, निषेक प्ररूपणा, अबाधा कडक प्ररूपणा और अल्पबहुत्व प्ररूपणा। इनमे से स्थितिस्थान प्ररूपणा, निषेक प्ररूपणा

और अबाधा कंडक प्ररूपणा का विस्तार से बधविधि अधिकार मे वर्णन हो जाने से पुनरावृत्ति न करके यहा जीवापेक्षा स्थितिबध के अल्प-बहुत्व का निर्देश किया है कि किस जीव को किससे अल्पाधिक स्थिति-बध होता है। तदनन्तर अल्प बहुत्व प्ररूपणा के प्रसग मे आठो कर्म प्रकृतियो की बधक जीवो की अपेक्षा जघन्य अबाधा से लेकर उत्कृष्ट स्थिति तक के अल्प-बहुत्व का निरूपण किया है।

तत्पश्चात् स्थितिबध के हेतुभूत अध्यवसायस्थानो का स्थिति समुदाहार, प्रकृति समुदाहार और जीव समुदाहार इन तीन द्वारो के माध्यम से निरूपण किया है। स्थिति समुदाहार की प्ररूपणा प्रगणना, अनुकृष्टि और तीव्र-मदता द्वारा, प्रकृति समुदाहार की प्ररूपणा प्रमाणानुगम और अल्पबहुत्व इन दो अधिकारो द्वारा की है। जीव समुदाहार के वर्णन के प्रसग मे किन प्रकृतियो का कितने स्थानक रस बध होने का कारण सहित स्पष्टीकरण किया है एव अल्प-बहुत्व बतलाया है।

यह बधनक[illegible]ण सम्बन्धी समस्त वर्णन की परिचयात्मक रूपरेखा है, जो कुल एक सौ बारह गाथाओ मे पूर्ण हुई है। इस वर्णन सम्बन्धी विशेष स्पष्टीकरण एव आवश्यक प्रारूप परिशिष्ट मे दिये है। जिससे पाठको को अधिकार का सुगमता से बोध हो सके।

विपय परिचय के रूप मे पूर्वोक्त उल्लेख पर्याप्त है। अत विस्तार से विवेचन करने का दायित्व सुधी पाठको को देकर विराम लेता हूँ।

खजाची मोहल्ला
बीकानेर (राज) ३३४००१

देवकुमार जैन
सपादक

विषय अनुक्रम

परिशिष्ट

□□

श्रीमदाचार्य चन्द्रर्षिमहत्तर-विरचित

पंचसंग्रह

[मूल, शब्दार्थ तथा विवेचनयुक्त]

बंधनकरण
प्ररूपणा अधिकार

६

६ : बंधनकरण-प्ररूपणा अधिकार

योगोपयोग मार्गणा आदि पाँच अधिकारो का विवेचन करने के पश्चात् अव तत्सम्वन्धित कर्म प्रकृति विभाग को प्रस्तुत करते है। इस विभाग मे बधन आदि आठ करणो (आत्मिक परिणाम विशेषो) का विशद् निरूपण किया जायेगा।

कर्म के स्वरूप को समझ लेने मात्र से ही कर्म सिद्धान्त का सर्वांगीण ज्ञान नही हो जाता है, किन्तु उसके साथ यह जानना भी आवश्यक है कि जीव और कर्म का सयोग किस कारण से होता है ? कर्म के दलिक किस तरह बधते और उदय मे आते है ? किन कारणो से कर्मो का बध दृढ और शिथिल होता है ? आत्मा की आतरिक शुभाशुभ भावना एव देह जनित बाह्य शुभाशुभ क्रिया का कर्म-बधादि के विषय मे क्या कैसा योगदान है ? शुभाशुभ कर्म और उनके रस की तीव्रता-मदता के कारण आत्मा कैसी सम-विषम दशाओ का अनुभव करती है आदि। एतद् विषयक प्रत्येक प्रश्न का समाधान बधन आदि आठ करणो के स्वरूप को समझने पर हो सकता है।

जीव के साथ कर्म का बध अनादिकाल से होता आ रहा है और जब तक जीव ससारस्थ है, तब तक होता रहता है। लेकिन विशुद्धि के परम प्रकर्ष को प्राप्त ससारस्थ जीव के जो बध होता है उसे असापरायिक अर्थात् योगमात्र से होने वाला बध कहते है। जैसे सूखे कपडे अथवा दीवाल पर वायु से उडकर आये रजकण तत्काल छूट जाते है उसी प्रकार मात्र योग द्वारा बाधा गया कर्म भी दूसरे समय में भोगा जाकर छूट जाता है। असापरायिक बध ससार का कारण न होने से कर्मबध के प्रसग मे प्राय उसकी विवक्षा नही की

जाती है किन्तु ससार के कारणभूत सापरायिक बध को ही बध के रूप मे गिना जाता है। बधनकरण में मुख्य रूप से इसी का विचार किया है।

ग्रथकार आचार्य कर्मप्रकृतिविभाग को प्रारभ करने की आदि मे महापुरुषो को नमस्कार करके पूर्व विभाग के साथ वक्ष्यमाण का सबध प्रतिपादित करते हुए कहते है —

नमिऊण सुयहराण बोच्छ करणाणि बंधणाईणि।
सकमकरण बहुसो अइदेसियं उदय सते ज ॥१॥

शब्दार्थ—नमिऊण—नमस्कार करके, सुयहराण—श्रुतधरो को, बोच्छ—कहूँगा, करणाणि—करणो को, बन्धणाईणि—बधनादि, सकमकरण—सक्रम करण का, बहुसो—प्राय बहुलता से, अइदेसिय—अतिदेश किया है, उदय—उदय मे, सते—सत्ता मे, ज—क्योकि।

गाथार्थ—श्रुतधरो को नमस्कार करके मैं बधनादि करणो के स्वरूप को कहूँगा। क्योकि उदय, सत्ता के विचार प्रसग में प्राय अनेक वार सक्रम करण का अतिदेश-उल्लेख किया है।

विवेचन—ग्रथकार आचार्य ने गाथा मे मगलाचरण के रूप में श्रुतधरो को नमस्कार करते हुए बधनादि आठ करणो की व्याख्या करने के कारण को बताया है।

सामान्य से तो 'नमिऊण सुयहराण' पद मगलाचरणात्मक है कि सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवन्तो, चतुर्दश पूर्वधारी श्रुतकेवलियो को नमस्कार हो, लेकिन विशेप रूप में यह स्पष्ट किया है कि ग्रन्थ के वर्ण्य विपय के लिए श्रुतधरो की वाणी प्रमाणभूत है। मुमुक्षुजनो को उसी वाणी का वोध कराने के लिये मैं तत्पर हुआ हूँ।

यद्यपि श्रुतधरो ने तो अनेक विपयो का वर्णन किया है। लेकिन उन सभी का वर्णन तो एक साथ नही किया जा सकता है और न यह सम्भव भी है। अत ग्रथकार आचार्य ने अपने ग्रथ के अभिधेय

की सीमा का निर्देश करते हुए कहा है—'वोच्छ करणाणि वधणाईणि'—वधन आदि करणो की व्याख्या करू गा और वधन आदि करणो की व्याख्या इसलिये करू गा कि 'सक्रमकरण वहुसो अइदेसिय उदय सत' कर्मों की उदय एव सत्ता अवस्थाओ का वर्णन करने के प्रसग मे वारवार सक्रम करण का उल्लेख है, इसलिये सक्रम का स्वरूप वताना आवश्यक है तथा सक्रम तभी सम्भव है जव कर्मों का आत्मा के साथ वध हो। अतएव वध और उसके साहचर्य से तत्सदृश अन्य सक्रम आदि करणो की व्याख्या करने का निश्चय किया है।

पूर्वोक्त प्रकार से गाथोक्त आशय को स्पष्ट करने के पश्चात् उद्देश्यानुरूप निर्देश करने के न्यायानुसार अव करणो के नामो और उनके लक्षणो का कथन करते है।

करणो के नाम व उनके लक्षण—

आत्मा के परिणामविशेप अथवा वीर्यविशेप को करण कहते है। वे करण आठ है। जिनके नाम इस प्रकार है—

१ वधन, २ सक्रमण, ३ उद्वर्तना ४ अपवर्तना, ५ उदीरणा, ६ उपशमना, ७, निधत्ति, ८ निकाचना।

१. बंधनकरण—जिस वीर्यविशेप से ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार के कर्मों का वध होता है, उसे वधनकरण कहते है।

२. सक्रमणकरण—जिस वीर्यव्यापार द्वारा अन्य कर्म रूप मे रहे हुए प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश अन्य कर्म के रूप मे वदल जाते है। कर्म से कर्मान्तर मे परिर्वातत हो जाते है, वह सक्रमण कहलाता है।

३-४. उद्वर्तना-अपवर्तनाकरण—यद्यपि ये दोनो भी अन्य कर्म का कर्मान्तर मे परिवर्तन कराने मे कारण होने से सक्रमण के ही भेद है, लेकिन सक्रमणकरण से इनको पृथक् मानने का कारण यह है कि दोनो का विपय स्थिति और रस है। अतएव जिस प्रयत्न द्वारा

स्थिति और रस वृद्धिगत हो, उसे उद्वर्तनाकरण और जिस वीर्य-व्यापार द्वारा स्थिति एव रस का ह्रास उसे अपवर्तनाकरण कहते है।

५ **उदीरणाकरण**— जो कर्म दलिक उदय प्राप्त नही है अर्थात् जो कर्मदलिक अपने-अपने विपाक का वेदन कराने, फल देने की ओर उन्मुख नही हुए है, उन कर्म दलिको का जिस प्रयत्न द्वारा उदयावलिका मे प्रवेश कराके फलोन्मुख किया जाता है, उसे उदीरणा-करण कहते हैं।

६ **उपशमनाकरण**—जिस वीर्यव्यापार के द्वारा कर्मो को उपशमित किया जाता है, शान्त किया जाता है अर्थात् उदय, उदीरणा, निधत्त एव निकाचना करणो के अयोग्य किया जाता है, वह उपशमना-करण कहलाता है।

७ **निधत्तिकरण**—जिस प्रयत्न—वीर्यव्यापार द्वारा कर्म दलिको को उद्वर्तना, अपवर्तना के अतिरिक्त शेष करणो के अयोग्य स्थिति मे स्थापित किया जाता है, अर्थात् कर्मो को ऐसी स्थिति मे स्थापित कर दिया जाये कि उक्त दो करणो के अलावा अन्य करण प्रवर्तित न हो, उसे निधत्तिकरण कहते हैं।

८ **निकाचनाकरण**—जिस प्रयत्न द्वारा कर्मो को ऐसी स्थिति मे स्थापित कर दिया जाये कि जिसमे अन्य कोई भी करण प्रवर्तित न हो सके। कर्म का वध जिस रूप मे हुआ है, उसके फल को उसी रूप मे अवश्य भोगा जाये, कर्म उसी रूप मे अपना विपाक वेदन कराये, उसे निकाचनाकरण कहते है।

इस प्रकार मे करणो के नाम एव उनके लक्षणो को वतलाने के वाद करण वीर्यविशेप रूप होने से ग्रन्थकार अव वीर्य के स्वरूप का प्रतिपादन करते है।

आवरणदेससव्वक्खयेण दुहेह वीरिय होइ।
अभिसधिय अणभिसधिय अकसाय सलेसि उभयपि ॥२॥

होइ कसाइवि पढम इयरमलेसीवि ज सलेस तु ।
गहण परिणामफदणरूव त जोगओ तिविह ॥३॥

शब्दार्थ—आवरण—अन्तरायकर्म, देससव्वक्खयेण—देशत (एक देश से) और सर्वत (पूर्ण रूप से) क्षय होने से, दुहेह—यहाँ दो प्रकार का, वीरिय—वीर्य, होई—होता है, अभिसधि—अभिसधिज, अणभिसधिय—अनभिसधिज, अकसायसलेसि—अकषायी और सलेश्य, उभयपि—उभय (दोनो) (छाद्मस्थिक और कैवलिक) भी ।

होइ—होता है, कसाइवि—कषायी भी, पढम—पहला (छाद्मस्थिक), इयरमलेसीवि—इतर (कैवलिक वीर्य) अलेश्य भी, ज—जो, सलेस—सलेश्य, तु—और, गहणपरिणामफदणरूव—ग्रहण, परिणमन और स्पन्दन रूप, त—वह, जोगओ—योग से, तिविह—तीन प्रकार का ।

गाथार्थ—अन्तरायकर्म (वीर्यान्तरायकर्म) के देश क्षय और सर्वक्षय से वीर्य के दो प्रकार है, और उन दोनो के भी अभिसधिज और अनभिसधिज ऐसे दो भेद होते है तथा उभय छाद्मस्थिक और कैवलिक ये दोनो अकषायी और सलेश्य होते है तथा पहला (छाद्मस्थिक) वीर्य कषायी भी है और इतर कैवलिक वीर्य अलेश्य भी है । सलेश्य वीर्य ग्रहण, परिणमन और स्पन्दन रूप है और योग से तीन प्रकार का है ।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओ मे वीर्य के स्वरूप की विस्तृत व्याख्या की है ।

सर्वप्रथम वीर्य के प्रादुर्भाव होने के कारणो को स्पष्ट करते हुए कहा है—वीर्यान्तराय कर्म के देश—आशिक एव सर्व—सपूर्ण क्षय से जन्य होने के कारण वीर्य के दो प्रकार है—देशक्षयज और सर्वक्षयज-'आवरण देससव्वक्खयेण दुहेह वीरिय होइ ।' वीर्यान्तराय कर्म के देशक्षय से उत्पन्न वीर्य छद्मस्थो को एव सम्पूर्ण क्षय से उत्पन्न वीर्य केवली भगवन्तो के होना है ।

जिनको क्रमश छाद्मस्थिक और कैवलिक वीर्य कहते हैं। तथा इन दोनो के भी 'अभिसधिय अणभिसधिय'—अभिसधिज और अनभिसधिज इस तरह दो-दो प्रकार है। उनके लक्षण इस प्रकार है—

अभिसधिज—बुद्धिपूर्वक—विचारपूर्वक चलने दौडने, कूदने आदि क्रियाओ मे प्रवर्तमान वीर्य को अभिसधिज वीर्य कहते है।

अनभिसधिज—भुक्त आहार का सहजरूप से सप्त धातु, मलादि रूप से रूपान्तरित होने एव मनोलब्धि रहित एकेन्द्रिय आदि जीवो की आहार ग्रहण आदि क्रियाओ मे जो प्रवर्तित होता है वह अनभिसधिज वीर्य कहलाता है।

छाद्मस्थिक और कैवलिक यह दोनो प्रकार का वीर्य अकषायी और सलेश्य होता है। छद्मस्थ सम्बन्धी अकषायी सलेश्य वीर्य उपशान्तमोह और क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती जीवो के और कैवलिक—केवलज्ञानी सम्बन्धी अकषायी सलेश्य वीर्य सयोगिकेवलीगुणस्थानवर्ती जीवो के पाया जाता है।

छाद्मस्थिक वीर्य सकषायी और अकषायी इस प्रकार दो तरह का है। छद्मस्थ जीव दो प्रकार के है—सकषायी और अकषायी। दसवे गुणस्थान तक कषायो का उदय रहने से आदि के दस गुणस्थानवर्ती जीव सकषायी और उससे ऊपर ग्यारहवे बारहवे गुणस्थान मे कषायो का उदय न होने से अकषायी कहलाते है। इनको छद्मस्थ कहने का कारण यह है कि मोहनीय के अतिरिक्त शेष ज्ञानावरणादि कर्मो का उदय है।

सकषायी छाद्मस्थिक वीर्य दसवे सूक्ष्मसपरायगुणस्थान तक के सभी ससारी जीवो के होता है और अकषायी वीर्य के लिये ऊपर कहा जा चुका है कि वह ग्यारहवें और बारहवे गुणस्थानवर्ती जीवो मे पाया जाता है तथा जो अलेश्य कैवलिक वीर्य है। वह अलेश्य

कैवलिक वीर्य अयोगिकेवली गुणस्थानवर्ती जीवो एव सिद्ध भगवतो के होता है।

उक्त समग्र कथन का साराश यह है—

ज्ञानादि गुणो की तरह वीर्य भी जीव का स्वभाव है। अतएव यह सभी जीवो—ससारी, सिद्ध, सकर्मा, अकर्मा जीवो मे समान रूप से पाया जाता है। ऐसा कोई भी जीव नही है जो वीर्य-शक्ति से विहीन हो। जीव दो प्रकार के है—सलेश्य और अलेश्य। लेश्यारहित जीवो मे प्राप्त वीर्यशक्ति समस्त कर्मावरण के क्षय हो जाने से क्षायिक है और नि शेष रूप से कर्मक्षय जन्य होने के कारण कर्म बध का कारण नही है। इसीलिए अलेश्य जीवो का न कोई भेद है और न उनकी वीर्यशक्ति मे तरतमता रूप अतर है, किन्तु सलेश्य जीवो की वीर्यशक्ति कर्मबध मे कारण है। अतएव कार्यभेद अथवा स्वामिभेद से सलेश्य वीर्य के दो भेद होते हैं। कार्यभेद की अपेक्षा भेद वाला वीर्य एक जीव को एक समय मे अनेक प्रकार का होता है और स्वामिभेद की अपेक्षा भेद वाला वीर्य एक जीव को एक समय मे एक प्रकार का और अनेक जीवो की अपेक्षा अनेक प्रकार का है।

सलेश्य जीव दो प्रकार के है—छद्मस्थ और अछद्मस्थ। अत वीर्य-उत्पत्ति के दो रूप है—वीर्यान्तराय कर्म के देशक्षयरूप और सर्वक्षयरूप। देशक्षयजन्य वीर्य को क्षायोपशमिक और सर्वक्षयज वीर्य को क्षायिक कहते है, जो केवलियो मे पाया जाता है। जिससे सलेश्य वीर्य के भी दो भेद है—छाद्मस्थिक सलेश्य वीर्य और कैवलिक सलेश्य वीर्य।

केवली जीवो के अकषायी होने से उनका कोई भेद नही है उनमे सिर्फ कषायरहित कायपरिस्पन्दनरूप वीर्यशक्ति है।

छाद्मस्थिक जीव दो प्रकार के है—अकषायी सलेश्य और अकषायी अलेश्य जीव।

कषायो का दसवे सूक्ष्मसपरायगुणस्थान मे विच्छेद हो जाता है।

जिससे छाद्मस्थिक अकषायी सलेश्य वीर्य ग्यारहवे, बारहवे (उपशान्त-मोह क्षीणमोह) इन दो गुणस्थानवर्ती जीवो मे और छाद्मस्थिक सकषायी सलेश्य वीर्य दसवे गुणस्थान तक के जीवो मे पाया जाता है।

सलेश्य जीवो मे वीर्य प्रवृत्ति दो रूपो मे होती है, एक तो दौडना, चलना आदि निश्चित कार्यो को करने रूप प्रयत्नपूर्वक और दूसरी विना प्रयत्न के होती रहती है। प्रयत्नपूर्वक होने वाली वीर्य प्रवृत्ति को अभिसधिज और स्वयमेव होने वाली प्रवृत्ति को अनभिसधिज कहते हैं।[1]

इस प्रकार सामान्य से वीर्य के सम्बन्ध मे निर्देश करने के बाद अब जिस वीर्य का यहाँ अधिकार है, अर्थात् जिस वीर्य के सम्बन्ध मे विचार किया जाना है, उसी का निरूपण करते है।

'ज सलेस तु' अर्थात् जो सलेश्य वीर्य यहाँ अधिकृत है वह ग्रहण, परिणमन एव स्पन्दन क्रिया रूप है—'गहण परिणामफदण-रूव'। उस वीर्य के द्वारा पुद्गलो का ग्रहण, परिणमन और गमना-गमनादि स्पन्दन रूप क्रियाये होती है।

जिसका आशय यह है—

अधिकृत सलेश्य वीर्यविशेष के द्वारा जीव सर्वप्रथम औदारिक आदि शरीरो के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करता है और ग्रहण करके औदारिक आदि शरीररूप से परिणमित करता है। इसी प्रकार पहले श्वासोच्छ्वास, भाषा, मन के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करता है और ग्रहण करके उन्हे श्वासोच्छ्वास आदि रूप से परिणमित करता है। परिणमित करके उसके निसर्ग के हेतु रूप सामर्थ्य विशेष की सिद्धि के लिए उन्ही पुद्गलो का अवलवन करता है। इस प्रकार से ग्रहण, परिणमन और आलबन का साधन होने से उसे ग्रहण आदि का हेतु कहा गया है।

१ वीर्य के भेद-प्रभेदो का सुगमता से बोध कराने वाला प्रारूप परिशिष्ट मे देखिये।

यद्यपि ग्रहण, परिणमन और स्पन्दन रूप क्रियाओ का कारण वीर्य है। परन्तु कार्य के साथ कारण की अभेद विवक्षा करने से ग्रहण, परिणाम और स्पन्दन रूप क्रिया को भी वीर्य कहा जाता है और इस प्रकार के स्वरूप वाले सलेश्य वीर्य को योग भी कहते है। किन्तु अलेश्य वीर्य द्वारा पुद्गलो का ग्रहण, परिणमन आदि नही होता है। क्योकि अयोगिकेवलीगुणस्थान वाले और सिद्ध पुद्गलो का ग्रहण करते ही नही है।

सलेश्य जीव की वीर्यशक्ति को योग कहने का कारण यह है कि वह वीर्य मन, वचन और काया के पुद्गलो के योग-सयोग से पुद्गलान्तरो को ग्रहण करने आदि रूप क्रियाये करने मे प्रवृत्त होता है। इस प्रकार मन, वचन और काया रूप सहकारी कारण द्वारा उत्पन्न होने वाले उस योग के तीन प्रकार हो जाते है—

१ मनोयोग २ वचनयोग और ३ काययोग।

इसका सारांश यह हुआ कि किसी भी वस्तु को ग्रहण करने आदि के लिए ससारी जीव के पास तीन साधन है—शरीर, वचन और मन। इन साधनो के माध्यम से उसका वस्तु ग्रहण आदि के लिए परिस्पन्दन होता है। इसलिए साधनो के नामानुरूपयोग के उक्त काययोग आदि तीन नाम हो जाते है।

सहकारी कारण रूप मनोवर्गणा द्वारा प्रवर्तित होने वाला वीर्य मनोयोग, सहकारी कारण रूप भाषा वर्गणा द्वारा प्रवर्तित वीर्य वचनयोग और सहकारी कारण रूप काया के पुद्गलो द्वारा प्रवर्तित होने वाला वीर्य काययोग कहलाता है।

इस प्रकार सामान्य से कर्मबध की कारणभूत वीर्य शक्ति का विचार करने के पश्चात् अब योग सज्ञक वीर्य के समानार्थक नामो का निर्देश करते है।

योगसज्ञक वीर्य के समानार्थक नाम—

जोगो विरिय थामोउच्छाहपरक्कमो तहा चेट्ठा।

सत्ति सामत्थ चिय जोगस्स हवंति पज्जाया ॥४॥

शब्दार्थ—जोगो—योग, विरियं—वीर्य, थामो—स्थाम, उच्छाह—उत्साह, परक्कमो—पराक्रम, तहा—तथा, चेट्ठा—चेष्टा, सत्ति—शक्ति, सामत्थ—सामर्थ्य, च्चिय—भी, जोगस्स—योग के, हवंति—हैं, पज्जाया—पर्याय।

गाथार्थ—योग, वीर्य, स्थाम, उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति और सामर्थ्य ये सब योग के पर्यायवाची नाम हैं।

विशेषार्थ—वीर्य अथवा योग शब्द से जो आशय ग्रहण किया जाता है, वही अर्थ स्थाम, उत्साह आदि सामर्थ्य पर्यन्त के शब्दो का भी है। अर्थात् जैसे योग शब्द सलेश्य जीव के वीर्य का वोधक है, उसी प्रकार स्थाम, उत्साह आदि शब्द भी उसी वीर्य के अर्थ के ज्ञापक है। इसीलिए इनको योग के ही समानार्थक, पर्यायवाची नाम जानना चाहिये।

इस प्रकार सामान्य से योग सज्ञक वीर्य का विचार करने के पश्चात् अव उसके उत्कृष्टत्व, अनुत्कृष्टत्व जघन्यत्व और अजघन्यत्व का वोध कराने के लिये विस्तार से विवेचन करते हैं।

योग विचारणा के अधिकार

विस्तार से योग सज्ञक वीर्य शक्ति की विचारणा के अधिकारो के नाम इस प्रकार हैं—

१ अविभाग प्ररूपणा, २ वर्गणा प्ररूपणा, ३ स्पर्धक प्ररूपणा, ४. अन्तर प्ररूपणा, ५ स्थान प्ररूपणा, ६ अनन्तरोपनिधा प्ररूपणा, ७ परपरोपनिधा प्ररूपणा ८ वृद्धि (हानि) प्ररूपणा, ९ काल प्ररूपणा और १० जीवाल्पवहुत्व प्ररूपणा। इनमे पहली प्ररूपणा का नाम अविभाग प्ररूपणा है और अन्तिम का नाम है जीवाल्पवहुत्व अर्थात् जीवो के योग के अल्प-वहुत्व का विचार करना। इन अधिकारो का अनुक्रम से एक के वाद दूसरे, दूसरे के वाद तीसरे, इस रूप से विचार करना चाहिये। क्योंकि व्युत्क्रम से विचार करने पर इनकी क्रमवद्धता ज्ञात नही हो सकती है।

इन अविभाग आदि दस प्ररूपणाओ का अनुक्रम से विचार करने का दूसरा कारण यह है कि किसी भी एक आत्मा के प्रत्येक प्रदेश मे विवक्षित समय मे वीर्यलब्धि समान होने पर भी योग सज्ञा वाला वीर्य (करण वीर्य) समान नही होता है। क्योकि जहाँ वीर्य की निकटता होती है वहाँ उन आत्मप्रदेशो मे चेष्टा अधिक होने से वीर्य अधिक होता है और उन आत्मप्रदेशो से जो-जो आत्मप्रदेश जितने-जितने अश में दूर होते है वहाँ उन मे उतने-उतने अशो मे अल्प-अल्प चेष्टा (परिस्पन्दन) होने से उन–उन आत्मप्रदेशो मे करण वीर्य क्रमश हीन-हीन होता जाता है। इस तरह यह करण वीर्य प्रत्येक जीव के सर्व प्रदेशो मे तरतम भाव से होने के कारण उसकी अविभाग, वर्गणा आदि उक्त दस प्ररूपणाये क्रमश की जाती है।

प्ररूपणा का अर्थ है अपने-अपने अधिकृत विषयो का सगोपाग विचार करना। अविभाग प्ररूपणा आदि दस अधिकारो का क्रम से विचार करने का सकेत ऊपर किया है और उस क्रम मे अविभाग प्ररूपणा प्रथम है। अतएव सर्वप्रथम अविभाग प्ररूपणा की व्याख्या प्रारम्भ करते है।

अविभाग प्ररूपणा

पन्नाए अविभागं जहन्नविरियस्स वीरिय छिन्नं।
एक्केक्कस्स पएसस्स असंख लोगप्पएससम ।।५।।

शब्दार्थ—पन्नाए--प्रज्ञा—केवलज्ञान रूप बुद्धि, **अविभाग**—अविभाज्य-जिसका दूसरा विभाग न हो सके, **जहन्नविरियस्स**—जघन्य वीर्य वाले जीव के, **वीरिय**—वीर्य, **छिन्न**—छिन्न खण्डित किया गया, **एक्केक्कस्स**—एक-एक (प्रत्येक), **असख लोगप्पएससम**—असख्यात लोकाकाश प्रदेश के बराबर।

गाथार्थ—केवलज्ञान रूप प्रज्ञा-बुद्धि द्वारा जघन्य वीर्य वाले जीव के वीर्य का जिसका दूसरा विभाग न हो सके, उस रीति से खण्डित किया गया जो वीर्य खण्ड उसे अविभाग कहते हैं।

वैसे वीर्याविभाग जीव के एक-एक प्रदेश पर असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते है।

विशेषार्थ—गाथा मे अविभाग का स्वरूप वतलाया है कि भव के प्रथम समय मे वर्तमान अल्पाति अल्प वीर्य व्यापार वाले लव्ध्यपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव के किसी भी एक प्रदेश के वीर्य व्यापार के केवलीप्रज्ञा रूप शस्त्र से एक के दो भाग न हो सके, वैसे अश किये जाये तो वे असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते है। उनमे के एक अश को अविभाग कहते है। ऐसे अविभाग वीर्याणु प्रत्येक आत्म-प्रदेश पर जघन्य और उत्कृष्ट से असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते है। परन्तु इतना विशेप जानना चाहिये कि जघन्य की अपेक्षा उत्कृष्ट मे वीर्याविभाग असख्यात गुणे होते हैं।

उक्त कथन का साराश यह है कि केवली की बुद्धि रूप शस्त्र से छेदन करने पर जिसके दो विभाग न हो सके ऐसे वीर्य के अश को अविभाग अथवा निर्विभाज्य अश कहते हैं और ऐसे वे वीर्य के अवि-भाज्य अश भी सवसे अल्पतम वीर्य वाले लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म निगो-दिया जीव के उत्पत्ति के प्रथम समय मे जघन्य वीर्य वाले आत्म-प्रदेशो मे भी असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण और उत्कृष्ट से भी एक-एक आत्म प्रदेश पर असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते है।

परन्तु जघन्य की अपेक्षा उत्कृष्ट मे वे वीर्याविभाग असख्यात गुणे जानना चाहिये।

इस प्रकार से अविभाग प्ररूपणा के स्वरूप का निर्देश करने के पश्चात् अब क्रमप्राप्त वर्गणा प्ररूपणा का प्रतिपादन करते हैं।

वर्गणा प्ररूपणा

सव्वप्प वीरिएहि जीवपएसेहि वग्गणा पढमा।

बीयाइ वग्गणाओ रूवुत्तरिया असखाओ ॥६॥

शब्दार्थ—**सव्वप्प**—सवसे अल्प, **वीरिएहि**—वीर्य वाले, **जीवपएसेहि**—जीव प्रदेशो की, **वग्गणा**—वर्गणा, **पढमा**—पहली, **बीयाइ**—दूसरी आदि,

वग्गणाओ—वर्गणाये, रूवुत्तरिया—तत्पश्चात् उत्तरोत्तर एक-एक अधिक वीर्याणुवाली, असखाओ—असख्यात।

गाथार्थ—सर्व से अल्प वीर्य वाले जीव प्रदेशो की पहली वर्गणा होती है, तत्पश्चात् उत्तरोत्तर एक-एक अधिक वीर्याणु वाली दूसरी, तीसरी आदि असख्य वर्गणाये होती है।

विशेषार्थ—गाथा मे वर्गणा का स्वरूप और उनकी सख्या का प्रमाण बतलाया है।

यद्यपि वीर्यान्तिराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न वीर्य तो समस्त आत्मप्रदेशो मे समान ही होता है, किन्तु जो प्रदेश कार्य के निकट होते है अथवा जिन प्रदेशो के निकट कार्य होता है वहाँ वीर्य-व्यापार अधिक होता है और जिन-जिन प्रदेशो का कार्य दूर होता है वहाँ-वहाँ अनुक्रम से वीर्य-व्यापार हीन-हीनतर होता जाता है। तभी अल्प और क्रमश अधिक-अधिक वीर्य-व्यापार वाले प्रदेशो की प्राप्ति हो सकती हे और वैसा होने पर वर्गणा, स्पर्धक और योग स्थानो की निष्पत्ति रचना सम्भव है।

उक्त कथन का साराश यह हुआ कि वीर्यान्तिराय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त शक्ति को वीर्य और उसके व्यापार यानी कार्य मे प्रवृत्त वीर्य को योग कहते है। तात्पर्य यह हुआ कि पहले को लब्धि-वीर्य और दूसरे को उपयोग-वीर्य कहते है। लब्धिवीर्य प्रत्येक आत्मप्रदेश पर समान होता है, परन्तु उपयोग-वीर्य समान नही होता है। जिस प्रदेश के कार्य निकट होता है वहाँ वीर्य-व्यापार अधिक और जैसे-जैसे कार्य दूर होता है वैसे-वैसे अल्प वीर्य-व्यापार होता है। उसी से वर्गणा, स्पर्धक और योगस्थान की उत्पत्ति हो सकती है।

प्रस्तुत मे वर्गणा प्ररूपणा का विचार किया जा रहा है। अतएव यहाँ पहले वर्गणा का स्वरूप बतलाते है।

भव के प्रथम समय मे वर्तमान लब्धिअपर्याप्त अल्पातिअल्प वीर्य-व्यापार वाले सूक्ष्म निगोदिया जीव का वीर्य-व्यापार भी समस्त

वैसे वीर्याविभाग जीव के एक-एक प्रदेश पर असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा मे अविभाग का स्वरूप बतलाया है कि भव के प्रथम समय मे वर्तमान अल्पाति अल्प वीर्य व्यापार वाले लब्ध्यपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव के किसी भी एक प्रदेश के वीर्य व्यापार के केवलीप्रज्ञा रूप शस्त्र से एक के दो भाग न हो सके, वैसे अश किये जाये तो वे असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते है। उनमे के एक अश को अविभाग कहते है। ऐसे अविभाग वीर्याणु प्रत्येक आत्म-प्रदेश पर जघन्य और उत्कृष्ट से असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते हैं। परन्तु इतना विशेष जानना चाहिये कि जघन्य की अपेक्षा उत्कृष्ट मे वीर्याविभाग असख्यात गुणे होते हैं।

उक्त कथन का साराश यह है कि केवली की बुद्धि रूप शस्त्र से छेदन करने पर जिसके दो विभाग न हो सके ऐसे वीर्य के अश को अविभाग अथवा निर्विभाज्य अश कहते है और ऐसे वे वीर्य के अवि-भाज्य अश भी सबसे अल्पतम वीर्य वाले लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म निगो-दिया जीव के उत्पत्ति के प्रथम समय मे जघन्य वीर्य वाले आत्म-प्रदेशो मे भी असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण और उत्कृष्ट से भी एक-एक आत्म प्रदेश पर असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते है।

परन्तु जघन्य की अपेक्षा उत्कृष्ट मे वे वीर्याविभाग असख्यात गुणे जानना चाहिये।

इस प्रकार से अविभाग प्ररूपणा के स्वरूप का निर्देश करने के पश्चात् अब क्रमप्राप्त वर्गणा प्ररूपणा का प्रतिपादन करते है।

वर्गणा प्ररूपणा

सव्वप्प वीरिएहिं जीवपएसेहिं वग्गणा पढमा।
बीयाइ वग्गणाओ रूवुत्तरिया असखाओ ॥६॥

शब्दार्थ—**सव्वप्प**—सबसे अल्प, **वीरिएहिं**—वीर्य वाले, **जीवपएसेहिं**—जीव प्रदेशो की, **वग्गणा**—वर्गणा, **पढमा**—पहली, **बीयाइ**—दूसरी आदि,

वग्गणाओ—वर्गणाये, रूवुत्तरिया—तत्पश्चात् उत्तरोत्तर एक-एक अधिक वीर्याणुवाली, असखाओ—असख्यात।

गाथार्थ—सर्व से अल्प वीर्य वाले जीव प्रदेशो की पहली वर्गणा होती है, तत्पश्चात् उत्तरोत्तर एक-एक अधिक वीर्याणु वाली दूसरी, तीसरी आदि असख्य वर्गणाये होती है।

विशेषार्थ—गाथा मे वर्गणा का स्वरूप और उनकी सख्या का प्रमाण बतलाया है।

यद्यपि वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न वीर्य तो समस्त आत्मप्रदेशो मे समान ही होता है, किन्तु जो प्रदेश कार्य के निकट होते है अथवा जिन प्रदेशो के निकट कार्य होता है वहाँ वीर्य-व्यापार अधिक होता है और जिन-जिन प्रदेशो का कार्य दूर होता है वहाँ-वहाँ अनुक्रम से वीर्य-व्यापार हीन-हीनतर होता जाता है। तभी अल्प और क्रमश अधिक-अधिक वीर्य-व्यापार वाले प्रदेशो की प्राप्ति हो सकती है और वैसा होने पर वर्गणा, स्पर्धक और योग स्थानो की निष्पत्ति रचना सम्भव है।

उक्त कथन का साराश यह हुआ कि वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त शक्ति को वीर्य और उसके व्यापार यानी कार्य मे प्रवृत्त वीर्य को योग कहते है। तात्पर्य यह हुआ कि पहले को लब्धि-वीर्य और दूसरे को उपयोग-वीर्य कहते है। लब्धिवीर्य प्रत्येक आत्मप्रदेश पर समान होता है, परन्तु उपयोग-वीर्य समान नही होता है। जिस प्रदेश के कार्य निकट होता है वहाँ वीर्य-व्यापार अधिक और जैसे-जैसे कार्य दूर होता है वैसे-वैसे अल्प वीर्य-व्यापार होता है। उसी से वर्गणा, स्पर्धक और योगस्थान की उत्पत्ति हो सकती है।

प्रस्तुत मे वर्गणा प्ररूपणा का विचार किया जा रहा है। अतएव यहाँ पहले वर्गणा का स्वरूप बतलाते है।

भव के प्रथम समय मे वर्तमाल लब्धिअपर्याप्त अल्पातिअल्प वीर्य-व्यापार वाले सूक्ष्म निगोदिया जीव का वीर्य-व्यापार भी समस्त

वैसे वीर्याविभाग जीव के एक-एक प्रदेश पर असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते है।

विशेषार्थ—गाथा मे अविभाग का स्वरूप बतलाया है कि भव के प्रथम समय में वर्तमान अल्पाति अल्प वीर्य व्यापार वाले लब्ध्यपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव के किसी भी एक प्रदेश के वीर्य व्यापार के केवलीप्रज्ञा रूप शस्त्र से एक के दो भाग न हो सके, वैसे अश किये जाये तो वे असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते है। उनमें के एक अश को अविभाग कहते है। ऐसे अविभाग वीर्याणु प्रत्येक आत्म-प्रदेश पर जघन्य और उत्कृष्ट से असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते है। परन्तु इतना विशेष जानना चाहिये कि जघन्य की अपेक्षा उत्कृष्ट मे वीर्याविभाग असख्यात गुणे होते है।

उक्त कथन का साराश यह है कि केवली की बुद्धि रूप शस्त्र से छेदन करने पर जिसके दो विभाग न हो सके ऐसे वीर्य के अश को अविभाग अथवा निर्विभाज्य अश कहते है और ऐसे वे वीर्य के अवि-भाज्य अश भी सबसे अल्पतम वीर्य वाले लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म निगो-दिया जीव के उत्पत्ति के प्रथम समय मे जघन्य वीर्य वाले आत्म-प्रदेशो मे भी असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण और उत्कृष्ट से भी एक-एक आत्म प्रदेश पर असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते हैं।

परन्तु जघन्य की अपेक्षा उत्कृष्ट मे वे वीर्याविभाग असख्यात गुणे जानना चाहिये।

इस प्रकार से अविभाग प्ररूपणा के स्वरूप का निर्देश करने के पश्चात् अब क्रमप्राप्त वर्गणा प्ररूपणा का प्रतिपादन करते है।

वर्गणा प्ररूपणा

सव्वप्प वीरिएहिं जीवपएसेहिं वग्गणा पढमा।
बीयाइ वग्गणाओ रूवुत्तरिया असखाओ ॥६॥

शब्दार्थ—**सव्वप्प**—सबसे अल्प, **वीरिएहि**—वीर्य वाले, **जीवपएसेहि**—जीव प्रदेशो की, **वग्गणा**—वर्गणा, **पढमा**—पहली, **बीयाइ**—दूसरी आदि,

वग्गणाओ—वर्गणाये, रूवुत्तरिया—तत्पश्चात् उत्तरोत्तर एक-एक अधिक वीर्याणुवाली, असखाओ—असख्यात।

गाथार्थ—सर्व से अल्प वीर्य वाले जीव प्रदेशो की पहली वर्गणा होती है, तत्पश्चात् उत्तरोत्तर एक-एक अधिक वीर्याणु वाली दूसरी, तीसरी आदि असख्य वर्गणाये होती है।

विशेषार्थ—गाथा मे वर्गणा का स्वरूप और उनकी सख्या का प्रमाण बतलाया है।

यद्यपि वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न वीर्य तो समस्त आत्मप्रदेशो मे समान ही होता है, किन्तु जो प्रदेश कार्य के निकट होते है अथवा जिन प्रदेशो के निकट कार्य होता है वहाँ वीर्य-व्यापार अधिक होता है और जिन-जिन प्रदेशो का कार्य दूर होता है वहाँ-वहाँ अनुक्रम से वीर्य–व्यापार हीन-हीनतर होता जाता है। तभी अल्प और क्रमश अधिक-अधिक वीर्य-व्यापार वाले प्रदेशो की प्राप्ति हो सकती है और वैसा होने पर वर्गणा, स्पर्धक और योग स्थानो की निष्पत्ति रचना सम्भव है।

उक्त कथन का साराश यह हुआ कि वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त शक्ति को वीर्य और उसके व्यापार यानी कार्य मे प्रवृत्त वीर्य को योग कहते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि पहले को लब्धि-वीर्य और दूसरे को उपयोग-वीर्य कहते है। लब्धिवीर्य प्रत्येक आत्मप्रदेश पर समान होता है, परन्तु उपयोग-वीर्य समान नही होता है। जिस प्रदेश के कार्य निकट होता है वहाँ वीर्य-व्यापार अधिक और जैसे-जैसे कार्य दूर होता है वैसे-वैसे अल्प वीर्य-व्यापार होता है। उसी से वर्गणा, स्पर्धक और योगस्थान की उत्पत्ति हो सकती है।

प्रस्तुत मे वर्गणा प्ररूपणा का विचार किया जा रहा है। अतएव यहाँ पहले वर्गणा का स्वरूप बतलाते है।

भव के प्रथम समय मे वर्तमान लब्धिअपर्याप्त अल्पातिअल्प वीर्य-व्यापार वाले सूक्ष्म निगोदिया जीव का वीर्य-व्यापार भी समस्त

वैसे वीर्याविभाग जीव के एक-एक प्रदेश पर असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते है।

विशेषार्थ—गाथा मे अविभाग का स्वरूप बतलाया है कि भव के प्रथम समय मे वर्तमान अल्पाति अल्प वीर्य व्यापार वाले लब्ध्यपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव के किसी भी एक प्रदेश के वीर्य व्यापार के केवलीप्रज्ञा रूप शस्त्र से एक के दो भाग न हो सके, वैसे अश किये जाये तो वे असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते है। उनमे के एक अश को अविभाग कहते है। ऐसे अविभाग वीर्याणु प्रत्येक आत्म-प्रदेश पर जघन्य और उत्कृष्ट से असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते है। परन्तु इतना विशेष जानना चाहिये कि जघन्य की अपेक्षा उत्कृष्ट मे वीर्याविभाग असख्यात गुणे होते हैं।

उक्त कथन का साराश यह है कि केवली की बुद्धि रूप शस्त्र से छेदन करने पर जिसके दो विभाग न हो सके ऐसे वीर्य के अश को अविभाग अथवा निर्विभाज्य अश कहते हैं और ऐसे वे वीर्य के अवि-भाज्य अश भी सबसे अल्पतम वीर्य वाले लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म निगो-दिया जीव के उत्पत्ति के प्रथम समय मे जघन्य वीर्य वाले आत्म-प्रदेशो मे भी असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण और उत्कृष्ट से भी एक-एक आत्म प्रदेश पर असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते है।

परन्तु जघन्य की अपेक्षा उत्कृष्ट मे वे वीर्याविभाग असख्यात गुणे जानना चाहिये।

इस प्रकार से अविभाग प्ररूपणा के स्वरूप का निर्देश करने के पश्चात् अब क्रमप्राप्त वर्गणा प्ररूपणा का प्रतिपादन करते है।

वर्गणा प्ररूपणा

सव्वप्प वीरिएहि जीवपएसेहिं वग्गणा पढमा।
बीयाइ वग्गणाओ रूवुत्तरिया असखाओ ॥६॥

शब्दार्थ—सव्वप्प—सबसे अल्प, वीरिएहि—वीर्य वाले, जीवपएसेहि—जीव प्रदेशो की, वग्गणा—वर्गणा, पढमा—पहली, बीयाइ—दूसरी आदि,

वग्गणाओ—वर्गणाये, **रूवुत्तरिया**—तत्पश्चात् उत्तरोत्तर एक-एक अधिक वीर्याणुवाली, **असखाओ**—असख्यात ।

गाथार्थ—सर्व से अल्प वीर्य वाले जीव प्रदेशो की पहली वर्गणा होती है, तत्पश्चात् उत्तरोत्तर एक-एक अधिक वीर्याणु वाली दूसरी, तीसरी आदि असख्य वर्गणाये होती है ।

विशेषार्थ—गाथा मे वर्गणा का स्वरूप और उनकी सख्या का प्रमाण बतलाया है ।

यद्यपि वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न वीर्य तो समस्त आत्मप्रदेशो मे समान ही होता है, किन्तु जो प्रदेश कार्य के निकट होते है अथवा जिन प्रदेशो के निकट कार्य होता है वहाँ वीर्य-व्यापार अधिक होता है और जिन-जिन प्रदेशो का कार्य दूर होता है वहाँ-वहाँ अनुक्रम से वीर्य-व्यापार हीन-हीनतर होता जाता है । तभी अल्प और क्रमश अधिक-अधिक वीर्य-व्यापार वाले प्रदेशो की प्राप्ति हो सकती है और वैसा होने पर वर्गणा, स्पर्धक और योग स्थानो की निष्पत्ति रचना सम्भव है ।

उक्त कथन का साराश यह हुआ कि वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त शक्ति को वीर्य और उसके व्यापार यानी कार्य मे प्रवृत्त वीर्य को योग कहते है । तात्पर्य यह हुआ कि पहले को लब्धि-वीर्य और दूसरे को उपयोग-वीर्य कहते है । लब्धिवीर्य प्रत्येक आत्मप्रदेश पर समान होता है, परन्तु उपयोग-वीर्य समान नही होता है । जिस प्रदेश के कार्य निकट होता है वहाँ वीर्य-व्यापार अधिक और जैसे-जैसे कार्य दूर होता है वैसे-वैसे अल्प वीर्य-व्यापार होता है । इसी से वर्गणा, स्पर्धक और योगस्थान की उत्पत्ति हो सकती है ।

प्रस्तुत मे वर्गणा प्ररूपणा का विचार किया जा रहा है । अतएव यहाँ पहले वर्गणा का स्वरूप बतलाते है ।

भव के प्रथम समय मे वर्तमान लब्धिअपर्याप्त अल्पातिअल्प वीर्य-व्यापार वाले सूक्ष्म निगोदिया जीव का वीर्य-व्यापार भी समस्त

वैसे वीर्याविभाग जीव के एक-एक प्रदेश पर असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा मे अविभाग का स्वरूप बतलाया है कि भव के प्रथम समय में वर्तमान अल्पाति अल्प वीर्य व्यापार वाले लब्ध्यपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव के किसी भी एक प्रदेश के वीर्य व्यापार के केवलीप्रज्ञा रूप शस्त्र से एक के दो भाग न हो सके, वैसे अश किये जाये तो वे असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते है। उनमें के एक अश को अविभाग कहते है। ऐसे अविभाग वीर्याणु प्रत्येक आत्म-प्रदेश पर जघन्य और उत्कृष्ट से असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते है। परन्तु इतना विशेप जानना चाहिये कि जघन्य की अपेक्षा उत्कृष्ट मे वीर्याविभाग असख्यात गुणे होते हैं।

उक्त कथन का साराश यह है कि केवली की बुद्धि रूप शस्त्र से छेदन करने पर जिसके दो विभाग न हो सके ऐसे वीर्य के अश को अविभाग अथवा निर्विभाज्य अश कहते हैं और ऐसे वे वीर्य के अविभाज्य अश भी सबसे अल्पतम वीर्य वाले लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव के उत्पत्ति के प्रथम समय मे जघन्य वीर्य वाले आत्म-प्रदेशो मे भी असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण और उत्कृष्ट से भी एक-एक आत्म प्रदेश पर असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते है।

परन्तु जघन्य की अपेक्षा उत्कृष्ट मे वे वीर्याविभाग असख्यात गुणे जानना चाहिये।

इस प्रकार से अविभाग प्ररूपणा के स्वरूप का निर्देश करने के पश्चात् अब क्रमप्राप्त वर्गणा प्ररूपणा का प्रतिपादन करते हैं।

वर्गणा प्ररूपणा

सव्वप्प वीरिएहिं जीवपएसेहिं वग्गणा पढमा।
बीयाइ वग्गणाओ रूवुत्तरिया असखाओ ॥६॥

शब्दार्थ—**सव्वप्प**—सबसे अल्प, **वीरिएहि**—वीर्य वाले, **जीवपएसेहि**—जीव प्रदेशो की, **वग्गणा**—वर्गणा, **पढमा**—पहली, **बीयाइ**—दूसरी आदि,

वग्गणाओ—वर्गणायें, रूवुत्तरिया—तत्पश्चात् उत्तरोत्तर एक-एक अधिक वीर्याणुवाली, असखाओ—असख्यात।

गाथार्थ—सर्व से अल्प वीर्य वाले जीव प्रदेशो की पहली वर्गणा होती है, तत्पश्चात् उत्तरोत्तर एक-एक अधिक वीर्याणु वाली दूसरी, तीसरी आदि असख्य वर्गणायें होती है।

विशेषार्थ—गाथा मे वर्गणा का स्वरूप और उनकी सख्या का प्रमाण बतलाया है।

यद्यपि वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न वीर्य तो समस्त आत्मप्रदेशो मे समान ही होता है, किन्तु जो प्रदेश कार्य के निकट होते है अथवा जिन प्रदेशो के निकट कार्य होता है वहाँ वीर्य-व्यापार अधिक होता है और जिन-जिन प्रदेशो का कार्य दूर होता है वहाँ-वहाँ अनुक्रम से वीर्य-व्यापार हीन-हीनतर होता जाता है। तभी अल्प और क्रमश अधिक-अधिक वीर्य-व्यापार वाले प्रदेशो की प्राप्ति हो सकती है और वैसा होने पर वर्गणा, स्पर्धक और योग स्थानो की निष्पत्ति रचना सम्भव है।

उक्त कथन का साराश यह हुआ कि वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त शक्ति को वीर्य और उसके व्यापार यानी कार्य मे प्रवृत्त वीर्य को योग कहते है। तात्पर्य यह हुआ कि पहले को लब्धि-वीर्य और दूसरे को उपयोग-वीर्य कहते है। लब्धिवीर्य प्रत्येक आत्मप्रदेश पर समान होता है, परन्तु उपयोग-वीर्य समान नही होता है। जिस प्रदेश के कार्य निकट होता है वहाँ वीर्य-व्यापार अधिक और जैसे-जैसे कार्य दूर होता है वैसे-वैसे अल्प वीर्य-व्यापार होता है। इसी से वर्गणा, स्पर्धक और योगस्थान की उत्पत्ति हो सकती है।

प्रस्तुत मे वर्गणा प्ररूपणा का विचार किया जा रहा है। अतएव यहाँ पहले वर्गणा का स्वरूप बतलाते है।

भव के प्रथम समय मे वर्तमान लब्धिअपर्याप्त अल्पातिअल्प वीर्य-व्यापार वाले सूक्ष्म निगोदिया जीव का वीर्य-व्यापार भी समस्त

आत्मप्रदेशो मे समान नही होता है, जहाँ कार्य निकट हो, वहाँ अधिक होता है और कार्य जैसे-जैसे दूर हो वैसे-वैसे वीर्य-व्यापार अल्प-अल्प होता जाता है।

ग्रथकार आचार्य ने अल्पातिअल्प वीर्य-व्यापार वाले आत्मप्रदेशो से वर्गणा प्रारम्भ करने का निर्देश किया है—'सव्वप्प वीरिएहिं जीवपएसेहिं वग्गणा पढमा' अर्थात् अल्पातिअल्प वीर्य-व्यापार वाले किसी भी एक आत्मप्रदेश पर जो वीर्य-व्यापार है उसके एक के दो भाग न हो सके ऐसे असख्य, लोकाकाश प्रदेश प्रमाण समसख्यक वीर्याणु वाले आत्म-प्रदेशो के समुदाय को वर्गणा कहते है। यानी समान जातीय एव समसख्यक वीर्याणु वाले आत्मप्रदेशो का समुदाय वर्गणा कहलाती है।

यह प्रथम वर्गणा का स्वरूप है। परन्तु वर्गणाये तो असख्यात है। अत अब दूसरी से लेकर उत्तरोत्तर असख्यात वर्गणाओ के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये गाथा मे सकेत किया है—'बीयाइ वग्गणाओ रूवुत्तरिया असखाओ।'

अर्थात् एक वीर्याणु से अधिक घनीकृत लोक के असख्यातवे भाग मे रहे हुए असख्य प्रतर[1] प्रमाण जीव प्रदेशो का समुदाय दूसरी वर्गणा है। दो वीर्याणु अधिक घनीकृत लोक के असख्यातवे भाग मे रहे हुए असख्यात प्रतर प्रमाण जीव प्रदेशो का समुदाय तीसरी वर्गणा है। इस प्रकार एक-एक वीर्याणु से अधिक-अधिक उतने-उतने जीव प्रदेशो का समुदाय रूप सूचि श्रेणि के असख्यातवें भाग मे रहे हुए असख्य आकाश प्रदेश प्रमाण असख्याती वर्गणाये होती हैं।

यहाँ यह विशेष जानना चाहिये कि जघन्य से उत्तरोत्तर एक-एक वीर्याविभाग की वृद्धि से बनने वाली उन असख्याती वर्गणाओ मे

---

१ श्रेणीगत प्रदेशो को उतने ही प्रदेशो से गुणा करने पर प्राप्त प्रमाण को प्रतर कहते हैं।

क्रमश पूर्व-पूर्व की अपेक्षा आगे-आगे की वर्गणा मे आत्मप्रदेश घनीकृत लोक के असख्यातवे भाग मे वर्तमान असख्य आकाश प्रदेश के बराबर है। जिससे उतनी ही अर्थात् असख्याती वर्गणाए हो सकती है।

इस प्रकार वर्गणा प्ररूपणा का आशय जानना चाहिये। अब वर्गणा के अनन्तर क्रमप्राप्त स्पर्धक प्ररूपणा और उसके बाद अन्तर प्ररूपणा का विचार करते है।

स्पर्धक और अन्तर प्ररूपणा

ताओ फड्डगमेग अओपरं नत्थि रूववुड्ढीए।
जाव असखालोगा पुव्वविहाणेण तो फड्डा ॥७॥

शब्दार्थ—ताओ—उनका, फड्डगमेग—एक स्पर्धक, अओपर—इसके अनन्तर, नत्थि—नही है, रूववुड्ढीए—एक-एक वीर्याणु वृद्धि वाले, जाव—तक, पर्यन्त, असखा लोगा—असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण, पुव्व-विहाणेण—पूर्व विधि, प्रकार से, तो—उसके बाद, फड्डा—स्पर्धक।

गाथार्थ—उन (वर्गणाओ) का समूह स्पर्धक कहलाता है। उसके अनन्तर एक-एक अधिक वीर्याणु वृद्धि वाले आत्म-प्रदेश नही है, परन्तु असख्य लोकाकाशप्रदेश प्रमाण वीर्याणुओ से अधिक वाले आत्म-प्रदेश प्राप्त हो सकते है। उसके बाद पुन पूर्व विधि—प्रकार से स्पर्धक होते है।

विशेषार्थ—गाथा मे स्पर्धक का स्वरूप एव वर्गणा और स्पर्धक के अन्तर को स्पष्ट किया है। स्पर्धक के स्वरूप का निर्देश करते हुए बताया है—

ताओ फड्डगमेग—उन वर्गणाओ का एक स्पर्धक होता है, अर्थात् जघन्य वर्गणा से प्रारम्भ कर उत्तरोत्तर एक-एक अधिक वीर्याणु वाली सूचिश्रेणि के असख्यातवे भाग मे रही हुई असख्य आकाश-प्रदेश प्रमाण असंख्याती वर्गणाओ के समूह को स्पर्धक कहते है। यानी अनुक्रम मे एक-एक वीर्याणु से वढती हुई असख्याती वर्गणाओ का समूह स्पर्धक कहलाता है। यह पहला स्पर्धक है।

यह स्पर्धक प्ररूपणा का आशय है तथा इस प्रकार से स्पर्धक प्ररूपणा करने के पश्चात् अब अन्तर प्ररूपणा का कथन करते है।

यहा तक ही एक-एक अधिक वीर्याणु वृद्धि वाले आत्मप्रदेश प्राप्त होते है किन्तु इससे आगे क्रमश एक-एक वीर्याणु प्रमाण अधिक वीर्य-व्यापार वृद्धि वाले आत्मप्रदेश नही मिलते है—'अओ पर नत्थि रूववुड्ढीए'। इसी प्रकार दो, तीन या सख्यात वीर्याणु प्रमाण अधिक वीर्य-व्यापार वाले भी आत्म-प्रदेश नही मिलते है किन्तु असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण वीर्याणु से अधिक वीर्य-व्यापार वाले आत्म-प्रदेश प्राप्त होते है—'जाव असखालोगा' तथा इस प्रकार से ही वीर्य-व्यापार मे वृद्धि होने में कारण जीव-स्वभाव है।

तत्पश्चात् पुन 'पुव्वविहाणेण' पूर्व विधि के अनुसार वर्गणाओ का क्रम प्रारम्भ होता है। अर्थात् उन समान वीर्य-व्यापार वाले आत्मप्रदेशो का वह समुदाय दूसरे स्पर्धक की प्रथम वर्गणा है और उसके बाद पूर्व मे बताये गये क्रम के अनुसार पहली वर्गणा से एक वीर्याविभाग अधिक जीव प्रदेशो के समूह की दूसरी वर्गणा, दो वीर्याविभाग अधिक जीव प्रदेशो के समूह की तीसरी वर्गणा इत्यादि इस प्रकार एक-एक वीर्याविभाग अधिक-अधिक और हीन-हीन जीव-प्रदेशो की समुदाय रूप सूचि श्रेणि के असख्यातवे भाग मे रहे हुए आकाश प्रदेश प्रमाण वर्गणाये होती है। उनका समुदाय रूप दूसरा स्पर्धक होता है।

इसके अनन्तर पुन एक वीर्याविभाग की अधिकता वाले आत्म-प्रदेश नही होते है, और न दो, तीन, चार या सख्यात वीर्याणु अधिक वाले भी आत्मप्रदेश होते किन्तु असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण वीर्याणु से अधिक वाले आत्मप्रदेश होते है। उन समसख्यक उतने वीर्याणु वाले आत्म-प्रदेशो का वह समुदाय तीसरे स्पर्धक की प्रथम वर्गणा है।

इसके बाद उत्तरोत्तर एक-एक अधिक वीर्याणु वाले और हीन-हीन जीव प्रदेशो की सूचिश्रेणि के असख्यातवें भाग मे रहे हुए आकाश

प्रदेशो प्रमाण असख्याती वर्गणाये होती है उनका समुदाय तीसरा स्पर्धक होता है।

इसी प्रकार पूर्वोक्त क्रम से अन्य-अन्य स्पर्धक जानना चाहिये। क्योकि अनुक्रम से एक-एक अधिक वीर्याणु से वृद्धि को प्राप्त वर्गणाओ के समूह को स्पर्धक कहते है।

इस प्रकार से स्पर्धक एव अन्तर प्ररूपणा का आशय जानना चाहिये। अव क्रमप्राप्त स्थान और अनन्तरोपनिधा प्ररूपणा का कथन करते है।

स्थान व अन्तरोपनिधा प्ररूपणा

सेढी असखभागिय फड्डेहि जहन्नय हवई ठाण।
अंगुल असंखभागुत्तराइं भुओ असखाइ ॥८॥

शब्दार्थ—सेढी असखभागिय—श्रेणि के असख्यातवे भाग मे रहे हुए आकाश प्रदेश प्रमाण, **फड्डेहि—**स्पर्धको का, **जहन्नय—**जघन्य, **हवई—**होता है, **ठाण—**(योग) स्थान, **अगुलअसखभागुत्तराइ—**अगुल के असख्यातवे भाग मे रहे हुए आकाश प्रदेश प्रमाण अधिक-अधिक स्पर्धको से, **भुओ—**पुन अन्य-अन्य, **असखाइ—**असख्यात।

गाथार्थ—श्रेणी के असख्यातवे भाग मे रहे हुए आकाश प्रदेश प्रमाण स्पर्धको का जघन्य (योग) स्थान होता है तथा अगुल के असख्यातवे भाग मे रहे हुए आकाश प्रदेश प्रमाण अधिक-अधिक स्पर्धको से पुन अन्य-अन्य असख्यात योगस्थान होते है।

विशेषार्थ—गाथा मे योगस्थान के निर्माण की प्रक्रिया का निर्देश करते हुए उनकी सख्या का प्रमाण वतलाया है।

योगस्थान वनने की प्रक्रिया का सकेत करते हुए वताया है 'सेढी असखभागिय फड्डेहि जहन्नय हवईठाण'—श्रेणी के असख्यातवे भाग प्रमाण स्पर्धको का जघन्य (प्रथम) योगस्थान होता है। इसका आशय यह है कि पूर्व की गाथा मे जिसके स्वरूप का प्रतिपादन किया

तदनन्तर पूर्वकथित क्रमानुसार पूर्व से अधिक वीर्यव्यापार वाले अन्य जीव का तीसरा योगस्थान कहना चाहिये ।

इस विधि मे अन्य-अन्य जीवो की अपेक्षा पूर्व-पूर्व से अधिक-अधिक वीर्यव्यापार वाले सर्वोत्कृष्ट योगस्थान पर्यन्त योगस्थान जानना चाहिये । ये सभी योगस्थान सूचिश्रेणि के असख्यातवे भाग मे रहे हुए आकाश प्रदेश प्रमाण होते है—'असखाइ ।'

यहाँ यह जानना चाहिये कि उत्पत्ति के प्रथम समय मे वर्तमान अल्पतम वीर्य वाले सूक्ष्म निगोदिया अपर्याप्तक जीव के जो योग है वह योगस्थान तो है लेकिन योगस्थानो की वृद्धि का क्रम उससे अधिक वीर्य वाले अन्य जीव के जो सर्वाल्पवीर्य वाले जीवप्रदेशो का समुदाय है अथवा द्वितीय समय मे वर्तमान उसी निगोदिया अपर्याप्तक जीव के जघन्य वीर्याविभागो का समुदाय है, वहाँ से प्रारम्भ होता है ।

जीव तो अनन्त है और वे अपनी-अपनी योगशक्ति से सम्पन्न हैं फिर भी अनन्त के बजाय असख्यात योगस्थान मानने पर शकाकार अपनी शका प्रस्तुत करता है—

शंका—जीव अनन्त है और प्रत्येक जीव के योगस्थान सम्भव होने से योगस्थानो की सख्या अनन्त होनी चाहिये । परन्तु उनकी सख्या श्रेणि के असख्यातवे भाग मे विद्यमान प्रदेशराशि प्रमाण क्यो है ?

उत्तर—जीवो के अनन्त होते हुए भी असख्यात योगस्थान होने का कारण यह है कि समान सख्या वाले एक-एक योगस्थान के ऊपर स्थावरजीव अनन्त होते हैं । जिससे उन अनन्त स्थावर जीवो का एक योगस्थान होता है और अधिक-से-अधिक त्रस जीव असख्यात है । इस प्रकार एक समान योगस्थान वाले जीव अधिक होने पर भी समस्त जीवो की अपेक्षा समस्त योगस्थानो की सख्या ऊपर बताई जितनी ही है, अर्थात् असख्यात ही होती है । अल्पाधिक नही है ।

साराश यह है कि स्थावरप्रयोग्य योगस्थानो मे से प्रत्येक योग-स्थान मे अनन्त या असख्य जीव हो सकते हैं। जिससे उन जीवो का समान योगस्थान होता है किन्तु त्रसप्रयोग्य योगस्थानो मे प्रत्येक योगस्थान मे असख्य अथवा सख्य जीव होते है और कदाचित् कोई त्रसप्रयोग्य योगस्थान शून्य भी होता है। इस प्रकार जीवो के अनन्त होते हुए भी विसदृश योगस्थान श्रेणि के असख्यातवे भाग ही होते है।

यह योगस्थान प्ररूपणा का आशय जानना चाहिये।[1] अब अनन्तरोपनिधा-प्ररूपणा का निर्देश करते है।

अनन्तरोपनिधाप्ररूपणा

उपनिधान उपनिधा अर्थात् विचार करने को उपनिधा कहते है। अतएव अनन्तरोपनिधा का यह अर्थ हुआ कि पूर्व-पूर्व योगस्थान के स्पर्धको की अपेक्षा उत्तर-उत्तरवर्ती योगस्थान के स्पर्धको का विचार करना। जैसे कि पहले योगस्थान के स्पर्धको की अपेक्षा दूसरे योगस्थान के स्पर्धको का, दूसरे की अपेक्षा तीसरे योगस्थान के स्पर्धको का इस प्रकार के विचार करने को अनन्तरोपनिधा कहते हैं।

अव इस क्रमनिर्देशानुसार पूर्व-पूर्व के योगस्थान से उत्तर-उत्तर के योगस्थान के स्पर्धको का विचार करते है कि पूर्व-पूर्व योगस्थान से उत्तर-उत्तर के योगस्थान मे एक अगुल प्रमाण क्षेत्र के असख्यातवें भाग मे जितने आकाशप्रदेश होते हैं उतने स्पर्धक अधिक-अधिक होते है। जैसे कि पहले योगस्थान मे जितने स्पर्धक हैं, उनकी अपेक्षा दूसरे योगस्थान मे अगुल प्रमाणक्षेत्र के असख्यातवे भाग मे जितने आकाश-प्रदेश है उतने स्पर्धक अधिक हैं—'अगुल असखभागुत्तराइ।' इसी

---

१ असत्कल्पना से योगस्थान प्ररूपणा का स्पष्टीकरण परिशिष्ट मे देखिये।

समय बढता है, किसी समय घटता है और किसी समय वही रहता है।

ऐसी स्थिति मे जो वृद्धि और हानि होती है वह चार प्रकार की है—१ असख्यातभाग वृद्धि, २ सख्यातभाग वृद्धि, ३ सख्यात-गुण वृद्धि और ४ असख्यातगुण वृद्धि।

इसी तरह हानि के भी चार प्रकार है—१ असख्यातभाग हानि २ सख्यातभाग हानि ३ सख्यातगुण हानि और ४ असख्यातगुण हानि।

इन चारो प्रकार की वृद्धि और हानि का स्वरूप इस प्रकार है—विवक्षित किसी एक समय मे जो योगस्थान होता है, उससे आगे के समय मे क्वचित् असख्यात भागाधिक वाला योगस्थान होता है यानि विवक्षित समय के वीर्यव्यापार से आगे के समय मे असख्यात भाग अधिक वीर्यव्यापार की वृद्धि वाला योगस्थान होता है। क्वचित् सख्यात भागाधिक वृद्धि वाला योगस्थान होता है, क्वचित् सख्यात-गुणाधिक वृद्धि वाला योगस्थान होता है और क्वचित् असख्यात गुणाधिक वीर्यव्यापार वाला योगस्थान होता है।

वृद्धि के अनुरूप हानिया भी चार तरह की है—विवक्षित किसी एक समय मे जिस योगस्थान पर आत्मा है, उससे आगे के समय मे क्वचित् असख्यातभाग हीन वीर्यव्यापार वाले योगस्थान पर आत्मा जाती है। किसी समय सख्यातभागहीन योगस्थान पर, किसी समय सख्यातगुणहीन यानि विवक्षित योगस्थान की अपेक्षा सख्यात गुणहीन वीर्यव्यापर वाला जो योगस्थान है उस योगस्थान पर आत्मा जाती है और इसी प्रकार किसी समय असख्यातगुणहीन योगस्थान पर आत्मा जाती है।

इस तरह वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम की अल्पाधिकता की अपेक्षा से योगस्थान मे हानि, वृद्धि होती रहती है।

अब इन असख्यातभाग वृद्धि आदि चारो प्रकार की वृद्धि और असख्यातभाग हानि आदि चारो प्रकार की हानि निरन्तर कितने समय पर्यन्त होती हैं, इसके काल प्रमाण का निरूपण करते है—

'आवलि गुणहाणी' अर्थात् असख्यात भाग वृद्धि आदि प्रथम तीन प्रकार की वृद्धि और असख्यात भाग हानि आदि प्रथम तीन प्रकार की हानि उत्कर्ष से आवलिका के असख्यातवे भाग प्रमाण काल पर्यन्त निरन्तर हो सकती है और असख्यातगुण वृद्धि एव असख्यात गुण हानि उत्कृष्ट से निरन्तर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त हो सकती है। जिसका आशय यह है—

तथाप्रकार के वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम होने पर विवक्षित योगस्थान से यदि आत्मा असख्यातभागवृद्ध अन्य-अन्य योगस्थान मे प्रतिसमय जाये तो उत्कृष्ट से आवलिका के असख्यातवें भाग समय पर्यन्त निरन्तर जाती है।

इसी प्रकार से प्रतिसमय पूर्व-पूर्व से उत्तरोत्तर सख्यात भाग और सख्यात गुणे बढते हुए योगस्थान पर आत्मा वृद्धि प्राप्त करे तो भी आवलिका के असख्यातवे भाग मे जितने समय होते है, उतने समय पर्यन्त निरन्तर वृद्धि को प्राप्त करती है। इसी तरह क्षयोपशम मद, मदतर और अधिक मद होने पर प्रति समय विवक्षित योगस्थान से असख्यातवे भाग घटते-घटते अन्य-अन्य योगस्थान मे आत्मा जाये तो आवलिका के असख्यातवे भाग प्रमाण समय पर्यन्त निरन्तर जाती है।

पूर्वोक्तानुसार पूर्व-पूर्व समय की अपेक्षा उत्तरोत्तर समय मे सख्यातभाग हीन और सख्यातगुणहीन योगस्थानो मे निरन्तर जाये तो भी आवलिका के असख्यातवे भाग पर्यन्त जाती है।

यह तो हुआ असख्यातभागवृद्ध, सख्यातभागवृद्ध और सख्यातगुणवृद्ध तथा इन्ही तीनो हानियो के समय का प्रमाण किन्तु

असख्यातगुणवृद्ध एव असख्यातगुणहीन योगस्थान निरन्तर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त अनुक्रम से बढता और घटता है।

असख्यातगुण वृद्धि आदि चार प्रकार की वृद्धियो एव असख्यात-गुणहानि आदि चार प्रकार की हानियो में से प्रत्येक का उत्कृष्ट से उपर्युक्त काल है, किन्तु जघन्य से प्रत्येक वृद्धि और हानि का काल एक समय प्रमाण है। अर्थात् चारो प्रकारो मे से कोई भी वृद्धि एक समय प्रमाण होती है। तत्पश्चात चाहे उसी योगस्थान में स्थिर हो अथवा अन्य वृद्धि वाले योगस्थान मे जाये या हानि वाले योगस्थान में जाये। इसी तरह चार प्रकार की हानियो में की कोई भी हानि हो तो वह एक समय प्रमाण होती है। फिर चाहे उसी योगस्थान मे स्थिर हो अथवा बढते हुए योगस्थान में जाये या अन्य हानि वाले योगस्थान मे जाये।

इस प्रकार से वृद्धि प्ररूपणा का कथन जानना चाहिये। अब वृद्धि या हानि के सिवाय किसी भी योगस्थान में जीव कितने काल तक स्थिर रह सकता है। इसको बतलाने के लिए काल प्ररूपणा एव उनका काल मान वाले स्थानो के अल्पबहुत्व का निर्देश करते है।

काल और योगस्थान-अल्पबहुत्व प्ररूपणा

जोगट्ठाणठिईओ चउसमयादट्ठ दोण्णि जा तत्तो।
अट्ठगुभय ठिइयाओ जहा परम सख गुणियाण ॥११॥

शब्दार्थ—**जोगट्ठाणठिईओ**—योगस्थानो मे स्थिति, **चउसमयादट्ठ**—चार समय से आठ समय, **दोण्णि**—दो, **जा**—पर्यन्त, **तत्तो**—उसके पश्चात्, **अट्ठ-गुभय ठिइयाओ**—आठ समय वाले से दोनो ओर स्थित, **जहा**—यथाक्रम से, **परम सख गुणियाण**—आगे-आगे के असख्यात गुणे।

गाथार्थ— योगस्थानो में चार से आठ समय पर्यन्त और दो समय पर्यन्त स्थिति होती है। आठ समय काल वाले से दोनो

ओर के योगस्थान अनुक्रम से असख्यात गुणे है ।

विशेषार्थ—गाथा के पूर्वार्ध में किसी भी योगस्थान में उत्कृष्ट से जीव के अवस्थान की समय-मर्यादा और उत्तरार्ध मे उन-उन प्रमाण वाले योगस्थानो के अल्पवहुत्व का निर्देश किया है ।

पहले अवस्थान की समय मर्यादा का निरूपण करते है—किसी भी योगस्थान में जीव के अवस्थान की स्थिति को इस प्रकार बतलाया है कि योगस्थानो मे जीव चार समय से लेकर समय-समय वढते हुए आठ समय पर्यन्त और तत्पश्चात् समय-समय घटते-घटते दो समय पर्यन्त स्थिर होता है । अर्थात् उस योगस्थान में उत्कृष्ट से चार से लेकर आठ समय तक वृद्धि की अपेक्षा और हानि की अपेक्षा आठ से लेकर दो समय तक स्थित रह सकता है। जिसका विशद स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पहले से लेकर असख्यात योगस्थान जो कि अपर्याप्तावस्था (करण-अपर्याप्त अवस्था) मे होते हैं, उनके किसी भी एक योगस्थान पर आत्मा जघन्य या उत्कृष्ट से एक समय ही स्थिर रह सकती है । इसका कारण यह है कि अपर्याप्त अवस्था में पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय मे अवश्य असख्यातगुण वढते हुए योगस्थान मे जाता है । इसीलिये पर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया के योग्य जघन्य योगस्थान से प्रारम्भ करते हैं । वह इस प्रकार—

अल्पातिअल्प वीर्यव्यापार वाले पर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव के जघन्य योगस्थान से लेकर सूचिश्रेणि के असख्यातवें भाग में जितने आकाशप्रदेश होते है उतने योगस्थानो मे के किसी भी योगस्थान मे आत्मा अधिक-से-अधिक चार समय पर्यन्त, उसके वाद के सूचि श्रेणी के असख्यातवे भाग में रहे हुए आकाश प्रदेश प्रमाण योगस्थानो में के किसी भी योगस्थान में आत्मा पाच समय, उसके वाद के सूचिश्रेणि के असख्यातवे भागगत आकाश प्रदेश प्रमाण योगस्थानो मे छह समय तक, उसके वाद के सूचिश्रेणि के असख्यातवे

भाग के आकाशप्रदेश प्रमाण योगस्थानो में सात समय तक और उसके वाद के सूचिश्रेणि के असख्यातवे भाग के आकाशप्रदेश प्रमाण योगस्थानो मे आठ समय पर्यन्त अवस्थित रह सकती है।

उसके बाद के सूचिश्रेणि के असख्यातवे भाग मे रहे हुए आकाश प्रदेश प्रमाण योगस्थानो में के किसी भी योगस्थान पर सात समय तक, उसके बाद के सूचिश्रेणि के असख्यातवे भाग के आकाश प्रदेश प्रमाण योगस्थानो मे के किसी भी योगस्थान पर छह समय तक, उसके वाद के सूचिश्रेणि के असख्यातवे भाग के आकाश प्रदेश प्रमाण योगस्थानो मे के किसी भी योगस्थान पर पाच समय तक, उसके वाद के सूचिश्रेणि के अमख्यातवे भाग के आकाश प्रदेश प्रमाण योगस्थानो मे के किसी भी योगस्थान पर चार समय तक, उसके बाद के सूचिश्रेणि के असख्यातवे भाग के आकाश प्रदेश प्रमाण योगस्थानो मे के किसी भी योगस्थान पर तीन समय तक और उसके वाद के उत्कृष्ट योगस्थान पर्यन्त के सूचिश्रेणि के असख्यातवे भाग मे जितने प्रदेश होते है उतने योगस्थानो में के किसी भी एक योगस्थान मे आत्मा अधिक से अधिक दो समय अवस्थित रह सकती है।

इस प्रकार जिसका जितना काल कहा है उतने काल वहाँ रह-कर उसके बाद अन्य-अन्य योगस्थान में जाती है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये तथा किसी भी योगस्थान मे अवस्थित रहने का जघन्य काल एक समय का है।

इस प्रकार उन योगस्थानो मे जीव के अवस्थान का काल जानना चाहिये। अब उन चार आदि समयो के काल मान वाले योगस्थानो का अल्पबहुत्व बतलाते है—

जिन योगस्थानो मे के किसी भी योगस्थान मे आत्मा आठ समय तक अवस्थित रहती है वे अल्प है। इसका कारण यह है कि सुदीर्घ-कालवर्ती योगस्थान जीव स्वभाव से अल्प ही होते है। उन आठ समय काल वाले योगस्थानो की अपेक्षा उभय पार्श्ववती यानि आठ

समय कालमान के पूर्व और उत्तरवर्ती सात समय काल मान वाले दोनो प्रत्येक असख्यात—असख्यात गुणे है, किन्तु स्वस्थान मे परस्पर दोनो तुल्य हैं। इनकी अपेक्षा दोनो बाजुओ के छह समय काल मान वाले योगस्थान असख्यातगुणे हैं और स्वस्थान मे परस्पर तुल्य है। इनकी अपेक्षा उभय पार्श्ववर्ती पाच समय काल मान वाले योगस्थान असख्यातगुणे हैं और स्वस्थान मे तुल्य है। उनकी अपेक्षा दोनो बाजुओ के चार समय काल मान वाले असख्यातगुणे हैं और स्वस्थान मे तुल्य हैं। उनकी अपेक्षा तीन समय काल मान वाले योगस्थान असख्यात गुणे है और उनसे दो समय काल मान वाले असख्यात गुणे है।

इस प्रकार से योगस्थानो की अल्प-बहुत्वप्ररूपणा का स्वरूप जानना चाहिये,[1] अब उन योगस्थानो मे वर्तमान सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त, अपर्याप्त एकेन्द्रिय आदि जीवो के जघन्य और उत्कृष्ट योग के अल्प-बहुत्व की प्ररूपणा करते हैं।

जीवस्थानो मे योग की अल्प-बहुत्व प्ररूपणा

सुहुमेयराइयाण जहन्नउक्कोस पज्जपज्जाणं।
आसज्ज असखगुणाणि होति इह जोगठाणाणि ॥१२॥

शब्दार्थ—**सुहुमेयराइयाण**—सूक्ष्म और इतर (बादर) आदि के, **जहन्नउक्कोस**—जघन्य और उत्कृष्ट, **पज्जपज्जाण**—पर्याप्तको और अपर्याप्तको के, **आसज्ज**—अपेक्षा, **असखगुणाणि**—असख्यातगुणे, **होति**—होते हैं, **इह**—यहाँ, **जोगठाणाणि**—योगस्थान।

गाथार्थ—सूक्ष्म, बादर, अपर्याप्त और पर्याप्त एकेन्द्रियादि के जघन्य और उत्कृष्ट योगस्थान अनुक्रम से पूर्व की अपेक्षा असख्यातगुणे होते है।

---

१ सुगमता से समझने के लिये डमरूक की आकृति द्वारा इसका स्पष्टीकरण परिशिष्ट मे देखिये।

विशेषार्थ—यहाँ समस्त ससारी जीवो के जघन्य-उत्कृष्ट योग-स्थानो का अनुक्रम से अल्प-बहुत्व बतलाया है कि किसकी अपेक्षा किस जीव के योगस्थान अल्प हैं या अधिक है। जिसकी प्ररूपणा इस प्रकार है—

इस ससार मे सूक्ष्म और बादर तथा पर्याप्तक और अपर्याप्तक एकेन्द्रियादि जीवो के जघन्य और उत्कृष्ट योगस्थान पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर असख्यातगुण-असख्यातगुण होते है। वे इस प्रकार है—

१ भव के प्रथम समय मे वर्तमान लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म साधारण एकेन्द्रिय जीव का जघन्य योग सबसे अल्प होता है। उससे—

२ भव के प्रथम समय मे वर्तमान लब्धि-अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय का जघन्य योग असख्यात गुणा है। उससे—

३ भव के प्रथम समय मे वर्तमान लब्धि-अपर्याप्त द्वीन्द्रिय का जघन्य योग असख्यात गुणा है। उससे—

४ भव के प्रथम समय मे वर्तमान लब्धि-अपर्याप्त त्रीन्द्रिय का जघन्य योग असख्यात गुणा है। उससे—

५ भव के प्रथम समय मे वर्तमान लब्धि-अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय का जघन्य योग असख्यात गुणा है। उससे—

६ भव के प्रथम समय मे वर्तमान लब्धि-अपर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय का जघन्य योग असख्यात गुणा है। उससे—

७ भव के प्रथम समय मे वर्तमान लब्धि-अपर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय का जघन्य योग असख्यात गुणा है।

इस प्रकार से भव के प्रथम समय मे वर्तमान लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय से लेकर सज्ञी पचेन्द्रिय पर्यन्त के सात जीव-भेदो के जघन्य योग का पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर क्रमश असख्यात गुणित रूप मे अल्प-बहुत्व बतलाने के पश्चात अब यथाक्रम से शेष जीव-भेदो के योग का अल्प-बहुत्व बतलाते है—

८ (लब्धि-अपर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय के जघन्य योग से) लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा है। उससे—

९ लब्धि-अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा है। उससे—

१० पर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव का जघन्य योग असख्यात गुणा है। उससे—

११ पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय जीव का जघन्य योग असख्यात गुणा है। उससे—

१२ पर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा है। उससे—

१३ पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय जीव का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा है। उसमे—

१४ लब्धि-अपर्याप्त द्वीन्द्रिय जीव का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा है। उससे—

१५ लब्धि-अपर्याप्त त्रीन्द्रिय जीव का उत्कृष्ट योग असख्यात गृणा है। उससे—

१६ लब्धि-अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय जीव का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा है। उससे—

१७ लब्धि-अपर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय जीव का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा है। उससे—

१८ लब्धि-अपर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय जीव का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा है। उससे—

१९ पर्याप्त द्वीन्द्रिय का जघन्य योग असख्यात गुणा है। उससे—

२० पर्याप्त त्रीन्द्रिय का जघन्य योग असख्यात गुणा है। उससे—

२१ पर्याप्त चतुरिन्द्रिय का जघन्य योग असख्यात गुणा है। उससे—

२२ पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय का जघन्य योग असख्यात गुणा है। उससे—

२३ पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय का जघन्य योग असख्यात गुणा है। उससे—

२४ पर्याप्त द्वीन्द्रिय का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा है। उससे—

२५ पर्याप्त त्रीन्द्रिय का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा है। उससे—

२६ पर्याप्त चतुरिन्द्रिय का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा है। उससे—

२७ पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा है।

इस प्रकार लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव से लेकर पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय पर्यन्त के जीवो के जघन्य और उत्कृष्ट योग का अल्प-बहुत्व जानना चाहिये। किन्तु सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीव, देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारक के भेद से चार प्रकार के है। इनके उत्कृष्ट योग के अल्प-बहुत्व का निर्देश इस प्रकार जानना चाहिये—

२८ पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय के उत्कृष्ट योग से अनुत्तरवासी देवो का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा है। उससे—

२९ ग्रैवेयक देवो का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा है। उससे—

३० भोगभूमिज-अकर्मभूमिज तिर्यंच तथा मनुष्यो का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा है। उससे—

३१ आहारक शरीरी मनुष्य का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा है। उससे—

३२ शेष देव, नारक, तिर्यंच और मनुष्यो का योग असख्यात गुणा है।

इस प्रकार से योग सबधी समस्त ससारी जीवो के योग का अल्प-बहुत्व जानना चाहिये। यहाँ असख्यात गुण मे ग्रहण की गई गुणक

सख्या सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम के असख्यातवे भागगत प्रदेश राशि प्रमाण तथा सर्वत्र पर्याप्त का अर्थ करणपर्याप्त जानना चाहिये ।[1]

इस प्रकार से योग सबधी समस्त प्ररूपणाओ का विस्तार से वर्णन करने के अनन्तर अब ससारी जीवो के द्वारा इस योगशक्ति से होने वाले कार्य का वर्णन करते है ।

जीवो द्वारा योग से होने वाला कार्य

जोगणुरूव जीवा परिणामतीह गिण्हिउ दलिय ।
भासाणुप्पाणमणोचिय च अवलबए दव्व ॥१३॥

शब्दार्थ—**जोगणुरूव**—योग के अनुरूप, **जीवा**—जीव, **परिणामतीह**—परिणमित करते है, **गिण्हिउ**—ग्रहण करके, **दलिय**—दलिक को, **भासाणुप्पाणमणोचिय**—भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन, **च**—और, **अवलबए**—अवलवन लेते है, **दव्व**—(पुद्गल) द्रव्य का ।

गाथार्थ—योग के अनुरूप जीव दलिको औदारिकादि पुद्गलो को ग्रहण करके औदारिक आदि शरीर रूप मे परिणमित करते है और भाषा, श्वासोच्छ्वास एव मन के योग्य पुद्गलो का अवलवन लेते है ।

विशेषार्थ—ससारी जीवो मे विद्यमान जिस योगशक्ति का पूर्व मे विस्तार से वर्णन किया गया है, उस योगशक्ति के द्वारा जीव द्वारा होने वाले कार्य का इस गाथा मे निर्देश किया है—

'जोगणुरूव जीवा गिण्हिउ दलिय ।'

अर्थात् इस ससार मे जीव योग के अनुरूप यानि जघन्य योग मे वर्तमान जीव अल्प पुद्गल स्कन्धो को ग्रहण करते है, मध्यम योग मे वर्तमान मध्यम और उत्कृष्ट योग मे वर्तमान उत्कृष्ट—अधिक

---

१ जीव-भेदो विषयक योगस्थान के अल्प-वहुत्व का दर्शक प्रारूप परिशिष्ट मे देखिए ।

पुद्गल स्कन्धो को ग्रहण करते है। इस प्रकार लोक मे विद्यमान पहले औदारिकादि शरीर योग्य वर्गणाओ मे से योग का अनुसरण करके पहले पुद्गल स्कन्धो को ग्रहण करते है, उसके पश्चात् उन्हे औदारिकादि शरीर रूप मे परिणमित करते है।

इसके साथ ही भाषा, श्वासोच्छ्वास और मनोयोग्य वर्गणाओ मे से पुद्गल स्कन्धो को ग्रहण करते है फिर उन्हे भाषा, श्वासोच्छ्वास और मन रूप मे परिणमित करते है तथा परिणमित करके उन पुद्गलो के विसर्ग—छोडने मे कारणभूत सामर्थ्य की प्राप्ति के लिये उन्ही पुद्गलो का अवलबन लेते है—सहायता लेते है। तत्पश्चात् उन पुद्गलो के अवलबन से उत्पन्न वीर्य-सामर्थ्यविशेष के द्वारा उनको छोड देते है, ऐसा किये बिना उनको छोड देना सम्भव नही है। जैसे बिल्ली ऊची छलाग लगाने के लिये पहले अपने शरीर को सकुचित करने के माध्यम से अवलबन लेती है और उसके बाद उस सकोच के द्वारा प्राप्त बल से ऊची छलाग लगा सकती है। इसके सिवाय अन्यथा कूद नही सकती है—छलाग नही लगा सकती है। अथवा किसी व्यक्ति को लम्बा कूदना हो तब वह पहले कुछ पीछे हटता है और उसके पश्चात् ही छलाग लगा सकता है। ऐसा किये बिना यथोचित छलाग नही लगा सकता है। इसी प्रकार भाषादि वर्गणाओ को छोडने के लिये उन्ही पुद्गलो का अवलबन लेते है और फिर उनके अवलवन से उत्पन्न हुए वीर्य के द्वारा उन पुद्गलो को छोड सकते है। इसका कारण यह है कि ससारी जीवो का वीर्य पुद्गलो के निमित्त से उत्पन्न होता है, प्रवर्तित होता है।

उपर्युक्त प्रसग मे यह जानना चाहिये कि ससारी जीव का योग द्वारा औदारिकादि शरीरो के योग्य पुद्गलो के ग्रहण और परिणमन का जो सकेत किया है, उसमे तो तत्तत् बधननामकर्म कारण है जिससे ससारी जीव उन औदारिक आदि शरीरो के पुद्गलो को अपने साथ सयुक्त कर लेता है, किन्तु भाषा, श्वासोच्छ्वास और मनोवर्गणाओ

का ग्रहण और उस-उस रूप मे परिणमित कर उन्हे छोड देने का कारण यह है कि जीव के साथ सबध होने मे हेतुभूत उनके नाम वाला कोई बधननामकर्म नही है। जिससे भाषा, श्वासोच्छ्वास और मन के योग्य वर्गणाओ का पूर्व के समय मे ग्रहण और उसके बाद के समय मे छोडना, इस प्रकार से ग्रहण और छोडने का क्रम चलता रहता है।

ससारी जीवो द्वारा योग से होने वाला कार्य जब योगानुरूप पुद्गल स्कन्धो का ग्रहण, परिणमन करना और अवलबन लेना है तब यह जिज्ञासा होती है कि कौन से पुद्गल तो ग्रहणयोग्य हैं और कौन से पुद्गल ग्रहणयोग्य नही है। इसलिये अब ग्रहणयोग्य और अग्रहणयोग्य पौद्गलिक वर्गणाओ का निरूपण करते हैं।

पौद्गलिक वर्गणाओ का निरूपण

एगपएसाइ अणतजाओ होऊण होंति उरलस्स।
अज्जोगतरियाओ उ वग्गणाओ अणताओ ॥१४॥
ओरालविउव्वाहार तेयभासाणुपाणमणकम्मे।
अह दव्व वग्गणाण कमो विवज्जासओ खित्ते ॥१५॥

शब्दार्थ—**एगपएसाई**—एक प्रदेश से लेकर, **अणतजाओ**—अनन्त परमाणुओ से निष्पन्न, **होऊण**—हुई, **होंति**—होती हैं, **उरलस्स**—औदारिक शरीरयोग्य, **अज्जोगतरियाओ**—अग्रहणयोग्य से अतरित, **उ**—और, **वग्गणाओ**—वर्गणाये, **अणताओ**—अनन्त।

ओराल—औदारिक, **विउव्वाहार**—वैक्रिय, आहारक, **तेय**—तैजस्, **भासाणुपाण**—भाषा, श्वासोच्छ्वास, **मण**—मन, **कम्मे**—कार्मण, **अह**—अव **दव्व**—द्रव्य की अपेक्षा, **वग्गणाण**—वर्गणाओ का, **कमो**—क्रम, **विवज्जासओ**—विपरीत, **खित्ते**—क्षेत्रापेक्षा।

गाथार्थ—एक प्रदेश से लेकर अनन्त परमाणुओ से निष्पन्न हुई वर्गणाओ का अतिक्रमण करके औदारिक शरीर ग्रहण-

प्रायोग्य वर्गणा होती है। तत्पश्चात् अग्रहणप्रायोग्य जिनके बीच मे रही हुई है ऐसी अनन्त वर्गणाएँ होती है।

औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस्, भापा, श्वासोच्छ्वास, मन और कार्मण विपयक आठ ग्रहण प्रायोग्य वर्गणाये है। इन वर्गणाओ के द्रव्य की अपेक्षा उत्तरोत्तर परमाणु अधिक होते है और क्षेत्र की अपेक्षा विपरीत क्रम है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओ मे जीव द्वारा ग्रहण योग्य वर्गणाओ के स्वरूप का वर्णन किया गया है कि जीव द्वारा कितने परमाणुओ वाली वर्गणाये ग्रहण की जाती है। इसको स्पष्ट करते हुए कहा है—

'एगपएसाइ अणतजाओ होऊण होंति उरलस्स' अर्थात् एक परमाणु से लेकर यावत् अनन्त परमाणुओ से निष्पन्न वर्गणाओ का अतिक्रमण करने के अनन्तर प्राप्त होने वाली वर्गणाये औदारिक शरीर के योग्य होती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि एक परमाणु रूप वर्गणा, दो परमाणुओ की बनी हुई वर्गणा, तीन परमाणुओ की बनी हुई वर्गणा, इस प्रकार क्रम से बढते हुए सख्यात परमाणु की बनी वर्गणाये, असख्यात और अनन्त परमाणु की बनी हुई वर्गणाये जीव के ग्रहणयोग्य नही है, किन्तु अनन्तानन्त परमाणुओ की बनी हुई वर्गणाओ मे से कितनी ही ग्रहणयोग्य है, और कितनी ही ग्रहणयोग्य नही है।

इन वर्गणाओ मे जो परमाणु रूप वर्गणा है उसे परमाणु वर्गणा कहते है। यानि इस जगत मे जितने अलग-अलग परमाणु है, वे प्रत्येक वर्गणा रूप है। यद्यपि कम-से-कम दो और अधिक से अधिक अनन्तानन्त परमाणुओ के पिंड को वर्गणा कहा जाता है। किन्तु इन अलग-अलग परमाणुओ मे भी प्रत्येक परमाणु अनन्त पर्याय युक्त है तथा उन परमाणुओ मे पिंड रूप मे परिणत होने की योग्यता—शक्ति है, जिससे उन प्रत्येक अलग-अलग परमाणुओ मे भी वर्गणा शब्द का

व्यवहार किया जाता है। ये परमाणु रूप वर्गणाये अनन्त है और सपूर्ण लोक मे व्याप्त है।

दो परमाणुओ के समुदाय रूप द्विपरमाणुस्कन्ध वर्गणा कहलाती है। वे भी अनन्त है और सपूर्ण लोक मे व्याप्त हैं। तीन परमाणु का पिंड रूप त्रिपरमाणु स्कन्ध वर्गणा कहलाती हैं। इसी प्रकार चतु -परमाणुस्कन्ध वर्गणा का स्वरूप जानना चाहिये। इस तरह एक-एक बढते हुए सख्यात परमाणु की बनी हुई सख्यात परमाणुस्कन्ध वर्गणा, असख्यात परमाणु की समुदाय रूप असख्यात परमाणुस्कन्ध वर्गणा और अनन्त परमाणुओ की पिंड रूप एक-एक वढते हुए परमाणुओ की अनन्त वर्गणाये होती है।

ये सभी प्रत्येक वर्गणाये स्वजाति की अपेक्षा अनन्त है और सपूर्ण लोक मे व्याप्त है।

मूल से लेकर अर्थात् परमाणुवर्गणा से लेकर इन सभी वर्गणाओ मे परमाणु अल्प होने से उनका स्थूल परिणमन होता है, जिससे वे जीव के ग्रहण योग्य नही होती हैं तथा अनन्तानन्त परमाणु की समुदाय रूप अनन्तानन्त परमाणुओ से बनी हुई भी वर्गणाये ग्रहण योग्य नही होती है। किन्तु जिन वर्गणाओ मे अभव्य से अनन्तगुण और सिद्धो के अनन्तवे भाग प्रमाण परमाणु होते है, वे वर्गणाये जीव द्वारा ग्रहण योग्य होती है।

जीव द्वारा ग्रहणप्रायोग्य वर्गणाये इस प्रकार है—

१ औदारिकशरीर वर्गणा, २ वैक्रियशरीर वर्गणा, ३ आहारक-शरीर वर्गणा, ४ तैजस्शरीर वर्गणा, ५ भाषावर्गणा, ६ श्वासो-च्छ्वासवर्गणा, ७ मनोवर्गणा और ८ कार्मणवर्गणा।

औदारिकशरीर वर्गणा

जीव ग्रहणप्रायोग्य पूर्वोक्त आठ वर्गणाओ मे पहली वर्गणा का नाम औदारिकशरीर वर्गणा है। जीवग्राह्य वर्गणाओ के क्रम में

और यह अनन्तवा भाग क्रमश बडा होता जाता है। क्योकि पूर्व-पूर्व ग्रहणप्रायोग्य वर्गणाये अनन्त गुण परमाणु वाली होती है।

औदारिक शरीर ग्रहण योग्य उत्कृष्ट वर्गणा की अपेक्षा एक अधिक परमाणु जिन स्कन्धो मे हो वैसे स्कन्ध औदारिक शरीर के ग्रहण योग्य नही होते है, वैसे स्कन्धो को ग्रहण करके उनको औदारिक शरीर रूप मे परिणमित नही करता है। यह जघन्य अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा है, दो अधिक परमाणु वाली दूसरी अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा है, तीन अधिक परमाणु वाली तीसरी अग्रहणप्रायोग्य वर्गणा है। इस प्रकार एक-एक अधिक परमाणु वाली वर्गणाये वहाँ तक कहना चाहिये जब उत्कृष्ट अग्रहणप्रायोग्य वर्गणा हो। जघन्य वर्गणा की अपेक्षा उत्कृष्ट वर्गणा अनन्त गुण है। अर्थात् जघन्य वर्गणा मे जितने परमाणु हैं उनको अभव्यो से अनन्त गुणा जो अनन्त है उस अनन्त से गुणा करे और उसका जितना गुणनफल हो उतने परमाणु उत्कृष्ट अग्रहण प्रायोग्य वर्गणा मे होते हैं।

इसी प्रकार अन्य सभी अग्रहणप्रायोग्य वर्गणाओ के लिये भी समझना चाहिये कि अग्रहणप्रायोग्य वर्गणाओ मे अपनी-अपनी जघन्य वर्गणा मे जितने परमाणु हो उनको अभव्य से अनन्त गुणे अनन्त से गुणा करने पर जो प्रमाण हो उतने परमाणु उसकी उत्कृष्ट अग्रहण प्रायोग्य वर्गणा मे होते है।

इन सभी वर्गणाओ को औदारिक शरीर के अग्रहण प्रायोग्य इस-लिये माना जाता है कि ये सभी वर्गणाये औदारिक शरीर रूप मे परिणमित नही हो सकती हैं। क्योकि अधिक परमाणु वाली होने से उनका परिणमन सूक्ष्म होता है और वैसे सूक्ष्म परिणाम वाली वर्गणाये औदारिक शरीर रूप मे परिणमित नही होती हैं एव इसी तरह वैक्रियशरीर रूप मे भी परिणमित नही हो पाती हैं, क्योकि उसकी अपेक्षा अल्प परमाणु वाली होने से उनका परिणमन स्थूल होता है और वैसे स्थूल परिणाम वाली वर्गणाये वैक्रियशरीर रूप मे

परिणमित नही हो सकती है। जिससे वे वैक्रिय के प्रति भी अग्रहण-प्रायोग्य है।

यही हेतु आगे भी अन्य अग्रहणप्रायोग्य वर्गणाओ की अग्रहणता के लिये जानना चाहिये।

वैक्रियशरीर वर्गणा

पूर्वोक्त अग्रहणप्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा की अपेक्षा एक अधिक परमाणु वाली वर्गणा वैक्रियशरीर योग्य जघन्य ग्रहण वर्गणा है। वैसी वर्गणाओ को ग्रहण करके जीव वैक्रियशरीर रूप में परिणमित करता है। दो अधिक परमाणु के स्कन्ध रूप दूसरी वैक्रियशरीर की ग्रहण योग्य वर्गणा होती है। इस तरह एक-एक अधिक परमाणु वाली वैक्रियशरीर विषयक ग्रहण योग्य वर्गणा वहाँ तक कहना चाहिये, यावत् उत्कृष्ट वर्गणा होती है और यह उत्कृष्ट वर्गणा जघन्य वर्गणा से विशेषाधिक परमाणु वाली है। अर्थात् जघन्य वर्गणा मे जितने परमाणु है उनका अनन्तवा भाग उत्कृष्ट वर्गणा मे अधिक है।

वैक्रियशरीरप्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा से एक अधिक परमाणु वाली जघन्य अग्रहणयोग्य वर्गणा है। दो अधिक परमाणु वाली दूसरी अग्रहणयोग्य वर्गणा है। इसी तरह एक-एक अधिक परमाणु वाली वर्गणा वहाँ तक कहना चाहिये यावत् उत्कृष्ट अग्रहण वर्गणा हो। जघन्य अग्रहण वर्गणा से उत्कृष्ट अग्रहण वर्गणा में अनन्त गुण परमाणु होते है। यहाँ गुणक राशि अभव्य से अनन्त गुण और सिद्धो के अनन्तवे भाग प्रमाण समझना चाहिये।

आहारकशरीर वर्गणा

उत्कृष्ट अग्रहणप्रायोग्य वर्गणा से एक अधिक परमाणु की स्कन्ध रूप आहारकशरीर योग्य जघन्य ग्रहणवर्गणा होती है। दो अधिक परमाणु की स्कन्ध रूप दूसरी आहारकशरीर विषयक ग्रहणप्रायोग्य वर्गणा होती है। इस प्रकार एक-एक अधिक-अधिक परमाणु वाली वर्गणाये वहाँ तक कहना चाहिये, जब आहारकशरीर ग्रहणप्रायोग्य

उत्कृष्ट वर्गणा हो। जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट वर्गणा मे अनन्त भागाधिक परमाणु होते है।

उस आहारकशरीर ग्रहणप्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा की अपेक्षा एक अधिक परमाणु की स्कन्ध रूप अग्रहणप्रायोग्य जघन्य वर्गणा होती है। दो अधिक परमाणु की स्कन्ध रूप दूसरी अग्रहणप्रायोग्य वर्गणा होती है। इस प्रकार एक-एक अधिक-अधिक परमाणु वाली वर्गणा वहाँ तक कहना चाहिये यावत् उत्कृष्ट अग्रहणप्रायोग्य वर्गणा हो। जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट अग्रहण वर्गणा मे अनन्त गुणे परमाणु होते है।

तैजस्शरीर वर्गणा

उक्त उत्कृष्ट अग्रहण प्रायोग्य वर्गणा से एक अधिक परमाणु वाली तैजस्शरीरयोग्य जघन्य वर्गणा होती है। दो अधिक परमाणु वाली दूसरी तैजस्शरीरयोग्य ग्रहण वर्गणा होती है। इस तरह एक-एक अधिक परमाणु वाली तैजस्शरीर विषयक ग्रहणप्रायोग्य वर्गणाये वहाँ तक कहना चाहिये यावत् उसकी उत्कृष्ट वर्गणा हो। जघन्य वर्गणा की अपेक्षा उत्कृष्ट वर्गणा मे विशेषाधिक अनन्तवे भाग अधिक परमाणु होते है।

तैजस्शरीरग्रहणप्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा से एक अधिक परमाणु की स्कन्ध रूप जघन्य अग्रहण प्रायोग्य वर्गणा होती है। दो अधिक परमाणु वाली दूसरी अग्रहण प्रायोग्य वर्गणा होती है। इस प्रकार एक-एक अधिक-अधिक परमाणु की स्कन्ध रूप वर्गणाये वहाँ तक कहना चाहिये यावत् उत्कृष्ट अग्रहणप्रायोग्य वर्गणा हो। जघन्य से उत्कृष्ट अग्रहण वर्गणा मे अनन्त गुण परमाणु होते हैं। अग्रहणप्रायोग्य सभी वर्गणाओ मे गुणक राशि अभव्य से अनन्त गुण और सिद्धो के अनन्तवे भाग प्रमाण समझना चाहिये।

भाषा वर्गणा

जीव जिन पुद्गलो को ग्रहण करके सत्यादि भाषा रूप मे परिणमित करके और अवलबन लेकर छोडता है, उसे भाषाप्रायोग्य वर्गणा कहते है।

पूर्वोक्त तैजस्‌शरीरअग्रहणप्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा से एक अधिक परमाणु की स्कन्ध रूप जघन्य भाषा प्रायोग्य वर्गणा होती है। दो अधिक परमाणु वाली दूसरी भाषा योग्य ग्रहण वर्गणा है। इस तरह एक-एक अधिक परमाणु की स्कन्ध रूप भाषा प्रायोग्य ग्रहण वर्गणायें वहाँ तक कहना चाहिये यावत् उसकी (भाषाप्रायोग्यग्रहणवर्गणा की) उत्कृष्ट वर्गणा हो। जघन्य वर्गणा से उसके अनन्तवें भाग प्रमाण परमाणु उत्कृष्ट वर्गणा मे अधिक होते है।

उत्कृष्ट भाषाप्रायोग्यग्रहणवर्गणा से एक अधिक परमाणु वाली अग्रहणप्रायोग्य जघन्य वर्गणा होती है। दो अधिक परमाणु की स्कन्ध रूप दूसरी अग्रहण प्रायोग्य वर्गणा होती है। इस प्रकार एक-एक अधिक करते हुए वहाँ तक कहना चाहिये कि जहाँ उत्कृष्ट अग्रहण वर्गणा हो। जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट अग्रहण वर्गणा मे अनन्त गुणे परमाणु होते है।

श्वासोच्छ्‌वास वर्गणा

जीव जिन पुद्‌गलो को ग्रहण करके श्वासोच्छ्‌वास रूप मे परिणमित करके उनका अवलबन लेकर छोड देता है, वह श्वासोच्छ्‌वास (प्राणापान) वर्गणा है।

पूर्व अग्रहणप्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा की अपेक्षा एक अधिक परमाणु की स्कन्ध रूप श्वासोच्छ्‌वासग्रहणप्रायोग्य जघन्य वर्गणा होती है। दो अधिक परमाणु की स्कन्ध रूप दूसरी प्राणापान (श्वासोच्छ्‌वास) योग्य ग्रहण वर्गणा होती है। इस प्रकार एक-एक अधिक करते हुए वहाँ तक कहना चाहिये कि अग्रहणप्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा हो। जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट वर्गणा अपने अनन्त भागाधिक परमाणु वाली होती है।

उस प्राणापानयोग्यग्रहण वर्गणा से एक अधिक परमाणु की स्कन्ध रूप अग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है। दो अधिक परमाणु की स्कन्ध रूप दूसरी अग्रहणप्रायोग्य वर्गणा होती है। इस तरह एक-

इस तरह से जीव द्वारा अग्रहण एव ग्रहण योग्य आठ-आठ वर्गणाओ का निरूपण करने के बाद अब इन प्रत्येक वर्गणा मे परमाणुओ एवम् उनके अवगाह क्षेत्र के अल्पबहुत्व का निर्देश करते है—

जिस क्रम से ऊपर औदारिक आदि वर्गणाओ का निरूपण किया है उस क्रम से उन वर्गणाओ मे उत्तरोत्तर पुद्गल परमाणु बढते जाते है। जो इस प्रकार जानने चाहिये—

औदारिकशरीर वर्गणाओ मे अन्य वर्गणाओ की अपेक्षा परमाणु अल्प है। उनसे वैक्रियवर्गणाओ मे अनन्तगुणे परमाणु है। उनसे आहारकवर्गणाओ मे परमाणु अनन्तगुणे है। उनकी अपेक्षा तैजस् शरीर योग्य वर्गणाओ मे अनन्तगुणे परमाणु है। इसी प्रकार भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन और कर्म योग्य वर्गणाओ मे अनुक्रम से अनन्त-अनन्त गुण परमाणु होते है।

पूर्वोक्त कथन तो द्रव्यापेक्षा है किन्तु 'विवज्जासओखित्ते' अर्थात् क्षेत्र के विपय मे विपरीत क्रम समझना चाहिये, और वह इस प्रकार कार्मण वर्गणा का अवगाहन क्षेत्र सबसे अल्प है। उसकी अपेक्षा मन प्रायोग्य वर्गणा का अवगाहन क्षेत्र असख्यात गुणा है यानि कर्मयोग्य एक वर्गणा जितने आकाशप्रदेश को अवगाहित करके रहती है, उससे असख्यात गुणे आकाश प्रदेश को अवगाहित करके मन प्रायोग्य एक वर्गणा रहती है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये। मन प्रायोग्य वर्गणा से श्वासोच्छ्वास वर्गणा का अवगाहन क्षेत्र असख्यात गुणा है। उसकी अपेक्षा अनुक्रम से भाषा, तैजस्, आहारक, वैक्रिय और औदारिक वर्गणाओ का अवगाहन क्षेत्र असख्यात-असख्यात गुणा अधिक-अधिक है।

उपर्युक्त द्रव्य परमाणुओ और अवगाहन क्षेत्र की अपेक्षा वर्गणाओ के अल्पबहुत्व कथन का साराश यह है कि औदारिक वर्गणा से लेकर कार्मण वर्गणा पर्यन्त उत्तरोत्तर अनुक्रम से अनन्त गुणे-अनन्तगुणे अधिक-अधिक परमाणु है किन्तु अवगाहन क्षेत्र उत्तरोत्तर अनुक्रम से

कम्मोवरि धुवेयर सुन्ना पत्तेय सुन्न बादरगा।
सुन्ना सुहुमे सुन्ना महवखधो सगुणनामाओ ॥१६॥

शब्दार्थ—**कम्मोवरि**—कार्मण वर्गणा के पश्चात्, **धुवेयर सुन्ना**—ध्रुवाचित्त, अध्रुवाचित्त, शून्य, **पत्तेय**—प्रत्येक शरीर, **सुन्न**—शून्य, **बादरगा**—बादर निगोद, **सुन्ना**—शून्य, **सुहुमें**—सूक्ष्म निगोद, **सुन्ना**—शून्य, **महवखधो**—महास्कन्ध, **सगुणनामाओ**—सार्थक नामावली।

गाथार्थ—कार्मण वर्गणा के पश्चात् यथाक्रम से ध्रुवाचित्त, अध्रुवाचित, शून्य, प्रत्येकशरीर, शून्य, बादरनिगोद, शून्य, सूक्ष्म-निगोद, शून्य और महास्कन्ध नामक वर्गणाये है। ये सभी वर्गणाये अपने-अपने सार्थक नाम वाली है।

विशेषार्थ—पुद्‌गल द्रव्य सपूर्ण लोक मे है, तो उसकी मात्र पूर्व मे बताई गई नाम वाली वर्गणाये है, या और भी है ? तो इस जिज्ञासा का समाधान करने के लिये ग्रथकार आचार्य कहते है—

'कम्मोवरिं' अर्थात् पूर्व मे बताई गई कर्मप्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा के पश्चात भी अन्य वर्गणाये है। जिनके नाम और क्रम इस प्रकार है—

१ ध्रुवाचित्त द्रव्य वर्गणा, २ अध्रुवाचित्त द्रव्यवर्गणा, ३ शून्य वर्गणा, ४ प्रत्येकशरीरी वर्गणा, ५ ध्रुव शून्य वर्गणा ६ बादर-निगोद वर्गणा, ७ ध्रुव शून्य वर्गणा ८ सूक्ष्म निगोद वर्गणा ९ शून्य वर्गणा १० महास्कन्ध वर्गणा।

ध्रुवाचित्त द्रव्य वर्गणा—कर्मप्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा से एक परमाणु अधिक वाली वर्गणा का नाम ध्रुवाचित्त वर्गणा है। जो अपनी अन्य वर्गणाओ मे जघन्य वर्गणा है। जिस वर्गणा मे दो परमाणु अधिक हैं, वह दूसरी ध्रुवाचित्त वर्गणा, इस प्रकार एक-एक परमाणु अधिक-अधिक करते हुए उत्कृष्ट ध्रुवाचित्त वर्गणा पर्यन्त कहना चाहिये। ध्रुवाचित्त जघन्य वर्गणा मे जितने परमाणु है उनको

सर्वजीव से अनन्तगुणे अनन्त से गुणा करने पर जो सख्या प्राप्त हो उतने परमाणु ध्रुवाचित्त उत्कृष्ट वर्गणा मे होते है।

इस वर्गणा को ध्रुव इसलिये कहते हैं कि जघन्य से उत्कृष्ट पर्यन्त अनुक्रम से बढते हुए एक-एक परमाणु वाली वर्गणाये लोक मे अवश्य होती है, किसी भी समय इन वर्गणाओ से लोक विहीन नही होता है। कदाचित् इनमे की कोई एक वर्गणा नष्ट हो तो उसके स्थान पर अन्य वर्गणा उत्पन्न हो जाती है और इस वर्गणा के साथ विशेष रूप से अचित्त विशेषण इसलिये लगाया गया है कि जो वर्गणाये जीव के साथ जुडती हैं, वे वर्गणाये उपचार से सचित्त भी कहलाती है, जैसे कि औदारिकादि वर्गणायें। परन्तु ये वर्गणाये और इसके अनन्तर कही जाने वाली वर्गणाये कभी भी जीव के साथ सबधित होने वाली नही है। जीव उनको किसी भी समय ग्रहण नही करता है। इसी बात को अचित्त विशेषण द्वारा स्पष्ट किया है।

अध्रुवाचित्त वर्गणा

ध्रुवाचित्त उत्कृष्ट वर्गणा से एक अधिक परमाणु की स्कन्ध रूप अध्रुवाचित्त वर्गणा होती है। उससे एक-एक अधिक परमाणु की स्कन्ध रूप दूसरी आदि वर्गणाये वहाँ तक कहना चाहिये कि जब इनकी उत्कृष्ट अध्रुवाचित्त वर्गणा हो जाये। जघन्य वर्गणा की अपेक्षा उत्कृष्ट वर्गणा अनन्त गुणी है। अर्थात् जघन्य वर्गणा मे जितने परमाणु हैं उनको सर्वजीवो से अनन्तगुणे अनन्त से गुणा करने पर प्राप्त परमाणु उत्कृष्ट वर्गणा मे होते है।

इनको अध्रुवाचित्त वर्गणाये इसलिये कहते है कि जघन्य से उत्कृष्ट पर्यन्त चढते हुए परमाणु वाली ये सभी वर्गणाये लोक मे हो ही ऐसा नियम नही है। कोई वर्गणा कदाचित् होती है और कोई कदाचित् नही भी होती है। इसी कारण इन वर्गणाओ को अध्रुवाचित्त अथवा सातर-निरन्तर वर्गणा कहते है।

परमाणुओं का प्रमाण बताने के लिये सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम के असख्यातवे भाग से गुणा करने का कारण यह है कि—

कार्मण वर्गणाओ का ग्रहण योग के अनुसार होता है। जघन्य योग हो तब जघन्य कर्मप्रदेशसचय और उत्कृष्ट योग होने पर उत्कृष्ट कर्मप्रदेशसचय होता है। जघन्य योगस्थान से उत्कृष्ट योगस्थान सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम के असख्यातवे भाग से गुणित अधिक प्राप्त होता है। इसीलिए कर्मवर्गणाओ का ग्रहण भी सूक्ष्मक्षेत्र-पल्योपम के असख्यातवे भाग से गुणा करने पर जितना हो, उतना ही होता है। जघन्य योग मे भी जीव अनन्त वर्गणाओ को ग्रहण करता है, उनको सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम के असख्यातवे भाग के आकाश प्रदेशो से गुणा करने पर जितना प्रमाण हो उतनी वर्गणाये उत्कृष्ट योग से ग्रहण करता है। अर्थात् जघन्य योग होने पर कर्म वर्गणाओ का ग्रहण अल्प होने से जघन्य प्रत्येकशरीरी वर्गणाये प्राप्त होती है और उत्कृष्ट योग होने पर कर्मयोग्य वर्गणाओ का उत्कृष्ट प्रमाण मे ग्रहण होने से उत्कृष्ट प्रत्येकशरीरीवर्गणा प्राप्त होती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जघन्य योग हो, तब जघन्य प्रत्येकशरीरी वर्गणाये प्राप्त होती है और जैसे-जैसे योग बढता जाता है, वैसे-वैसे अधिक-अधिक प्रत्येकशरीरी वर्गणाये प्राप्त होती जाती है और जब उत्कृष्ट योग होता है तब अधिक-से-अधिक चरम उत्कृष्ट परमाणु वाली वर्गणाये प्राप्त होती है। इस प्रकार योग के साथ सबध होने से और योग जघन्य से उत्कृष्ट सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम के असख्यातवे भाग से गुणा करने पर जितना होता है उतना ही होने से प्रत्येकशरीरीवर्गणा मे भी सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम के असख्यातवे भाग से गुणा करने का सकेत किया है।

प्रत्येकनामकर्म के उदय वाले जीवो के यथासभव सत्ता मे रहे हुए औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस् और कार्मण नामकर्म के पुद्गलो का अवलबन लेकर सर्वजीवो से अनन्त गुण परमाणु वाली

जो वर्गणाये रही हुई है उनको प्रत्येकशरीरी वर्गणा कहते है। इन वर्गणाओ को जीव किसी कर्म के उदय से ग्रहण नही करता है, किन्तु विश्रसा परिणाम से ही औदारिक आदि पाच शरीर नामकर्म के पुद्‌गलो का अवलवन लेकर रही हुई है। इस वात को शतक चूर्णि मे भी कहा है—

पत्तेयवग्गणा इह पत्तेयाण तु उरलमाइण।
पचण्हसरीराण तणुकम्म पएसगा जेइ ॥१॥

तत्थेक्कक्क पएसे वीसस परिणाम उवचिया होति।
सव्वजियणतगुणा पत्तेया वग्गणा ताओ ॥२॥

प्रत्येकनामकर्म के उदय वाले जीवो के औदारिक आदि पाच शरीर नामकर्म के जो कर्माणु सत्ता मे रहे हुए है, उनके एक-एक प्रदेश पर सर्व जीवो की अपेक्षा अनन्त गुण परमाणु वाली जो वर्गणाये विश्रसा परिणाम द्वारा उपचित हुई है—अवलबन लेकर रही हुई है, वे प्रत्येकशरीरी वर्गणा कहलाती है।

ध्रुवशून्यवर्गणा

प्रत्येकशरीरी उत्कृष्ट वर्गणा से एक अधिक परमाणु वाली द्वितीय जघन्य ध्रुवशून्यवर्गणा है। दो अधिक परमाणु वाली दूसरी ध्रुवशून्यवर्गणा है। इस प्रकार एक-एक परमाणु की वृद्धि करते हुए वहा तक कहना चाहिये कि यावत् उसकी उत्कृष्ट वर्गणा हो। जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट वर्गणा असख्यात गुणी हे। जघन्य वर्गणा की परमाणु सख्या को असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण प्रदेशो द्वारा गुणा करने पर प्राप्त सख्या जितने प्रदेश उत्कृष्ट वर्गणा मे होते हैं। यह द्वितीय ध्रुवशून्यवर्गणा हे और इस ध्रुवशून्यवर्गणा का अर्थ पूर्व मे वताई गई पहली ध्रुवशून्यवर्गणानुरूप समझ लेना चाहिये।

वादरनिगोदवर्गणा

साधारणनामकर्म के उदय वाले वादर एकेन्द्रिय जीवो के सत्ता मे रहे हुए औदारिक, तैजस और कार्मण नामकर्म के पुद्‌गल पर-

माणुओ को विश्रसापरिणाम द्वाराअवलबन लेकर सर्वजीवो की अपेक्षा अनन्त गुण परमाणु वाली जो वर्गणाये रही हुई है, उनको बादर निगोद वर्गणा कहते है। यद्यपि पचेन्द्रियो में से बध कर गये हुए कितने ही बादर निगोदिया जीवो के कुछ समय पर्यन्त वैक्रिय और आहारक शरीर नामकर्म की भी सत्ता होती है, परन्तु वहाँ जाने के पश्चात् प्रथम समय से उनकी उद्‌वलना करने वाले होने से अत्यन्त असार है, जिससे उन दोनो शरीरो की विवक्षा नही की है।

पूर्वोक्त द्वितीय ध्रुवशून्यवर्गणा से एक अधिक परमाणु वाली जघन्य बादरनिगोदवर्गणा होती है, दो अधिक परमाणु वाली दूसरी वर्गणा होती है। इस प्रकार एक-एक परमाणु अधिक करके वहा तक कहना चाहिये कि उत्कृष्ट बादरनिगोदवर्गणा हो जाये। जघन्य से उत्कृष्ट वर्गणा असख्यातगुण है। यहाँ भी गुणक राशि क्षेत्र पल्योपम के असख्यातवे भाग के लेने के कारण को पूर्व में बताई प्रत्येकशरीरीवर्गणा के अनुरूप समझ लेना चाहिये।

ध्रुवशून्यवर्गणा

उत्कृष्ट बादरनिगोदवर्गणा से एक अधिक परमाणु वाली तृतीय जघन्य ध्रुव शून्यवर्गणा है। दो अधिक परमाणु वाली दूसरी ध्रुवशून्य वर्गणा, इस प्रकार एक-एक अधिक परमाणु को बढाते हुए वहा तक कहना चाहिये यावत् उत्कृष्ट ध्रुवशून्यवर्गणा हो। जघन्य से उत्कृष्ट वर्गणा असख्यात गुण है। जघन्य वर्गणा में जो सख्या है, उसे अगुल मात्र क्षेत्र मे जितने आकाश प्रदेश है, उनके आवलिका के असख्यातवे भाग में जितने समय है उतने वर्गमूल करना और उनमे से अतिम वर्गमूल के असख्यातवे भाग में जितने आकाश प्रदेश हो, उनसे गुणा करने पर जितने परमाणु हो उतने परमाणु उत्कृष्ट ध्रुव-शून्यवर्गणा मे होते है।

सूक्ष्मनिगोदवर्गणा

उत्कृष्ट ध्रुवशून्यवर्गणा से एक अधिक परमाणु के स्कन्ध रूप

जघन्य सूक्ष्मनिगोदवर्गणा होती है। दो अधिक परमाणु के स्कन्ध रूप दूसरी वर्गणा, इस प्रकार एक-एक परमाणु को बढाते हुए उत्कृष्ट वर्गणा पर्यन्त कहना चाहिये। जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट वर्गणा असख्यात गुण है। अर्थात् जघन्य वर्गणा मे जितने परमाणु होते है, उनको आवलिका के असख्यातवे भाग प्रमाण समयो द्वारा गुणा करने पर जितने हो, उतने परमाणु उत्कृष्ट सूक्ष्मनिगोदवर्गणा मे होते है।

इस वर्गणा का स्वरूप सामान्यत बादर निगोदवर्गणा के अनुरूप समझना चाहिये और यहाँ जो जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट वर्गणा मे गुणक सख्या आवलिका के असख्यातवे भाग के समय प्रमाण बताई है, उसका कारण यह है कि सूक्ष्म निगोद जीवो के जघन्य योगस्थान से उत्कृष्ट योगस्थान आवलिका के असख्यातवे भाग के समयो द्वारा गुणा करने पर प्राप्त प्रमाण जितने ही होते है। उनसे अधिक नही होते। कर्मप्रदेशो का ग्रहण योगाधीन है और उसके अधीन सूक्ष्म-निगोदवर्गणा है। इसलिये जघन्य से उत्कृष्ट वर्गणा मे आवलिका के असख्यातवे भाग के समयो से गुणा करने पर प्राप्त सख्या जितने ही परमाणु होते है।

ध्रुवशून्यवर्गणा

सूक्ष्मनिगोद वर्गणा से एक अधिक परमाणु के स्कन्ध रूप चतुर्थ ध्रुवशून्यवर्गणा होती है। दो अधिक परमाणु की स्कन्ध रूप दूसरी वर्गणा होती है। इस प्रकार एक-एक को बढाते हुए वहा तक कहना चाहिये यावत् उत्कृष्ट ध्रुवशून्यवर्गणा हो। जघन्य की अपेक्षा उत्कृष्ट वर्गणा असख्यात गुण है। जघन्य वर्गणा मे रही परमाणु सख्या को प्रतर के असख्यातवे भाग मे रही हुई असख्याती सूचि-श्रेणि के आकाश प्रदेशो द्वारा गुणा करने पर जो सख्या हो उतने परमाणु उत्कृष्ट ध्रुवशून्यवर्गणा मे होते है और यह पहले वताया जा चुका है कि जो वर्गणाये इस जगत मे किसी समय होती नही,

मात्र ऊपर की वर्गणाओ का बाहुल्य बताने के लिये ही जिनका निर्देश किया जाता है वे वर्गणाये ध्रुवशून्यवर्गणाये कहलाती है।

महास्कन्धवर्गणा

उत्कृष्ट ध्रुवशून्यवर्गणा से एक अधिक परमाणु वाली जघन्य अचित्त महास्कन्धवर्गणा होती है, दो अधिक परमाणु वाली दूसरी महास्कन्ध वर्गणा। इस प्रकार एक-एक परमाणु की वृद्धि करते हुए उत्कृष्ट महास्कन्धवर्गणा पर्यन्त कहना चाहिये। जघन्य की अपेक्षा उत्कृष्ट वर्गणा असख्यात गुणी है। जघन्य महास्कन्धवर्गणा मे जितने परमाणु रहे हुए है, उनको पल्योपम के असख्यातवे भाग के समयो से गुणा करने पर जो सख्या हो उतने परमाणु उत्कृष्ट अचित्त महास्कन्धवर्गणा मे होते है।

जो वर्गणाये विश्रसापरिणाम से टक, शिखर और पर्वतादि बड़े-वडे स्कन्धो का आश्रय लेकर रही हुई है, उन्हे महास्कन्धवर्गणा कहते है। ये महास्कन्ध वर्गणाये जब-जब त्रस जीवो की सख्या अधिक होती है तब अल्प-अल्प और जब त्रस जीवो की सख्या अल्प होती है तब अधिक होती है। इसका कारण वस्तुस्वभाव ही है। शतक चूर्णि मे भी कहा है—विश्रसापरिणाम से टक, कूट और पर्वतादि स्थानो का अवलबन लेकर जो पुद्गल रहे हुए है वे महास्कन्ध वर्गणाये कहलाती हैं। जिस समय त्रसकाय राशि अधिक प्रमाण में होती है, उस समय महास्कन्ध वर्गणाये अधिक होती है।[1]

---

१ महखधवग्गणा टक कूड तह पव्वयाइठाणेसु।
जे पोग्गला समसिया महखधा ते उ वुच्चति ॥१॥
तत्थ तसकायरासी जम्मियकालम्मि होति बहुगो य।
महखधवग्गणाओ तम्मि य काले भवे थोवा ॥२॥
जमि पुण होइ काले रासी तसकाइयाण थोवा उ।
महखधवग्गणाओ तहिं काले होति बहुगाओ ॥३॥

इस प्रकार परमाणुवर्गणा से लेकर महास्कन्धवर्गणा पर्यन्त समस्त पौद्गलिक वर्गणाओ का स्वरूप जानना चाहिये ।

यद्यपि यहाँ योग द्वारा जिन वर्गणाओ का जीव द्वारा ग्रहण होता है उन्ही का स्वरूप कहना चाहिये था लेकिन प्रासगिक होने से समस्त सभव पौद्गलिक वर्गणाओ के स्वरूप का प्रतिपादन कर दिया गया है। ये सभी वर्गणाये सार्थक नाम वाली है—'सगुणनामाओ ।' जैसे कि एक-एक परमाणु रूप वर्गणा परमाणुवर्गणा है, दो परमाणु की पिंडरूप वर्गणा, द्विपरमाणुवर्गणा इत्यादि। अचित्त महास्कन्ध पर्यन्त की सभी वर्गणाये प्रदेशो की अपेक्षा अनुक्रम से बहु प्रदेशी है, लेकिन प्रत्येक वर्गणा अगुल के असख्यातवे भाग की अवगाहना वाली है। कर्म प्रकृति मे कहा है—प्रत्येक वर्गणा की अवगाहना अगुल के असख्यातवे भाग की है ।[1]

इस प्रकार से वर्गणाओ का स्वरूप जानना चाहिये ।[2] अब ग्रन्थकार आचार्य यह बताते है कि उन वर्गणाओ मे कितने परमाणु होते है ।

वर्गणान्तर्वर्ती परमाणु प्रमाण

सिद्धाणनसेणं अहव अभव्वेहणतगुणिएहि ।
जुत्ता जहन्न जोग्गा ओरलाइण भवे जेट्ठा ॥१७॥

शब्दार्थ—सिद्धाणतसेण—सिद्धो के अनन्तवे भाग, अहव—अथवा, अभव्वेहणतगुणिएहि—अभव्यो से अनन्त गुणे परमाणुओ से, जुत्ता—युक्त, जहन्नजोग्गा—जघन्य ग्रहणयोग्य वर्गणा, ओरलाइण—औदारिक आदि की, भवे—होती है जेट्ठा—उत्कृष्ट ।

गाथार्थ—सिद्धो के अनन्तवे भाग अथवा अभव्यो से अनन्तगुणे परमाणुओ से युक्त औदारिक आदि की जघन्य ग्रहणयोग्य

---

१ अगस्स भागमगुलवगाहो ।

२ वर्गणाओ सम्बन्धी विवरण एव गुणमना से बोध कराने वाला प्रारूप परिशिष्ट मे देखिये ।

वर्गणा होती है और वही जघन्य वर्गणा अपने अनन्तवे भाग से युक्त होने पर उत्कृष्ट ग्रहण योग्यवर्गणा होती है।

विशेषार्थ—गाथा मे यह स्पष्ट किया गया है कि जघन्य और उत्कृष्ट योग मे वर्तमान जीव जिन वर्गणाओ को ग्रहण करता है, उनकी जघन्य और उत्कृष्ट वर्गणाओ में परमाणु कितने प्रमाण होते है।

जिन वर्गणाओ मे सिद्धो के अनन्तवे भाग प्रमाण अथवा अभव्यो से अनन्तगुण परमाणु होते है वे वर्गणाये औदारिक आदि शरीर के ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणाये होती है और वही एक दो आदि परमाणुओ के अनुक्रम से बढती हुई उत्कृष्ट ग्रहणयोग्य वर्गणा होती है, तथा जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट वर्गणा मे अपने अनन्तवे भाग अधिक परमाणु होते है।

औदारिकप्रायोग्य उत्कृष्ट ग्रहण वर्गणा से एक अधिक परमाणु वाली अग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है और फिर एक दो आदि अनुक्रम से बढते हुए परमाणु वाली चरम उत्कृष्ट अग्रहणप्रायोग्य वर्गणा होती है। अग्रहण जघन्य वर्गणा मे के परमाणुओ को सिद्धो के अनन्तवे भाग प्रमाण सख्या द्वारा अथवा अभव्यो से अनन्त गुण सख्या द्वारा गुणा करने पर जितने परमाणु होते है उतने परमाणु उत्कृप्ट अग्रहण वर्गणा में जानना चाहिये।

उत्कृष्ट अग्रहण वर्गणा से एक अधिक परमाणु वाली वैक्रियशरीर की ग्रहण योग्य जघन्य वर्गणा होती है, वही एक दो आदि परमाणु के क्रम से बढते हुए उत्कृष्ट वर्गणा होती है। जघन्य से उत्कृष्ट वर्गणा में अपने अनन्तवे भाग अधिक परमाणु होते है। उत्कृष्ट ग्रहण योग्य वर्गणा से एक अधिक परमाणु वाली अग्रहण योग्य जघन्य वर्गणा होती है। एक, दो, परमाणु आदि के क्रम से बढते हुए उत्कृष्ट अग्रहण वर्गणा होती है। जघन्य से उत्कृष्ट में अनन्त गुणे परमाणु होते है। तत्पश्चात् एकाधिक परमाणु वाली आहारकशरीरयोग्य जघन्य वर्गणा होती है। और फिर एक, दो आदि परमाणु के क्रम से बढते हुए उत्कृष्ट ग्रहण वर्गणा होती है। जघन्य से उत्कृष्ट में अनन्तवे

भाग अधिक परमाणु होते है। तत्पश्चात् अग्रहण वर्गणा, फिर तैजस्प्रायोग्य ग्रहण वर्गणा, उस प्रकार अनुक्रम से भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन और कार्मण वर्गणा के विषय मे भी जानना चाहिये।

इस प्रकार जीवप्रायोग्य ग्रहण वर्गणाओ के स्वरूप का विचार कहने के बाद वर्गणाओ के पौद्गलिक होने से अब उनके वर्णादि का निरूपण करते है।

वर्गणाओ के वर्णादि

पचरस पच वन्नेहिं परिणया अट्ठफास दो गधा।
जावाहरग जोग्गा चउफासाविसेसिया उवरिं ॥१८॥

शब्दार्थ—**पच**—पाच, **रस**—रस, **पच**—पाच, **वन्नेहि**—वर्णों से, **परिणया**—परिणत-युक्त, **अट्ठफासा**—आठ स्पर्श, **दो गधा**—दो गध, **जावाहरगजोग्गा**—आहारक प्रायोग्य तक, **चउफासा**—चार स्पर्श, **विसेसिया**—विशेपित युक्त, **उवरिं**—ऊपर की।

गाथार्थ—आहारकप्रायोग्य वर्गणा तक की वर्गणाये पाच रस, पाच वर्ण, आठ स्पर्श और दो गध युक्त होती है और ऊपर की वर्गणाये चार स्पर्श युक्त है।

विशेषार्थ—वर्गणाये पौद्गलिक गुण युक्त होने पर भी उनमे सभव विशेषता का यहा उल्लेख किया है।

जावाहारग जोग्गा—अर्थात् औदारिकशरीर से लेकर आहारक शरीर योग्य वर्गणा पर्यन्त वर्गणाये पाच वर्ण, पाच रस, दो गध और आठ स्पर्श मे युक्त है। अर्थात् औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर-प्रायोग्य ये तीन वर्गणाये पुद्गल द्रव्य गत पाच वर्ण आदि कुल वीस गुणो से युक्त है तथा ऊपर की तैजसादि शरीर योग्य शेप पाच वर्गणाये पाच वर्ण पाँच रम और दो गध वाली तो हैं परन्तु स्पर्श के विपय मे चार स्पर्श वाली जानना चाहिये। जिसका आशय यह है कि तैजसादि पाच वर्गणाओ मे के प्रत्येक स्कन्ध मे मृदु और लघु ये दो स्पर्श तो अवस्थित है और स्निग्ध-उष्ण, स्निग्ध-शीत, रूक्ष-उष्ण

और रूक्ष-शीत इनमे के कोई भी दो स्पर्श अनियत होने से कुल चार स्पर्श होते है। अर्थात् तैजसादि के प्रत्येक स्कन्ध मे पाच वर्ण, दो गध, पाच रस और उपर्युक्त चार स्पर्श 'चउफासा विसेसिया उवरि' कुल सोलह गुण होते हैं।

यद्यपि एक परमाणु मे पाच वर्ण में से कोई एक वर्ण, दो गध मे से कोई एक गध, पाच रस में से कोई एक रस और स्निग्ध, उष्ण रूक्ष और शीत इन चार स्पर्शो में से अविरुद्ध दो स्पर्श होते है, परन्तु समुदाय मे एक परमाणु कोई वर्णादि युक्त, दूसरा परमाणु कोई वर्णादि युक्त होने से स्कन्ध मे पाचो वर्ण, दो गध, पाच रस और आठ स्पर्श होना शक्य है।

परमाणु मे अतिम चार स्पर्शो मे से अविरुद्ध दो स्पर्श कहने पर जिज्ञासु का प्रश्न है कि परमाणु के सयोग से स्कन्ध बनते है और जब परमाणु मे अतिम चार स्पर्शो मे से अविरुद्ध दो स्पर्श होते है तो फिर औदारिकादि के स्कन्धो मे आठ स्पर्श कैसे पाये जा सकते है ? तो इसके उत्तर मे यह समझना चाहिये कि तिरोभाव से तो प्रत्येक परमाणु मे सभी स्पर्श रूप से परिणत होने की शक्ति रही हुई है जो अमुक सख्या वाले परमाणुओ के स्कन्ध मे आविर्भूत होती है किन्तु उसकी अपेक्षा सख्या मे वृद्धि होने पर तथास्वभाव से वह आविर्भूत नही होती है, इसीलिये आहारकशरीर तक की वर्गणाये ग्रहण की है कि औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीन शरीर प्रायोग्य वर्गणाओ मे आठो स्पर्श एव इनसे शेष रही वर्गणाओ मे शीत उष्ण आदि अतिम चार स्पर्श पाये जाते है। आठ स्पर्श वाली वर्गणाये गुरुलघु है अर्थात् उनके स्कन्धो मे अमुक प्रमाण मे वजन होता है और चार स्पर्श वाली वर्गणाये अगुरु-लघु कहलाती है। क्योकि चाहे उनका कितना भी समूह एकत्रित हो जाये उनमे वजन नही होता है।

औदारिकशरीरप्रायोग्य वर्गणाये वैक्रियशरीरप्रायोग्य आदि

वर्गणाओ से प्रदेशगणना की अपेक्षा सवसे कम है। उनसे वैक्रिय-शरीरप्रायोग्य वर्गणाये अनन्त गुणी है। उनसे आहारकशरीरयोग्य वर्गणाये अनन्त गुणी है। इसी प्रकार तैजस आदि कर्मप्रायोग्य वर्गणाये उत्तरोत्तर अनन्त गुणी जानना चाहिये। क्योकि ग्रहण-प्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणागत प्रदेश राशि से अनन्त गुण अग्रहण वर्गणाये अन्तराल मे होने से उत्तरोत्तर की वर्गणाओ मे क्रम से अनन्तगुणे प्रदेश कहे है। इस प्रकार से ग्रहण और अग्रहण प्रायोग्य वर्गणाओ का स्वरूप जानना चाहिये।

इन वर्गणाओ के वर्णन मे कतिपय मतभेद भी है। जैसे कर्मप्रकृति चूर्णि मे औदारिक एव वैक्रिय के वीच मे तथा वैक्रिय और आहारक वर्गणा के वीच मे अग्रहण वर्गणाये नही मानी है, किन्तु विशेषावश्यक-भाष्य मे मानी है और कार्मणवर्गणा के वाद यहा जिस रीति से वर्गणाये कही है, उससे विशेपावश्यकभाष्य मे भिन्न रूप से वर्णन किया है। जिसका स्पप्टीकरण परिशिप्ट मे किया गया है।

पुद्गलो का परस्पर सवध स्नेहगुण से होता है, स्नेह के विना मवध नही हो सकता है, अतएव अव पुद्गलो के परस्पर मवध में हेतुभूत स्नेह का विचार करते है। उस स्नेह का विचार तीन प्रकार से किया जाता है—

(१) स्नेहप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा (२) नामप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा और (३) प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा। इनके लक्षण क्रमश इस प्रकार है—

१ स्नेह निमित्तक स्पर्धक की प्ररूपणा को स्नेहप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा कहते हैं। अर्थात् स्नेह के निमित्त से होने वाले स्पर्धक का विचार जिस प्ररूपणा मे किया जाता है वह स्नेहप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा कहलाती है।

२ वधननामकर्म जिसमे निमित्त है, ऐसे शरीर प्रदेश के स्पर्धक का विचार नामप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा कहलाती है। जिसका

आशय यह हुआ कि बधननामकर्म के उदय से परस्पर बद्ध हुए शरीर-पुद्गलो के स्नेह का आश्रय लेकर जिसमे स्पर्धक का विचार किया गया हो वह नामप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा है और पाच शरीर रूप परिणमते पुद्गलो मे स्निग्धपने की तरतमता बताना नाम-प्रत्ययप्ररूपणा कहलाती है ।

३ योग रूप हेतु द्वारा ग्रहण किये गये पुद्गलो के स्नेह का आश्रय करके स्पर्धक का जिसमे विचार किया जाये वह प्रयोगप्रत्यय स्पर्धक प्ररूपणा हे । अर्थात् प्रकृष्ट योग को प्रयोग कहते है । इस कारणभूत प्रकृष्ट योग के द्वारा ग्रहण किये गये पुद्गलो के स्नेह का आश्रय लेकर जो स्पर्धक प्ररूपणा की जाती है उसे प्रयोगप्रत्यय-स्पर्धक प्ररूपणा कहते है और उत्कृष्ट योग से ग्रहण होने वाले पुद्गलो मे स्निग्धता की तरतमता कहना प्रयोगप्रत्यय प्ररूपणा है ।

उक्त तीन प्ररूपणाओ मे मे प्रथम स्नेहप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा का निर्देश करते है ।

स्नेह प्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा

अविभागाईनेहेण जुत्तया ताव पोग्गला अत्थि ।
सव्वजियाणत गुणेण जाव नेहेण सजुत्ता ॥१६॥
जे एगनेह जुत्ता ते बहवो तेहिं वग्गणा पढमा ।
जे दुगनेहाइजुया असखभागूण ते कमसो ॥२०॥

शब्दार्थ—अविभागाईनेहेण—अविभागादि स्नेह से, **जुत्तया**—युक्त, **ताव**—तब तक, **पोग्गला**—पुद्गल परमाणु, **अत्थि**—होते है, **सव्वजियाणतगुणेण**—सर्व जीव राशि से अनन्त गुण से, **जाव**—यावत् तक, **नेहेण**—स्नेहाणु **सजुत्ता**—युक्त, सहित ।

जे—जो, **एगनेह जुत्ता**—एक स्नेहाणु से युक्त है, **ते**—वे, **बहवो**—बहुत है, **तेहिं**—उनकी, **वग्गणा**—वर्गणा, **पढमा**—पहली, **जे**—जो,

दुगनेहाइजुया—दो स्नेह गुण युक्त है, असखभागूण—असख्यात-असख्यात भाग न्यून, ते—वे, कमसो—क्रमश ।

गाथार्थ—अविभाग स्नेह युक्त अर्थात् एक स्नेहाणु युक्त यावत् सर्व जीव राशि से अनन्त गुण स्नेहाणु से युक्त पुद्गल परमाणु होते है । उनमे जो एक स्नेहाणु युक्त परमाणु है, वे अधिक है और उनकी पहली वर्गणा होती है । तत्पश्चात् जो परमाणु दो, तीन आदि स्नेहाणु से युक्त है वे क्रमश असख्यात-असख्यात भाग न्यून-न्यून है ।

विशेषार्थ—यह पूर्व मे बताया जा चुका है कि वस्तु के विचार करने की दो शैलिया हैं—अनन्तरोपनिधा और परपरोपनिधा । जिस शैली मे पूर्व से ठीक अनन्तरवर्ती के क्रम से उत्तर (आगे) स्थित वस्तु आदि का विचार किया जाये उसे अनन्तरोपनिधा कहते है और परपरोनिधा शैली वह है जिसमे अन्तरालवर्ती वहुतो का अतिक्रमण करने के बाद प्राप्त, स्थिति वस्तु का विचार किया जाता है ।

इन दोनो शैलियो मे से प्रथम अनन्तरोपनिधा से स्नेहप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा का विचार प्रारम्भ करते है—सर्वोत्कृष्ट स्नेह वाले परमाणु में रहे हुए स्नेह[1] का केवली के केवलज्ञान रूप शस्त्र से एक के दो अश, खड न हो सके, इस प्रकार से अश करने पर उस एक अश को स्नेहाणु कहते हैं ।

इस लोक मे कितने ही परमाणु एक स्नेहाणुयुक्त हैं, कितने ही दो स्नेहाणु युक्त है । इस प्रकार से बढते हुए कितने ही परमाणु सर्व जीव राशि से अनन्त गुणे स्नेहाणुयुक्त होते है । उनमे से जो परमाणु एक स्नेह गुण वाले है, वे अधिक है—प्रभूत मात्रा मे है—'जे एगनेहजुत्ता ते बहवो' और ऐसे परमाणुओ को पहली वर्गणा होती है—'तेहिं वग्गणा

---

१ यहाँ स्निग्धता के उपलक्षण से रूक्षता का भी ग्रहण करना चाहिये । क्योकि 'स्निग्ध रूक्षत्वाद्बधा' (तत्त्वार्थ सूत्र ५/३२) स्निग्धता और रूक्षता दोनो मिलकर बध के कारण होते हैं ।

पढमा' । दो स्नेहाणु वाले जो-जो परमाणु हो उनका जो समुदाय उसकी दूसरी वर्गणा, तीन स्नेहाणु वाले परमाणुओ के समूह की तीसरी वर्गणा होती है। इस प्रकार के क्रम से बढते हुए सख्यात स्नेहाणु वाले परमाणुओ की सख्यात वर्गणाये होती है। असख्यात स्नेहाणु वाले परमाणुओ के समुदाय की असख्यात वर्गणाये और अनन्त स्नेहाणु वाले परमाणुओ की बढती हुई अनन्त वर्गणाये होती है।

इन वर्गणाओ मे तथास्वभाव से अल्प-अल्प स्नेहाणु वाले परमाणु अधिक होते है और अधिक-अधिक स्नेह वाले परमाणु अल्प-अल्प होते जाते है। इसलिये पहली एक स्नेहाणु वाली वर्गणा मे परमाणु अधिक है और जो परमाणु दो स्नेहाणु वाले है, वे एक स्नेहाणु वाले परमाणुओ की अपेक्षा असख्यातवे भाग न्यून है। इसी क्रम से तीन, चार इत्यादि स्नेहाणु वाले परमाणुओ की वर्गणाओ मे पूर्व-पूर्व वर्गणा से उत्तरोत्तर वर्गणा मे परमाणु असख्यातवे-असख्यातवे भाग न्यून-न्यून होते है—असखभागूण ते कमसो।

इस प्रकार से उत्तरोत्तर असख्यातवे-असख्यातवे भाग न्यून न्यून परमाणु वाली वे वर्गणाये कितनी होती है? ऐसा जिज्ञासु के पूछने पर आचार्य उत्तर देते है—

इय एरिस हाणीए जंति अणंता उ वग्गणा कमसो।
संखसूणा तत्तो सखगुणूणा तओ कमसो ॥२१॥
तत्तो असंखगुणूणा अणंतगुणऊणियावि तत्तोवि।

शब्दार्थ—**इय**—इस तरह, **एरिसहाणीए**—इस प्रकार की हानि वाली, **जंति**—होती है, **अणता**—अनन्त, **उ**—और, **वग्गणा**—वर्गणाये, **कमसो**—अनुक्रम से।

सखसूणा—सख्यातवे भाग हीन, **तत्तो**—तत्पश्चात्, **सखगुणूणा**—सख्यात-गुणहीन, **तओ**—उसके बाद, **कमसो**—क्रमश, **तत्तो**—उसके अनन्तर,

असखगुणूणा—असख्यगुण हीन, अणतगुणऊणियावि—अनन्तगुण न्यून भी, तत्तोवि—उसमे भी ।

गाथार्थ—इस तरह इस प्रकार की हानि वाली अनुक्रम से अनन्त वर्गणाये होती है ।

तत्पश्चात् सख्यातभागहीन वर्गणाये है, इसके वाद अनुक्रम से सख्यातगुणहीन वर्गणाये हे और फिर इसके पश्चात् अनुक्रम से असख्यातगुणहीन और इसके अनन्तर अनुक्रम मे अनन्तगुणहीन परमाणु वाली वर्गणाये होती है ।

विशेषार्थ—असख्यातवे भाग-असख्यातवे भाग हीन परमाणुओ वाली वे वर्गणाये कितनी है और उसके वाद की वर्गणाओ मे परमाणुओ की हानि का क्रम क्या है, एव वे भी कितनी-कितनी हैं ? इसका स्पष्टीकरण यहाँ किया गया है—

'एरिसहाणीए'—इस प्रकार की हानि वाली अर्थात् पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर मे असख्यातवे भाग न्यून-न्यून परमाणु वाली वे वर्गणाये अनन्त होती हैं अर्थात् दूसरी वर्गणा से लेकर अनन्त वर्गणा पर्यन्त प्रत्येक वर्गणा मे पूर्व-पूर्व वर्गणा की अपेक्षा उत्तर-उत्तर की वर्गणा मे असख्यातवे भाग-असख्यातवे भाग न्यून परमाणु होते है और वे वर्गणाये अनन्त है—'जति अणता उ वग्गणा कमसो' ।

इस तरह असख्यातवे-असख्यातवे भाग न्यून-न्यून परमाणु वाली अनन्त वर्गणाये होने के पश्चात् पूर्व-पूर्व वर्गणाओ की अपेक्षा उत्तरोत्तर अनन्त वर्गणाओ मे सख्यातभाग न्यून-न्यून परमाणु होते जाते है । यानि असख्यातवे भाग न्यून परमाणु वाली अतिम वर्गणा की अपेक्षा अनन्तरवर्ती उत्तर वर्गणा मे सख्यातवे भाग न्यून परमाणु होते हैं । उसकी अपेक्षा उसके वाद की वर्गणा मे सख्यातवे भाग न्यून परमाणु होते हैं—'सखसूणातत्तो' और इस प्रकार से अनन्त वर्गणा पर्यन्त जानना चाहिये । अर्थात् सख्यातवे भाग न्यून परमाणु वाली वर्गणाये भी अनन्त होती है ।

२ स्नेहप्रत्ययस्पर्धक की तदनन्तर की अनन्त वर्गणाये सख्यातभाग हीन।

३ स्नेहप्रत्ययस्पर्धक की तदनन्तर की अनन्त वर्गणाये सख्यातगुणहीन।

४ स्नेहप्रत्ययस्पर्धक की तदनन्तर की अनन्त वर्गणाये असख्यात-गुणहीन।

५ स्नेहप्रत्ययस्पर्धक की तदनन्तर की अनन्तवर्गणाये अनन्तगुणहीन।

इस प्रकार से स्नेहप्रत्ययस्पर्धक की अनन्त वर्गणायें—१ असख्यातभागहीन-विभाग, २ सख्यातभागहीन-विभाग, ३ सख्यात-गुणहीन-विभाग, ४ असख्यातगुणहीन-विभाग, और ५ अनन्त गुणहीन-विभाग, इन पॉच विभागो मे विभाजित है।

इस प्रकार से स्नेहप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा के सवध मे अनन्तरोप-निधा प्ररूपणा का मतव्य जानना चाहिये। अब परपरोपनिधा प्ररूपणा द्वारा विचार करते है—

गतुमसखा लोगा अद्धद्धा पोग्गला भूय ॥२२॥

शब्दार्थ—**गतुमसखा लोगा**—असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण वर्गणाओ का उल्लघन करने के बाद, **अद्धद्धा**—अर्ध-अर्ध, **पोग्गला**—पुद्गल परमाणु, **भूय**—पुन फिर।

गाथार्थ—असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण वर्गणाओ का उल्लघन करने के बाद प्राप्त होने वाली वर्गणा मे अर्ध पुद्गल परमाणु होते हैं। इस प्रकार पुन पुन अर्ध-अर्ध जानना चाहिये।

विशेषार्थ—परपरोपनिधा से वर्गणाओ मे प्राप्त पुद्गल परमाणुओ का प्रमाण बतलाते हुए निर्देश किया है कि प्रथम वर्गणा मे जितने परमाणु है उनकी अपेक्षा असख्यात लोकाकाशप्रदेश प्रमाण वर्गणाओ का अतिक्रमण करने के पश्चात् प्राप्त होने वाली वर्गणा

मे परमाणु आधे होते है। उसकी अपेक्षा पुन असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण वर्गणाओ का अतिक्रमण करने पर प्राप्त वर्गणा में परमाणु अर्ध होते है। परन्तु ये अर्ध-अर्ध परमाणु किस हानि तक प्राप्त होते है? इसको स्पष्ट करने के लिये आचार्य गाथा सूत्र कहते है—

पढमहाणीए एवं बीयाए सखवग्गणा गतु ।
अद्ध उवरित्थाओ हाणीओ होंति जा जीए ॥२३॥

शब्दार्थ—**पढमहाणीए**—प्रथम हानि मे, **एव**—इसी प्रकार, **बीयाए**—दूसरी हानि मे, **सखवग्गणा**—सख्याती वर्गणाओ के, **गतु**—जाने पर, **अद्ध**—अर्ध, **उवरित्थाओ**—ऊपर रही हुई वर्गणाओ मे, **हाणीओ**—हानिया, **होंति**—होती है, **जा**—जो, **जीए**—जिसकी ।

गाथार्थ—प्रथम हानि में इस प्रकार जानना चाहिये। द्वितीय हानि मे सख्याती वर्गणाओ के जाने पर अर्धपरमाणु होते है। इसी प्रकार ऊपर रही हुई वर्गणाओ मे (सख्याती वर्गणाओ को उलाघने के बाद हो, उसमें) अर्ध-अर्ध परमाणु होते है।

विशेषार्थ—'पढमहाणीए एव' अर्थात् पहली असख्यातभाग हानि मे असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण वर्गणाओ के परे जो वर्गणा आती है उसमे अर्ध-अर्ध परमाणु होते है। तत्पश्चात् सख्यातभाग हानि में जो द्विगुण हानि होती है उस पहली वर्गणा से सख्याती वर्गणाओ के उलाघने के पश्चात् प्राप्त वर्गणा मे अर्ध परमाणु होते है। तत्पश्चात् सख्यातभाग हानि मे जो द्विगुणहानि होती है उस वर्गणा से सख्याती वर्गणाओ का अतिक्रमण करने के बाद जो वर्गणा आती है उसमे आधे पुद्गल होते है। वह इस प्रकार समझना चाहिये—

सख्यातभाग हानि वाली पहली वर्गणा से सख्याती वर्गणाओ को उलाघने के पश्चात् जो वर्गणा आती है, उसमें असख्यात भाग हानि वाली अतिम वर्गणा मे रहे हुए परमाणुओ की अपेक्षा पुद्गल परमाणु आधे होते है। उसके बाद पुन सख्याती वर्गणाओ को उलाघने के बाद

जो वर्गणा होती है उसमे आधे परमाणु होते है। इस प्रकार सख्याती-सख्याती वर्गणाये उलाघने पर अर्ध-अर्ध परमाणु सख्यातभाग हानि की चरम वर्गणा पर्यन्त समझना चाहिये।

सख्यातभाग हानि वाली वर्गणाओ से उपरिवर्ती सख्यातगुण, असख्यात गुण, अनन्तगुणहानि रूप इन तीन हानियो मे अमुक वर्गणा को उलाघने के वाद अर्धपरमाणु होने रूप परपरोपनिधा सम्भव नही है क्योकि सख्यातगुणहानि वाली प्रथम वर्गणा मे ही सख्येयभाग हीन परमाणु वाली अतिम वर्गणा मे रहे हुए परमाणुओ की अपेक्षा सख्यातगुणहीन परमाणु होते है और सख्यातगुणहीन भी कम-से-कम भी त्रिगुणहीन या चतुर्गुणहीन ग्रहण करना चाहिये, किन्तु द्विगुणहीन नही। क्योकि शास्त्र मे जहाँ कही भी सख्येयगुणहीन को ग्रहण किया जाता है वहाँ कम से कम त्रिगुणहीन अथवा चतुर्गुण-हीन ग्रहण किया जाता है। लेकिन जघन्य या उत्कृप्ट ग्रहण नही किया जाता है। इस प्रकार से सख्यातभागहीन परमाणु वाली अतिम वर्गणा मे जितने परमाणु होते है, उनका सख्यातवा भाग यानि तीसरा भाग अथवा चौथा भाग सख्यातगुणहीन परमाणु वाली पहली वर्गणा मे ही शेप रहता है, जिससे अमुक वर्गणाओ को उलाघने के वाद अर्ध-परमाणु शेप रहे, इस प्रकार की परपरोपनिधा सम्भव नही है। इसका तात्पर्य यह है कि सख्यातभागगत अतिम वर्गणा से आगे की वर्गणा मे त्रिगुणादि हीन (सख्यातगुणहीन) पुद्गल परमाणु है, द्विगुणहीन नही। जिससे द्विगुणहीन परपरोपनिधा की प्ररूपणा किया जाना सम्भव नही है।

अतएव दूसरे प्रकार से परपरोनिधा का विचार करते है। जो इस प्रकार है—

असख्यातभागहानि वाली पहली और अतिम वर्गणा के बीच मे वर्तमान कितनी ही वर्गणाये पहली वर्गणा की अपेक्षा असख्यातभाग हीन परमाणु वाली है, कितनी ही वर्गणाये सख्यातभागहीन परमाणु

वाली है, कितनी ही वर्गणाये सख्यातगुणहीन परमाणु वाली है, कितनी ही वर्गणाये असख्यातगुणहीन परमाणु वाली और कितनी ही अनन्तगुणहीन परमाणु वाली है। इस प्रकार असख्यातभागहानि मे पहली वर्गणा की अपेक्षा पॉच हानिया सभव है।

सख्यातभागहीन परमाणु वाली वर्गणाओ मे असख्यातभाग हानि के सिवाय शेप चार हानि सभव हैं, क्योकि आदि से ही असख्यात भाग हानि का अभाव होने से असख्यात भागहीन सभव नही है। जो इस प्रकार—सख्यातभागहीन परमाणु वाली पहली और अतिम वर्गणा के बीच मे विद्यमान वर्गणाओ मे कितनी ही वर्गणाये उसकी पहली वर्गणा की अपेक्षा सख्यातभागहीन परमाणु वाली है, कितनी ही सख्यातगुणहीन परमाणु वाली है, कितनी ही असख्यातगुणहीन परमाणु वाली और कितनी ही अनन्तगुणहीन परमाणु वाली है।

सख्यातगुणहानि मे असख्यातभाग और सख्यातभाग हीन को छोडकर शेष तीन हानि सभव है। वे इस प्रकार—सख्यातगुणहानि वाली पहली और अतिम वर्गणा के बीच रही हुई वर्गणाओ मे कितनी ही वर्गणाये उसकी पहली वर्गणा की अपेक्षा सख्यातगुणहीन परमाणु वाली है, कितनी ही असख्यातगुणहीन परमाणु वाली और कितनी ही अनन्तगुणहीन परमाणु वाली है।

असख्यातगुणहानि मे पूर्व की तीन हानियो को छोडकर शेप रही आगे की असख्यातगुणहानि और अनन्तगुणहानि इस प्रकार की दो हानियाँ सभव है। वे इस प्रकार—असख्यातगुणहानि वाली पहली और अतिम वर्गणा के मध्य मे की कितनी ही वर्गणाये उसकी पहली वर्गणा की अपेक्षा असख्यातगुणहीन परमाणु वाली है, और कितनी ही वर्गणाये अनन्तगुणहीन परमाणु वाली है।

अनन्तगुणहानि मे तो अनन्तगुणहानि यही एक हानि घटित होती है क्योकि अनन्तगुणहानि वाली वर्गणाओ मे प्रारम्भ से ही प्रत्येक वर्गणा अनन्तगुणहीन परमाणु वाली ही होती है।

इस प्रकार से परपरोपनिधा का आशय जानना चाहिये।

स्नेहप्रत्ययस्पर्धक की उक्त परपरोपनिधाप्ररूपणा के आशय का साराश इस प्रकार जानना चाहिये—

पूर्व वर्गणा की अपेक्षा बीच की कुछ वर्गणाओ को छोडकर आगे की वर्गणा मे परमाणुओ की हीनाधिकता के विचार करने को परपरोपनिधा कहते है। इसको इस प्रकार समझना चाहिये—

असख्यातभागहानि—विभाग मे असख्यात लोकाकाश प्रदेशो का अतिक्रमण होने पर द्विगुणहानि, सख्यातभागहानिविभाग मे असख्यात लोकाकाश प्रदेशो का अतिक्रमण होने पर द्विगुणहानि होती है। किन्तु सख्यातगुणहीन, असख्यातगुणहीन और अनन्तगुणहीन इन तीन विभागो मे पहले से ही त्रिगुणादि हीनता होने से द्विगुणहानि का अभाव है। अतएव पूर्वोक्त द्विगुण हानि रूप परपरोपनिधा सर्व विभागो मे सभव न हो सकने से दूसरे प्रकार से परपरोपनिधा प्ररूपणा इस प्रकार की जाती है कि—

असख्यातभागहानि विभाग मे प्रथम वर्गणा की अपेक्षा कुछ वर्गणाये—१ असख्यातभागहीन, २ सख्यातभागहीन, ३ सख्यातगुणहीन, ४ असख्यातगुणहीन और, ५ अनन्तगुणहीन है। इस प्रकार पाँचो हानि वाली होती है।

सख्यातभागहानि मे प्रथम वर्गणा की अपेक्षा आगे की कितनी ही वर्गणाये पूर्व की असख्यातभागहानि के सिवाय उत्तर की अपने नाम सहित शेष चार हानि वाली जानना चाहिये।

सख्यातगुणहानि मे प्रथम वर्गणा की अपेक्षा आगे की कितनी ही वर्गणाये पूर्व की असख्यातभागहानि और सख्यातभागहानि इन दो हानियो को छोडकर उत्तर की अपने नाम सहित तीन हानि वाली है।

असख्यातगुणहानि मे प्रथम वर्गणा की अपेक्षा आगे की कितनी ही वर्गणाये पूर्व की असख्यातभागहानि, सख्यातभागहानि, सख्यात-

गुणहानि इन तीन पूर्व की हानियो को छोडकर शेष रही असख्यात-गुणहानि, अनन्तगुण हानि, इन दो हानियो वाली है ।

अनन्तगुणहानि मे प्रथम वर्गणा की अपेक्षा आगे की कितनी ही वर्गणाये पूर्वोक्त चार हानियो के सिवाय अपने नाम की हानि वाली अर्थात् अनन्तगुणहानि वाली होती है ।

साराश यह है कि जिस हानि का वर्णन करना हो उसको अपने-अपने नाम के क्रम से प्रारभ कर उत्तर की सभी हानियो का नामोल्लेख करना चाहिये, किन्तु पूर्व की हानियो को छोड दे ।

इस तरह मूल हानिपचक और उत्तर हानिपचक इन दो प्रकारो से परपरोपनिधा प्ररूपणा जानना चाहिये । अब इनके अल्प बहुत्व का विचार करते है—

पचहानिगत वर्गणाओ का अल्पबहुत्व

> **थोवाओ वग्गणाओ पढमहाणीय उवरिमासु कमा ।**
>
> **होंति अणतगुणाओ अणतभागो पएसाण ॥२४॥**

शब्दार्थ—**थोवाओ**—स्तोक, अल्प, **वग्गणाओ**—वगणाये, **पढमहाणीए**—प्रथम हानि मे, **उवरिमासु**—उत्तरवर्ती मे, **कमा**—अनुक्रम से, **होंति**—होती है, **अणतगुणाओ**—अनन्तगुण, **अणतभागो**—अनन्तवे भाग, **पएसाण**—प्रदेशो का ।

गाथार्थ—प्रथम हानि मे वर्गणाये अल्प है और उसके बाद की उत्तरवर्ती हानियो में अनुक्रम से अनन्तगुण वर्गणाये होती है और प्रदेशो का अनन्तवा भाग होता है ।

विशेषार्थ—'थोवाओ वग्गणाओ पढमहाणीए' अर्थात् स्नेहाणुओ की वृद्धि और परमाणुओ की हानि के साथ बनने वाली वर्गणाओ मे पहली हानि का नाम असख्यातभाग हानि है । उसमे वर्गणाये सबसे कम होती है, उससे उत्तरवर्ती होने वाली हानियो मे अनुक्रम से अनन्त-अनन्तगुण वर्गणाये होती है—'उवरिमासु कमा होंति अणत

गुणाओ ।' इमका तात्पर्य यह हुआ कि असग्यातभागहानि के अनन्तर क्रम प्राप्त सख्यातभागहानि मे अनन्तगुणी वर्गणाये होती है । उसकी अपेक्षा सख्यातगुणहानि मे अनन्तगुणी वर्गणाये होती है। उसकी अपेक्षा असख्यातगुणहानि मे वर्गणाये अनन्तगुणी है और उससे भी अनन्तगुणहानि मे अनन्तगुणी वर्गणाये है।

हानियो की अपेक्षा वर्गणाओ की अल्पाधिकता का प्रमाण उक्त प्रकार है किन्तु प्रदेशापेक्षा-परमाण्वापेक्षा अल्पवहुत्व अनन्तवा भाग है—'अणतभागो पएसाण' । जो इस प्रकार जानना चाहिये—

असख्यातभागहानि मे पुद्गल अधिक है। उससे सख्यातभाग-हानि मे अनन्तवे भाग मात्र पुद्गल है। उसकी अपेक्षा सख्यातगुण-हानि मे अनन्तवे भाग है, उससे असख्यातगुणहानि मे अनन्तवें भाग और उसकी अपेक्षा भी अनन्तगुणहानि मे अनन्तवे भाग मात्र पुद्गल होते है। क्योकि जैसे-जैसे रस (स्नेह) की वृद्धि होती जाती है वैसे-वैसे उस-उस स्नेह वाले पुद्गल तथास्वभाव से अल्प-अल्प होते जाते है जिससे ऊपर-ऊपर वृद्धि को प्राप्त रस वाली वर्गणाओ मे पुद्गल परमाणु न्यून-न्यून पाए जाते है।

(उक्त कथन का साराश यह हुआ कि १ अनन्तगुणहानि मे पुद्गल परमाणु सबसे कम है, २ उनसे असख्यातगुणहानि मे पुद्गल परमाणु अनन्तगुणे होते है, ३ उनसे भी सख्यातगुणहानि मे पुद्गल परमाणु अनन्त गुणे होते है, ४ उनसे भी सख्यातभाग हानि मे पुद्गल परमाणु अनन्तगुणे होते है और ५ उनसे भी असख्यातभाग हानि मे पुद्गल परमाणु अनन्त गुणे होते है ।)

यहाँ विशेष ज्ञातव्य यह है कि अनन्तगुणहानि मे अनन्तगुण वडे-वडे भागो की हानि होने से अनन्तगुण मे गुण शब्द से अनन्त पुद्गल राशि प्रमाण एक भाग ऐसे अनन्त भाग समझना चाहिये, किन्तु गुणाकार जैसा भाग नही। क्योकि अनन्तगुण रूप भाग तो सव भागो की अपेक्षा बृहत् प्रमाण वाला है। अतएव यहाँ की तरह

जहाँ कही भी हानि मे गुण शब्द का प्रयोग किया जाये वहाँ सर्वत्र गुण शब्द से भागाकार प्रमाण ही जानना चाहिये, गुणाकार रूप नही और वृद्धि के प्रसग मे गुण शब्द का अर्थ गुणाकार समझना चाहिए।

इस प्रकार से स्नेहप्रत्ययिक वर्गणाओ का विस्तार से विवेचन करने के बाद अब स्नेहप्रत्ययस्पर्धक के स्वरूप का विचार करते है—

एक स्नेहाविभाग से लेकर यथोत्तर के क्रम से वृद्धि को प्राप्त अनन्त स्नेहाविभागो से युक्त परमाणुओ की अनन्त वर्गणाये होती है और उन अनन्त वर्गणाओ के समुदाय का एक स्नेहप्रत्ययस्पर्धक होता है। इसके मध्य में एक-एक स्नेहाणु की वृद्धि का विच्छेद न होने से यह स्नेहप्रत्ययस्पर्धक एक ही होता है। क्योकि अनुक्रम से अविभागी अशो से बढने वाली उक्त वर्गणाओ के अन्तराल मे एक-एक अविभाग की वृद्धि का व्यवच्छेद नही है। अर्थात् एक-एक अविभाग-वृद्धि का व्यवच्छेद स्पर्धक के अन्त में होता है। कहा भी है—

रूवुत्तर वुड्ढीए छेओ फड्डगाण

अर्थात् रूपोत्तर[1] वृद्धि का जो विच्छेद वह स्पर्धक का अत कहलाता है किन्तु यहाँ जघन्य से लेकर उत्कृष्ट स्नेहाणु वाली अतिम वर्गणा पर्यन्त एक-एक बढते हुए स्नेहाणु वाली वर्गणाये प्राप्त होती है। बीच मे एक-एक के क्रम से बढते स्नेहाणु का विच्छेद नही होने से अनेक स्पर्धक नही होते है, लेकिन एक ही स्पर्धक होता है।

इस प्रकार से स्नेहप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा का आशय जानना चाहिये।

अब नामप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा को कहते है। उसके विचार के आठ अनुयोगद्वार इस प्रकार है—१ अविभाग प्ररूपणा, २ वर्गणा

१ एक (अक) सख्या का बोधक रूप शब्द है।

प्ररूपणा, ३ स्पर्धक प्ररूपणा, ४ अतर प्ररूपणा, ५ वर्गणागत पुद्गलो के स्नेहाविभाग के समस्त समुदाय की प्ररूपणा, ६ स्थान प्ररूपणा, ७ कडक प्ररूपणा और ८ पट्स्थान प्ररूपणा। इनमे से प्रथम अविभाग प्ररूपणा का निर्देश करते है।

अविभाग प्ररूपणा

पंचण्ह सरीराण परमाणूण मईए अविभागो।
कप्पियगाणेगसो गुणाणु भावाणु वा होज्जा ॥२५॥

शब्दार्थ—**पचण्ह सरीराण**—पाच शरीरो के, **परमाणूण**—परमाणुओ के, **मईए**—बुद्धि से, **अविभागो**—अविभाग, **कप्पियगाणेगसो**—किया गया एक अश, **गुणाणु**—गुणाणु, **भावाणु**—भावाणु, **वा**—अथवा, **होज्जा**—होता है, कहलाता है।

गाथार्थ—पाँच शरीरो के परमाणुओ के स्नेह का बुद्धिरूप शस्त्र द्वारा अविभाग करना और उन किये गये अविभागो मे से एक अश गुणाणु अथवा भावाणु कहलाता है।

विशेषार्थ—'पचण्ह सरीराण' अर्थात् पन्द्रह वधननामकर्म के द्वारा वधयोग्य औदारिकादि पाँच शरीरो के परमाणुओ मे रहे हुए स्नेह के केवली की प्रज्ञा रूप शस्त्र से किये गये एक के दो अश न हो इस प्रकार के अविभागी अशो के एक अश को गुणाणु—गुणपरमाणु अथवा भावाणु-भावपरमाणु कहते है—'गुणाणु भावाणु वा होज्जा'।

इस प्रकार से अविभाग प्ररूपणा का स्वरूप जानना चाहिये। अब तदनन्तरवर्ती वर्गणा प्ररूपणा का वर्णन करते है।

वर्गणा प्ररूपणा

जे सव्वजहन्नगुणा जोग्गा तणुबधणस्स परमाणु।
तेवि उ सखासखा गुणपलिभागे अइक्कता ॥२६॥

शब्दार्थ—**जे**—जो, **सव्वजहन्नगुणा**—सर्वजघन्य स्नेह गुण वाले, **जोग्गा**—योग्य, **तणुबधणस्स**—शरीरवधननामकर्म के, **परमाणु**—परमाणु,

गाथार्थ—सपूर्ण जीव राशि से अनन्त गुणे स्नेह से युक्त जो पुद्‌गल परमाणु है, उनका समूह प्रथम वर्गणा है और वह वधननामकर्म के योग्य होती है। एक-एक अविभाग मे वढती हुई वर्गणाये सिद्धो के अनन्तवे भाग प्रमाण होती है।

विशेषार्थ—सपूर्ण जीवराशि से अनन्त गुणे स्नेह से युक्त पुद्‌गल परमाणुओ का जो समुदाय, वह पहली जघन्य वर्गणा है। ऐसी वर्गणाये अर्थात् समस्त जीव राशि से अनन्त गुणे स्नेहाविभाग से युक्त परमाणु वाली वर्गणाये औदारिक-औदारिकादि वधननामकर्म योग्य होती है और उन वर्गणाओ को ग्रहण करके जीव वधननामकर्म के उदय से अपने साथ सवद्ध करता है। लेकिन इनसे अल्प स्नेहाणु वाली वर्गणाओ को अपने साथ सवद्ध नही करता है।

तत्पश्चात् एक अधिक स्नेहाणु वाले पुद्‌गल परमाणुओ के समूह की दूसरी वर्गणा, दो अधिक स्नेहाणु वाले परमाणुओ की तीसरी वर्गणा, इस प्रकार एक-एक स्नेहाणु से वढती हुई वर्गणाये निरन्तर वहाँ तक जानना चाहिये, यावत् अभव्यो से अनन्तगुण या सिद्धो के अनन्तवे भाग प्रमाण हो। अर्थात् एक-एक स्नेहाणु से वढती हुई वे वर्गणाये अभव्यो से अनन्तगुण अथवा सिद्धो के अनन्तवे भाग प्रमाण होती है।

इस प्रकार से वर्गणा प्ररूपणा का स्वरूप जानना चाहिये। अव स्पर्धक और अन्तर प्ररूपणा का कथन करते है।

स्पर्धक और अन्तर प्ररूपणा

ताओ फड्डगमेग अणतविवराइं इय भूय ॥२८॥
जइम इच्छसि फड्ड तत्तिय सखाए वग्गणा पढमा।
गुणिया तस्साइल्ला रूवुत्तरियाओ अण्णाओ ॥२९॥

शब्दार्थ—**ताओ**—उनका, **फड्डगमेग**—एक स्पर्धक होता है, **अणतविवराइ**—अनन्त अन्तराल, **इय**—इस प्रकार, **भूय**—वार-वार, **जइम**—जितनेवें, **इच्छसि**—इच्छा करते हो, **फड्ड**—स्पर्धक की, **तत्तिय**—उस, **सखाए**—सख्या के साथ, **वग्गणा**—वर्गणा, **पढमा**—पहली, **गुणिया**—गुणा करने से,

उसकी अपेक्षा दुगने स्नेहाणु होते है। उसमे एक अधिक स्नेहाणु वाले परमाणुओ का जो समुदाय वह दूसरी वर्गणा, उससे एक अधिक परमाणुओ के समुदाय की तीसरी वर्गणा इस प्रकार एक-एक स्नेहाविभाग से अधिक निरतर वर्गणाये वहाँ तक कहना चाहिये जव वे अभव्य से अनन्तगुण और सिद्धो के अनन्तवे भाग प्रमाण हो जायें। उनके समुदाय का दूसरा स्पर्धक होता है।

दूसरे स्पर्धक की अतिम वर्गणा के पश्चात् एक अधिक स्नेहाविभाग वाले परमाणु नही है। दो स्नेहाविभाग अधिक वाले परमाणु नही है। तीन अधिक वाले नही हैं, इसी क्रम से वढते हुए सख्यात या असख्यात या अनन्त स्नेहाविभाग अधिक वाले परमाणु नही है, परन्तु सर्वजीवो से अनन्तगुण स्नेहाणु युक्त परमाणु होते है। समान स्नेहाणु वाले उनका जो समुदाय, वह तीसरे स्पर्धक की पहली वर्गणा होती है। उसमे पहले स्पर्धक की पहली वर्गणा से तिगुने स्नेहाविभाग होते है। उनसे एक अधिक स्नेहाणु वाले परमाणुओ के समुदाय की दूसरी वर्गणा, दो स्नेहाणु अधिक परमाणुओ की तीसरी वर्गणा, इस प्रकार एक-एक वढाते हुए वहाँ तक कहना चाहिये कि अभव्यो से अनन्तगुण और सिद्धो के अनन्तवे भाग प्रमाण निरतर वर्गणाये हो जाये, उनका समुदाय तीसरा स्पर्धक होता है।

तीसरे स्पर्धक की अतिम वर्गणा से आगे एक अधिक स्नेहाणु वाले परमाणु नही है। इसी क्रम से वढते हुए सख्यात, असख्यात या अनन्त अधिक स्नेहाणु युक्त परमाणु प्राप्त नही होते है परन्तु सपूर्ण जीव राशि से अनन्त गुणअधिक वाले स्नेहाविभाग युक्त परमाणु होते हैं, उन समान स्नेह वाले परमाणुओ का समुदाय चौथे स्पर्धक की पहली वर्गणा होती है। इस चौथे स्पर्धक की पहली वर्गणा मे पहले स्पर्धक की प्रथम वर्गणा से चौगुने स्नेहाविभाग होते हैं।

इस प्रकार पहले स्पर्धक की पहली वर्गणा के स्नेहाविभाग की अपेक्षा जितनेवे स्पर्धक का विचार किया जाये तो उसमे उतने गुणे

मे ग्यारह, तीसरी वर्गणा मे वारह और चौथी वर्गणा में तेरह और इन चार वर्गणाओ का समूह पहला स्पर्धक हुआ। यहाँ से आगे एकोत्तर वृद्धि वाले स्नेहाविभाग नही होते है, किन्तु सर्व जीव राशि से अनन्तगुणाधिक स्नेहाणु होते है, उनकी असत्कल्पना से सख्या वीस मान ली जाए। अतएव वे वीस स्नेहाणु दूसरे स्पर्धक की पहली वर्गणा मे हुए। वे वीस स्नेहाणु पहले स्पर्धक की पहली वर्गणा की अपेक्षा दुगुने हुए। दूसरी वर्गणा मे इक्कीस, तीसरी वर्गणा में वाईस और चौथी वर्गणा मे तेईस। इन चार वर्गणाओ का समुदाय दूसरा स्पर्धक है। इसके पश्चात् एकोत्तर वृद्धि मे वृद्धिगत स्नेहाविभाग नही होते है परन्तु सर्वजीवो से अनन्तगुणाधिक स्नेहाविभाग होते है। उनको असत्कल्पना से तीस मान लिया जाये। ये तीस स्नेहाविभाग तीसरे स्पर्धक की पहली वर्गणा मे होते है। ये तीस स्नेहाणु पहले स्पर्धक की पहली वर्गणा के दस स्नेहाणुओ की अपेक्षा तिगुने हुए। इसी प्रकार प्रत्येक स्पर्धक की पहली वर्गणा के लिये समझना चाहिये। पहले स्पर्धक और दूसरे स्पर्धक के वीच मे चौदह से उन्नीस इस प्रकार छह स्नेहाणुओ का अन्तर है। इसी प्रकार चौबीस से उनतीस तक छह स्नेहाणुओ का अन्तर दूसरे और तीसरे स्पर्धक के वीच मे है। इस तरह छह-छह स्नेहाणु रूप मे यह अन्तर समान है। इसी प्रकार प्रत्येक स्पर्धक मे अन्तर समान समझना चाहिये। यहाँ सर्वजीवो से अनन्तगुण सख्या के स्थान मे छह की कल्पना की है।

इस प्रकार से स्पर्धक और अन्तर प्ररूपणा का विवेचन करने के पश्चात् उनका उपसहार करते हुए यह वताते है कि कुल मिलकर स्पर्धक और अन्तर कितने होते हैं।

स्पर्धक और अतरो का संख्याप्रमाण

अभवाणतगुणाइ फड्डाइ अतरा उ रूवूणा।
दोण्णतर वुड्ढिओ परपरा होंति सव्वाओ ॥३०॥

शब्दार्थ—अभवाणतगुणाइ—अभव्यो से अनन्त गुणे, फड्डाइ—स्पर्धक,

अतरा—अतर, उ—और, रूवूणा—रूप (एक) न्यून, दोण्णतर वुड्ढिओ—अनन्तर दो वृद्धिया, परंपरा—परपरा से, होंति—होती है, सव्वाओ—सभी।

गाथार्थ—स्पर्धक अभव्यो से अनन्त गुणे और अतर रूपोन (एक न्यून) होते है। अनन्तर दो वृद्धि और परपरा से सभी वृद्धिया होती है।

विशेषार्थ—स्पर्धक का कुल प्रमाण कितना है? इस प्रश्न का उत्तर दिया है कि 'अभवाणतगुणाइ फड्डाइ' अर्थात् अभव्य से अनन्त गुणे एव उपलक्षण से सिद्धो के अनन्तवे भाग प्रमाण स्पर्धक होते है तथा अतर कितने होते है? इस प्रश्न के उत्तर मे बताया कि 'अतरा रूवूणा' यानि अन्तर स्पर्धक की अपेक्षा रूप न्यून—एक कम होते है, जैसे कि चार के अतर तीन होते है। इसी प्रकार यहाँ भी समझ लेना चाहिये तथा वर्गणाओ मे आनन्तर्य—पूर्व-पूर्व से उत्तर-उत्तर की अपेक्षा दो वृद्धि होती हैं—'दोण्णतर वुड्ढिओ'। उनके नाम इस प्रकार हैं—

१ एक-एक अविभाग वृद्धि और २ अनन्तानन्त अविभाग वृद्धि। इनमे से एक-एक अविभाग की वृद्धि स्पर्धक मे रही हुई वर्गणाओ मे उत्तरोत्तर और अनन्तानन्त अविभागो की वृद्धि पूर्व स्पर्धक की अतिम वर्गणा की अपेक्षा उत्तरवर्ती स्पर्धक की पहली वर्गणा मे जानना चाहिये और 'परपरा होंति सव्वाओ' यानि परपरा वृद्धि पहले स्पर्धक की पहली वर्गणा की अपेक्षा छह प्रकार की समझना चाहिये। वे इस प्रकार—१ अनन्तभागवृद्धि २ असख्यातभागवृद्धि ३ सख्यातभागवृद्धि, ४ सख्यातगुणवृद्धि ५ असख्यातगुणवृद्धि और ६ अनन्त गुण वृद्धि। इसका आशय यह हुआ कि पहले स्पर्धक की पहली वर्गणा की अपेक्षा कितनी ही वर्गणाये अनन्तभागाधिक स्नेहाणु वाली, कितनी ही असख्यभागाधिक स्नेहाणु वाली और कितनी ही सख्यातभागाधिक स्नेहाणु वाली होती हैं। इस प्रकार प्रत्येक स्पर्धक मे रही हुई वर्गणाओ की अपेक्षा तीन वृद्धि होती है। पहले स्पर्धक की पहली वर्गणा की अपेक्षा पहले स्पर्धक मे लेकर सख्यात स्पर्धकपर्यन्त प्रत्येक

की पहली-पहली वर्गणा मे सख्यातगुण स्नेहाणु होते है। तत्पश्चात् असख्यात स्पर्धक पर्यन्त प्रत्येक की पहली-पहली वर्गणा मे असख्यात-गुण और उसके बाद के अनन्त स्पर्धक पर्यन्त प्रत्येक की पहली-पहली वर्गणा मे अनन्त गुण स्नेहाणु होते हैं, यह परपरा वृद्धि पहले स्पर्धक की पहली वर्गणा की अपेक्षा उसके बाद के किसी भी स्पर्धक की पहली वर्गणा मे होती है, यह समझना चाहिये।

इस प्रकार से वर्गणा, स्पर्धक और अतर प्ररूपणाओ का आशय जानना चाहिये। अब वर्गणागत पुद्गलपरमाणुओ के स्नेहाविभाग के समुदाय की प्ररूपणा करते है।

वर्गणागत पुद्गल—स्नेहाविभाग समुदाय प्ररूपणा

वर्गणागत परमाणुओ के स्नेहाविभाग कुल मिलाकर कितने होते है ? तो वे इस प्रकार जानना चाहिये कि पहले शरीरस्थान के पहले स्पर्धक की पहली वर्गणा मे स्नेहाविभाग अल्प होते है, उसकी अपेक्षा दूसरे शरीरस्थान के प्रथम स्पर्धक की पहली वर्गणा मे अनन्त गुणे स्नेहाणु होते है, उससे तीसरे शरीरस्थान के प्रथम स्पर्धक की पहली वर्गणा मे अनन्त गुणे स्नेहाणु होते है। इस प्रकार उत्तरोत्तर प्रत्येक शरीरस्थान की पहली वर्गणा मे अनन्तगुण-अनन्तगुण स्नेहाविभाग समझना चाहिये।

इस प्रकार से वर्गणागत पुद्गल स्नेहाविभाग समुदाय की प्ररूपणा करने के पश्चात् क्रमप्राप्त स्थान व कडक प्ररूपणा का कथन करते हैं।

स्थान और कंडक प्ररूपणा

पढमाउ अणतेहिं सरीरठाणं तु होई फड्डेहिं।
तयणतभागवुड्ढी कडकमित्ता भवे ठाणा ॥३१॥

शब्दार्थ—पढमाउ—पहले (स्पर्धक) से लेकर, अणतेहिं—अनन्त, सरीर-ठाण—शरीरस्थान, तु—और, होइ—होता है, फड्डेहिं—स्पर्धको द्वारा,

तयणतभागवुड्ढी—तदनन्तर अनन्त भाग से वृद्धिगत, **कडकमित्ता**—कडक प्रमाण, **भवे**—होते है, **ठाणा**—स्थान।

गाथार्थ—पहले स्पर्धक से लेकर अनन्त स्पर्धको के द्वारा प्रथम स्थान होता है, तदनन्तर अनन्तभाग से वृद्धिगत कडक प्रमाण स्थान होते है।

विशेषार्थ—नामप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा का प्रसग होने से यहाँ स्थान शब्द से शरीरस्थान का ग्रहण करना चाहिये। अतएव पहले स्पर्धक से लेकर अनन्त स्पर्धको का प्रथम शरीरस्थान होता है। क्योकि अनन्त स्पर्धको के समूह की स्थान यह सज्ञा है। पहले शरीरस्थान के स्पर्धको की अपेक्षा अनन्तभागाधिक स्पर्धको का दूसरा शरीरस्थान होता है। उससे अनन्तभागाधिक स्पर्धको का तीसरा स्थान होता है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व शरीरस्थान की अपेक्षा उत्तरोत्तर अनन्त भागाधिक स्पर्धको वाले कडक प्रमाण शरीरस्थान होते है।

इस प्रकार से स्थानप्ररूपणा करने के पश्चात् अब कडक प्ररूपणा करते है कि कडक यह सख्याबोधक शब्द है, जिसका लक्षण स्वय ग्रन्थकार आचार्य आगे गाथा ३५ मे कह रहे है।

इस प्रकार से कडक प्ररूपणा का विचार करने के पश्चात् अब षट्स्थान प्ररूपणा करते है।

षट्स्थान प्ररूपणा

> **एक असखभागुत्तरेण पुण णतभागवुड्ढिए।**
> **कडकमेत्ता ठाणा असखभागुत्तर भूय ॥३२॥**
> **एव असखभागुत्तराणि ठाणाणि कडमेत्ताणि।**
> **सखेज्जभागवुड्ढ पुण अन्न उट्ठए ठाणं ॥३३॥**
> **अमुयतो तह पुव्वुत्तराइ एयपिनेसु जा कड।**
> **इय एय विहाणेण छव्विहवुड्ढी उ ठाणेसु ॥३४॥**

शब्दार्थ—एक—एक, असखभागुत्तरेण—तत्पश्चात् असख्यभाग वृद्धि और, पुण—पुन , णतभागवुड्ढिए—अनन्तभाग वृद्धि के, कंडकमेत्ता—कडक मात्र, ठाणा—स्थान, असखभागुत्तरं—असख्यभाग अधिक वाला, भूय—पुन फिर ।

एव—इस प्रकार से, असखभागुत्तराणि—असख्यभागवृद्धि वाले, ठाणाणि—स्थान, कडमेत्ताणि—कडक प्रमाण, सखेज्जभागवुड्ढ—सख्यातभागवृद्ध पुण—फिर, अन्न—अन्य, उट्ठए—होता है, ठाण—स्थान ।

अमुयतो—नही छोडते हुए, तह—तथा, पुव्वुत्तराइ—पूर्व और वाद के, एयपि—यह भी, नेसु—जानना चाहिय, जा—जहाँ तक, यावत्, कड—कडक, इय—यह, एयविहाणेण—इस प्रकार से, छव्विहवुड्ढी—छह प्रकार की वृद्धि, उ—और, ठाणेसु—स्थानो (शरीर स्थानो) मे ।

गाथार्थ—(अनन्तभागवृद्धि का कडक होने के पश्चात्) एक असख्यातभागवृद्ध स्थान होता है। तत्पश्चात् अनन्तभागवृद्धि के कडक प्रमाण स्थान होते है और उसके वाद पुन असख्यातभाग-वृद्धि वाला स्थान होता है। तत्पश्चात् सख्यातभागवृद्ध अन्य स्थान होता है ।

फिर उसके वाद पूर्व तथा उसके वाद के स्थानो को न छोडते हुए यह सख्यातभागाधिक स्थान भी वहाँ तक जानना चाहिये कि उनका कडक परिपूर्ण हो। इस तरह उपर्युक्त प्रकार से छहो प्रकार की वृद्धि शरीरस्थानो मे होती है ।

विशेषार्थ—षट्स्थान प्ररूपणा की आद्य इकाई 'अनन्तभागाधिक' है कि पूर्व-पूर्व शरीरस्थानो के स्पर्धक की अपेक्षा उत्तरोत्तर शरीर-स्थानो मे अनन्तवे भाग वढते हुए स्पर्धक वाले शरीरस्थान एक कडक जितने होते है। जिसका पूर्व गाथा में सकेत किया जा चुका है। उसके वाद का जो शरीरस्थान होता है उसमे अनन्तभागवृद्ध कडक के अन्तिम-स्थान के स्पर्धको की अपेक्षा असख्यातवेभाग अधिक स्पर्धक होते हैं —'एक असखभागुत्तरेण'। तत्पश्चात् पुन एक कडक जितने स्थान

पूर्व-पूर्व स्थान की अपेक्षा अनन्तभागाधिक स्पर्धक वाले होते है। तत्पश्चात् जो शरीरस्थान होता है, वह पूर्व के शरीरस्थान से असख्यातभागाधिक स्पर्धक वाला होता है। उसके वाद पुन एक कडक प्रमाण स्थान अनन्तभागाधिक स्पर्धक वाले होते है। इस प्रकार कडक प्रमाण अनन्त-भागाधिक स्पर्धको से व्यवहित असख्यातभागाधिक स्पर्धक वाले शरीरस्थान भी एक कडक प्रमाण होते है। अर्थात् पहले असख्यातभागवृद्ध और दूसरे असख्यातभागवृद्ध शरीरस्थान के बीच मे अनन्तभागवृद्ध स्पर्धक वाले एक कडक जितने स्थान होते है। इसी प्रकार दूसरे और तीसरे के बीच मे, तीसरे और चौथे के मध्य मे अनन्तभागवृद्ध स्पर्धको का कडक होता है। इस रीति से असख्यातभागवृद्ध स्पर्धको का एक कडक पूर्ण हो जाता है।

तत्पश्चात् अन्तिम असख्यातभागवृद्ध शरीरस्थान से एक कडक जितने स्थान अनन्त भागाधिक स्पर्धक वाले होते है, और उसके वाद जो शरीरस्थान प्राप्त होता है, उसमे पूर्व स्थान की अपेक्षा सख्यातवे भाग अधिक स्पर्धक होते है अर्थात् असख्यातभागवृद्ध स्पर्धक का अन्तिम स्थान होने के पश्चात् एक कडक जितने स्थान अनन्तभागवृद्ध स्पर्धक वाले होते है, और उसके वाद का सख्यात भागाधिक स्पर्धक वाला पहला एक शरीरस्थान होता है। इसके पश्चात् प्रारम्भ से लेकर जितने स्थान जिस क्रम से पूर्व मे कहे गये है उतने स्थान उसी क्रम से कहने के वाद जो शरीरस्थान होता है, वह पूर्व स्थान की अपेक्षा सख्यातभागाधिक स्पर्धक वाला होता है—'सखेज्जभाग वुड्ढ पुण अन्न उट्ठए ठाण'।

इसके अनन्तर पहले और दूसरे सख्यातभागाधिक स्थान के बीच मे जिस क्रम मे और जितने स्थान कहे है उसी क्रम से और उतने कहकर फिर तीसरा सख्यातभागाधिक स्पर्धक वाला स्थान होता है। इस प्रकार सख्यातभागाधिक शरीरस्थान भी एक कडक जितने होते हैं।

उक्त कथन का आशय यह हुआ कि—

पहली बार सख्यात वृद्धि वाला स्थान होने के पश्चात् पहले अनन्त भागवृद्ध और उसके बाद के असख्यातभागवृद्ध स्थान कडक प्रमाण जिस रीति से पूर्व में बताये है, उसी प्रमाण करने से दूसरा सख्यात-भाग वृद्ध स्थान होता है। फिर पुन अनन्त और असख्यातभागवृद्धि के सभी स्थान होने के पश्चात् तीसरा सख्यात भाग वृद्ध स्थान होता है। इस प्रकार करने से सख्यातभागवृद्ध स्थान भी कडक प्रमाण होते है।

अन्तिम सख्यातभागवृद्ध स्थान होने के पश्चात् अनन्त और असख्यात भाग वृद्धि के समस्त स्थान करने के बाद सख्यातगुणवृद्ध स्थान प्रारम्भ होता है। यानि अनन्तर पूर्व के स्थान में जितने स्पर्धक होते हैं, उससे सख्यातगुण स्पर्धक सख्यातगुणवृद्धि के पहले स्थान में होते है उसके बाद शुरू से लेकर यहाँ तक जितने स्थान पूर्व में कहे जा चुके है उतने स्थान उसी प्रकार कहना चाहिये। उसके बाद दूसरा सख्यातगुणाधिक स्पर्धक वाला स्थान कहना चाहिये। उसके पश्चात पहले और दूसरे सख्यातगुण स्थान के बीच जो स्थान कहे है, वे सभी स्थान उसी प्रकार कहना चाहिये। तत्पश्चात् तीसरा सख्यातगुणा-धिक स्थान होता है। इस प्रकार यह सख्यातगुणाधिक स्थान भी वहाँ तक कहना चाहिये यावत् उसका कडक पूर्ण हो।

अन्तिम सख्यातगुणधिक स्थान कहने के पश्चात् मूल से प्रारम्भ कर पहले सख्यातगुणवृद्ध पर्यन्त जितने स्थान जिस क्रम से कहे है, उतने उसी प्रमाण कहना चाहिये। तत्पश्चात् असख्यातगुण अधिक स्पर्धक वाला पहला स्थान होता है। तत्पश्चात् शुरू से लगाकर यहाँ तक जितने शरीरस्थान जिस रीति से पूर्व में कहे हैं, उतने उसी प्रकार से कहकर दूसरा असख्यातगुणाधिक स्थान होता है। फिर उतने ही स्थान कहने के पश्चात् तीसगा असख्यातगुणवृद्ध स्थान होता है। इस प्रकार से असख्यातगुणवृद्ध स्थान भी कडक प्रमाण होते हैं।

इस प्रकार के पट्स्थानक कितने होते है ? तो इसके उत्तर मे आचार्य सूत्र और कडक का लक्षण कहते है—

अस्संखलोग तुल्ला अणंतगुणरसजुया य इय ठाणा।
कडति एत्थ भन्नइ अंगुलभागो असखेज्जो ॥३५॥

शब्दार्थ—**अस्सखलोग तुल्ला**—असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण, **अणतगुणरसजुया**—अनन्त गुण स्नेह से युक्त, **य**—और, **इय**—ये, **ठाणा**—शरीरस्थान, **कडति**—कडक यह, **एत्थ**—यहाँ, **भन्नइ**—कहते है, **अगुलभागो असखेज्जो**—अगुल के असख्यातवें भाग।

गाथार्थ—इस प्रकार अनन्तगुण स्नेह से युक्त असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण शरीरस्थान होते हैं। यहाँ कडक यह अगुल के असख्यातवे भाग (गत प्रदेशो) की सख्या को कहते हैं।

विशेषार्थ—पूर्व मे बताये गये छह प्रकार की वृद्धि वाले शरीरस्थानो के प्रमाण का यहाँ निर्देश किया है कि अनन्तगुण स्नेह से युक्त वे स्थान कुल मिलाकर **'अस्सखलोगतुल्ला'**—असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते है और इसी प्रकार से असख्येय गुण स्नेहादि से युक्त भी प्रत्येक स्थान असख्यातलोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते है।

इस प्रकार से समस्त शरीरस्थानो का प्रमाण बतलाने के वाद अव पूर्व मे आगत कडक शब्द का लक्षण कहते हैं कि स्थान के विचार में अगुल के असख्यातवे भाग मे जितने आकाश प्रदेश होते है उस सख्या की कडक यह सज्ञा है। अर्थात् अगुल के असख्यातवे भाग मे जितने आकाश प्रदेश हैं, उनकी कुल मिलाकर जितनी सख्या होती है उतनी सख्या की शास्त्रीय भाषा मे कडक यह सज्ञा है।

अव उन-उन वधनयोग्य शरीर के परमाणुओ के अल्पवहुत्व का कथन करते है—

१ औदारिक-औदारिक वधन योग्य पुद्गल परमाणु अल्प है। उससे औदारिक-तैजस वधनयोग्य पुद्गल अनन्तगुणे हैं। उससे

औदारिक-कार्मण वधनयोग्य पुद्गल अनन्त गुणे है, और उससे औदारिक-तैजस-कार्मणवधन योग्य पुद्गल अनन्त गुणे है।

२ वैक्रिय-वैक्रिय बधनयोग्य पुद्गल अल्प है, उससे वैक्रिय-तैजस वधन योग्य पुद्गल अनन्तगुणे हैं। उससे वैक्रिय-कार्मण वधन योग्य पुद्गल अनन्त गुणे है और उससे वैक्रिय-तैजस-कार्मण वधनयोग्य पुद्गल अनन्त गुणे है।

३ आहारक-आहारक वधनयोग्य पुद्गल अल्प है। उसकी अपेक्षा आहारक-तैजस वधन योग्य पुद्गल अनन्तगुणे है। उससे आहारक-कार्मण वधनयोग्य पुद्गल अनन्तगुणे है और उससे आहारक-तैजस-कार्मणवधन योग्य पुद्गल अनन्तगुणे है।

४ उससे तैजस-तैजस वधन योग्य पुद्गल अनन्त गुणे है। उससे तैजस-कार्मणवधन योग्य पुद्गल अनन्तगुणे है। और उससे कार्मण-कार्मण वधन योग्य पुद्गल अनन्तगुणे हैं।

वधननामकर्म के अधिकतम पन्द्रह भेद होते है, उन्ही की अपेक्षा यहाँ अल्पवहुत्व का कथन किया है। जिसका आशय यह है कि, औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीरो से वधने वाले अपने-अपने नाम वाले वधन योग्य पुद्गल परमाणु अल्प होते है, उससे तैजस, कार्मण और तैजस-कार्मण वधन योग्य परमाणु क्रमश अनन्तगुणे अनन्तगुणे है, और तैजस-तैजस, तैजस-कार्मण तथा कार्मण-कार्मण वधन योग्य परमाणु अनन्तगुण अनन्तगुण ही होते है। सामान्य से तो इन तैजस आदि वधनो मे अल्पवहुत्व नही माना जा सकता है, लेकिन विशेपापेक्षा मान भी लिया जाये तो अनन्त के अनन्त भेद होने से अनन्तगुणता मे कोई अन्तर नही आयेगा अनन्तगुण ही कहलायेगा।

सुगमता से समझने के लिए उक्त कथन का दर्शक प्रारूप इस प्रकार है—

१ औदारिक-औदारिक	वधन योग्य	स्तोक
,, तैजस	,,	अनन्तगुण
,, कार्मण	,,	,,
,, तैजस कार्मण	,,	,,
२ वैक्रिय-वैक्रिय	,,	स्तोक
,, तैजस	,,	अनन्तगुण
,, कार्मण	,,	,,
,, तैजसकार्मण	,,	,,
३ आहारक-आहारक	,,	स्तोक
,, तैजस	,,	अनन्तगुण
,, कार्मण	,,	,,
,, तैजसकार्मण	,,	,,
४ तैजस-तैजस	,,	,,
तैजस-कार्मण	,,	,,
कार्मण-कार्मण	,,	,,

इस प्रकार से नामप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा का स्वरूप जानना चाहिये। अब प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा का विचार करते है।

प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा—प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा के विचार के आठ अनुयोगद्वार हैं। जिनके नाम इस प्रकार है–१ अविभाग प्ररूपणा, २ वर्गणा प्ररूपणा, ३ स्पर्धक प्ररूपणा, ४ अन्तर प्ररूपणा, ५ स्थान प्ररूपणा, ६ कडक प्ररूपणा, ७ षट्स्थान प्ररूपणा और ८ वर्गणागत स्नेहाविभाग सकल समुदाय प्ररूपणा।

इन द्वारो का वर्णन करने के पूर्व सर्वप्रथम प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक शब्द का अर्थ कहते है—

होई पओगो जोगो तट्ठाणविवड्ढणाए जो उ रसो।
परिवड्ढेइ जीवे पओगफड्डं तय बेंति ॥३६॥

शब्दार्थ—होई—होता है, पओगो—प्रयोग, जोगो—योग, तट्ठाणविवड्ढणाए—उस स्थान (योगस्थान) की वृद्धि से, जो—जो, उ—और, रसो—

रस, परिवड्ढेइ— वृद्धिगत, जीवे—जीव में, पओगफड्ड—प्रयोगप्रत्यय स्पर्धक, तय— उसको, बेंति— कहते है ।

गाथार्थ—प्रयोग यानि योग, उस स्थान की वृद्धि द्वारा जो रस स्पर्धक रूप से वृद्धिगत होता है, उसे प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक कहते हैं।

विशेषार्थ—प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक की प्ररूपणा प्रारम्भ करने के पूर्व गाथा में प्रयोग प्रत्ययस्पर्धक का स्वरूप स्पष्ट किया है कि होई पओगो जोगो यानि यहाँ प्रयोग शब्द से योगस्थान ग्रहण करना चाहिये। उसकी वृद्धि द्वारा केवल योग के निमित्त से बंधे हुए कर्म-परमाणुओं में जो रस स्नेहस्पर्धक के रूप में वृद्धिगत होता है, स्पर्धक रूप परिणाम को प्राप्त होता है, वह प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक कहलाता है और उसकी प्ररूपणा करने को प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा कहते है। ग्रंथकार आचार्य ने अपनी स्वोपज्ञटीका में इसी आशय को विशदता के साथ स्पष्ट किया है—प्रकृष्टो वा योगो व्यापार. तद्धेतु गृहीत पुद्गल स्नेहस्य प्ररूपणा प्रयोगस्पर्धकप्ररूपणेति—प्रकृष्ट योग व्यापार के निमित्त से ग्रहण किये गये पुद्गलों के स्नेह की प्ररूपणा को प्रयोग-प्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा कहते है।[1]

ग्रंथकार आचार्य ने गाथा में स्नेह का बोध कराने के लिये रस शब्द का प्रयोग किया है। अतएव उससे यह अनुमान किया जा सकता है कि स्नेह और कर्मगत वह शक्तिविशेष जो ज्ञानादि को अल्पाधिक प्रमाण में आच्छादित करती है अथवा सुख-दुःखादि का

---

1 कर्म प्रकृति टीका में उपाध्याय यशोविजय जी के प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक की व्याख्या इस प्रकार की है—तत्र प्रयोगो योग प्रकृष्टो योग इति व्युत्पत्ते तत्स्थानवृद्ध्या यो रस कर्मपरमाणुषु केवलयोगप्रत्ययतो बध्यमानेषु परिवर्धते स्पर्धकरूपतया प्रतप्रयोगप्रत्ययम् स्पर्धकम् ।

वेदन कराती है और जिसकी रस यह सज्ञा है, दोनो एक होना चाहिये ।

परन्तु पुद्गलगत स्नेह और अनुभाग रूप रस दोनो एक नही हैं, भिन्न-भिन्न है । उन दोनो के पार्थक्य के कारण इस प्रकार है—

कार्यभेद—कर्मपुद्गलो को जीव के साथ सम्बन्धित करना स्नेह का कार्य है और कर्म के स्वभावानुरूप तीव्रमदादि शुभाशुभ रूप अनुभव कराना अनुभाग रूप रस का कार्य है । इस प्रकार के कार्य भेद से स्नेह और अनुभाग रूप रस भिन्न है ।

कारणभेद—कर्मस्कन्ध गत स्नेह का कारण स्निग्ध स्पर्श रूप पुद्गल गुण है और अनुभाग रूप रस के कारण जीव के काषायिक अध्यवसाय है । इन प्रकार कारणभेद से स्नेह और रस भिन्न-भिन्न है ।

पर्यायभेद—स्नेह स्निग्ध स्पर्श की पर्याय है और रस काषायिक अध्यवसायो से सयुक्त कर्मदलिक की पर्याय है ।

वस्तुभेद—स्नेह कर्माणुओ मे विद्यमान स्निग्ध स्पर्श है और अनुभाग रस तदनुरूप अनुभव की तीव्रता-मदता है ।

उत्पत्तिभेद—स्नेहाविभाग कार्मणवर्गणा के पुद्गलो की कर्म रूप से परिणत होने के पूर्व से भी उत्पन्न हुए होते है और अनुभाग रूप रस की उत्पत्ति कर्म परिणाम से परिणत होने के समय ही कार्मण-वर्गणा के पुद्गलो मे उत्पन्न होती है । अर्थात् जीव के साथ सम्बद्ध होने के समय ही अनुभाग शक्ति--रस की उत्पत्ति होती है ।

प्ररूपणाभेद—स्नेह की प्ररूपणा स्नेहप्रत्यय, नामप्रत्यय और प्रयोगप्रत्यय रूप मे की जाती है और अनुभाग रूप रस की प्ररूपणा शुभ-अशुभ, घाति-अघाति, एकस्थानक, द्विस्थानक आदि के रूप मे ।

साराश यह है कि उपर्युक्त हेतु स्नेह और अनुभाग रूप रस की भिन्नता के निमित्त है । अतएव यहाँ रस शब्द का प्रयोग किये जाने

पर भी उसे स्नेहवाचक समझना चाहिये और अनुभाग के प्रसग मे यदि स्नेह शब्द का प्रयोग आये तो वहाँ वह कर्म रस का वाचक जानना चाहिये किन्तु स्निग्ध स्पर्श-वाचक नही।

इस प्रकार प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक के अर्थ का निर्देश करने के पश्चात् अब उसके अविभाग प्ररूपणा आदि अधिकारो का वर्णन करते है।

अविभागवग्गफड्डगअंतरठाणाइ एत्थ जह पुव्वि।
ठाणाइवग्गणाओ अणतगुणणाए गच्छंति ॥३७॥

शब्दार्थ—**अविभाग**—अविभाग, **वग्ग**—वर्गणा, **फड्डग**—स्पर्धक, **अतर**—अतर, **ठाणाइ**—स्थान आदि का स्वरूप, **एत्थ**—यहा, **जह**—यथा, जैसा, **पुव्वि**—पूर्व मे, **ठाणाइवग्गणाओ**—(प्रत्येक) स्थान की आदि वर्गणा मे, **अणतगुणणाए**—अनन्त गुण, **गच्छति**—होते है।

गाथार्थ—अविभाग, वर्गणा, स्पर्धक, अन्तर, स्थान आदि का स्वरूप जैसा पूर्व मे कहा है, वैसा ही यहाँ जानना चाहिये तथा प्रत्येक स्थान की आदि वर्गणा मे अनन्तगुण स्नेहाणु होते है।

विशेषार्थ—प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा के विषय मे जो अविभाग, वर्गणा, स्पर्धक, अन्तर, स्थान, और आदि शब्द मे ग्रहणीय कडक का स्वरूप जैसा पूर्व मे नामप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा के प्रसग मे वर्णित है, तदनुरूप यहाँ समझना चाहिये तथा—

प्रत्येक स्थान के प्रथम स्पर्धक की पहली वर्गणागत पुद्गल परमाणुओ मे के समस्त स्नेहाविभाग अनन्तगुण होते हैं, तथापि वे अल्प हैं, उसकी अपेक्षा दूसरे स्थान की पहली वर्गणा मे अनन्तगुणे होते हैं, उसमे तीसरे स्थान की पहली वर्गणा मे अनन्तगुणे होते है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व स्थान की पहली वर्गणा से उत्तरोत्तर स्थान की पहली-पहली वर्गणा मे अनन्तगुणे-अनन्तगुणे स्नेहाविभाग अन्तिम स्थान पर्यन्त जानना चाहिये—'ठाणाइवग्गणाओ अणतगुणणाए गच्छति'

इस प्रकार से प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा का वर्णन करने के पश्चात अब उक्त तीनो प्ररूपणाओ के वर्गणागत स्नेहाविभागो का अल्पबहुत्व बतलाते है ।

स्नेहाविभाग अल्पबहुत्व

तिण्हपि फड्डगाणं जहन्नउक्कोसगा कमा ठविउ ।
नेयाणतगुणाओ वग्गणा णेहफड्डाओ ॥३८॥

शब्दार्थ—**तिण्हपि फड्डगाण**—तीनो स्पर्धको की, **जहन्नउक्कोसगा**—जघन्य और उत्कृष्ट वर्गणा, **कमा**—अनुक्रम से, **ठविउ**—स्थापित करके, **नेयाणतगुणाओ**—अनन्त गुण जानना चाहिये, **वग्गणा**—वर्गणा, **णेहफड्डाओ**—स्नेहप्रत्ययस्पर्धक से ।

गाथार्थ—तीनो स्पर्धको की जघन्य और उत्कृष्ट वर्गणा अनुक्रम से स्थापित करके पहली स्नेहप्रत्ययवर्गणा से शेष उत्तर-उत्तर की वर्गणाये अनन्तगुण जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—यहाँ स्नेह, नाम और प्रयोग प्रत्ययिक स्पर्धको की प्ररूपणा की जा रही है और स्पर्धक वर्गणाओ के समूह को कहते हैं तथा वर्गणाये स्नेहगुण से समन्वित परमाणुओ से बनती है। अतएव गाथा मे यह स्पष्ट किया है कि प्रत्येक की जघन्य से उत्कृष्ट वर्गणा मे कितने स्नेहाविभाग होते है। इसको स्पष्ट करने का सूत्र इस प्रकार है—

'तिण्हपि फड्डगाण' अर्थात् स्नेहप्रत्यय, नामप्रत्यय ओर प्रयोग-प्रत्यय इन तीनो की सर्वप्रथम जघन्य और उत्कृष्ट वर्गणा 'कमा ठविउ' अनुक्रम से स्थापित करे और स्थापित करके अपनी-अपनी जघन्य वर्गणा से स्वय की उत्कृष्ट वर्गणा अनन्त गुणी जानना चाहिये। वह इस प्रकार है—

स्नेहप्रत्ययस्पर्धक की जघन्य वर्गणा मे स्नेहाविभाग अल्प हैं, उससे उसकी उत्कृष्ट वर्गणा मे अनन्तगुणे स्नेहाविभाग होते हैं,

उससे नामप्रत्ययस्पर्धक की जघन्य वर्गणा में अनन्त गुणे स्नेहाविभाग हैं, उसमें उसी की उत्कृष्ट वर्गणा में अनन्त गुणे स्नेहाविभाग होते हैं, उसमें प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक की जघन्य वर्गणा में अनन्त गुणे और उसमें उसी की उत्कृष्ट वर्गणा में अनन्त गुणे स्नेहाविभाग होते हैं।

सरलता से समझने के लिए जिसका प्रारूप इस प्रकार है—

स्पर्धक नाम	वर्गणा स्थापना	स्नेहाणुओं का प्रमाण
१ स्नेहप्रत्यय	जघन्य	स्तोक, अल्प, उसमें
	उत्कृष्ट	अनंतगुण उसमें
२ नामप्रत्यय	जघन्य	,, ,,
	उत्कृष्ट	,, ,,
३ प्रयोगप्रत्यय	जघन्य	,, ,,
	उत्कृष्ट	,, ,,

इस प्रकार पुद्गल परमाणुओं के सम्बन्ध की कारणभूत स्नेह प्ररूपणा जानना चाहिये।

जीव और कर्मपरमाणुओं का सम्बन्ध स्नेहप्रत्ययिक है, यह स्पष्ट हो जाने पर जिज्ञासु पूछता है कि जीव के साथ सम्बद्ध हुए उन कर्मपरमाणुओं में क्या विशेषताएँ उत्पन्न होती हैं और उनका स्वरूप क्या है ? इसका समाधान करने के लिये आचार्य बंधनकरण की सामर्थ्य से बंधने वाली मूल और उत्तर प्रकृतियों का विभाग बताने के लिये गाथा सूत्र कहते हैं।

प्रकृति विभाग का कारण

अणुभागविसेसाओ मूलुत्तरपगइभेयकरणं तु।
तुल्लस्सावि दलस्सा पगइओ गोणनामाओ ॥३६॥

शब्दार्थ—अणुभागविसेसाओ—अनुभाग की विशेषता से, मूलुत्तरपगइ-भेयकरण—मूल और उत्तर प्रकृतियो का भेद होता है, तु—और, तुल्लस्सावि दलस्सा—दलिको के तुल्य होने पर भी, पगइओ—प्रकृतिया, गोणनामाओ—गुणनिप्पन्न नाम वाली।

गाथार्थ—कर्म रूप मे दलिको के समान होने पर भी अनुभाग-स्वभाव की विशेषता से मूल और उत्तर प्रकृतियो का भेद होता है। ये प्रत्येक प्रकृतिया गुणनिष्पन्न नाम वाली हैं।

विशेषार्थ—आयुष्मन! यह ठीक है कि कार्मण वर्गणाये समान है और ससारी जीव यावज्जीवन अध्यवसाय-विशेष से समय-समय उन अनन्त कार्मण वर्गणाओ को ग्रहण करता रहता है, लेकिन ग्रहण समय मे ही जीव के परिणामानुसार उन कार्मण-वर्गणा के दलिको मे ज्ञान गुण का आवरण करना, दर्शन गुण का आवरण करना इत्यादि रूप भिन्न-भिन्न स्वभावो को उत्पन्न करता है और स्वभावभेद से वस्तु का भेद—भिन्नता, पार्थक्य सुप्रतीत ही है, यथा घट और पट। इसी प्रकार कर्मदलिक कर्मस्वरूप से समान होने पर भी ज्ञाना-वरणत्वादि भिन्न-भिन्न स्वभाव के भेद से मूल और उत्तर प्रकृतियो के भी भिन्न-भिन्न प्रकार हो जाते है।

समय-समय ग्रहण की गई कार्मण वर्गणाओ मे जीव अध्यवसाया-नुसार भिन्न-भिन्न अनुभाग-स्वभाव को स्वभाव-सामर्थ्य से उत्पन्न करने वाला होने से कर्म के मूल भेद आठ और उत्तर भेद एक सौ अट्ठावन होते है। ये सभी मूल और उत्तर भेद—प्रकृतिया गुणनिप्पन्न-अन्वर्थ-सार्थक नाम वाली हैं। जैसे कि जिसके द्वारा ज्ञान आच्छादित हो वह ज्ञानावरण, जिसके द्वारा सुख-दु ख का अनुभव हो वह वेदनीय, जिसके द्वारा मतिज्ञान आवृत हो वह मतिज्ञानावरण, जिसके द्वारा सुख का अनुभव हो वह सातावेदनीय इत्यादि। इस प्रकार सभी मूल और उत्तर प्रकृतिया सार्थक नाम वाली है। उन सभी प्रकृतियो के नामो आदि का निरूपण बधव्य अधिकार मे किया जा चुका है।

इस प्रकार सामान्य से मूल एव उत्तर प्रकृतियो के विभाग होने का कारण बतलाने के पश्चात् अब प्रकृतिबध आदि का विस्तार से स्वरूप-निर्देश करते है।

प्रकृतिबधादि के लक्षण

ठिइबधु दलस्स ठिई पएसबधो पएसगहणं ज।
ताण रसो अणुभागो तस्समुदाओ पगइबधो ॥४०॥

शब्दार्थ—**ठिइबधु**—स्थिति बध, **दलस्स**—दलिक की, **ठिई**—स्थिति, **पएसबधो**—प्रदेश बध, **पएसगहण**—प्रदेशो का ग्रहण, **ज**—जो, **ताण**—उनका, **रसो**—रस, विपाक शक्ति, **अणुभागो**—अनुभाग बध, **तस्समुदाओ**—उनका समुदाय, **पगइबधो**—प्रकृतिबध।

गाथार्थ—दलिक की स्थिति को स्थितिबध और प्रदेशो का जो ग्रहण उसे प्रदेशबध, एव उनके रस को अनुभागबध तथा इनके समुदाय को प्रकृतिबध कहते है।

विशेषार्थ—गाथा मे स्थिति, प्रदेश, अनुभाग और प्रकृति बध का स्वरूप बतलाया है। लेकिन कर्मवर्गणाये पौद्गलिक है। अत उनके प्रदेश होते है। इसलिये सुगमता से बोध कराने के लिये प्रदेशबध, स्थितिबध, अनुभागबध और प्रकृतिबध के क्रम से विवेचना करते है—

'पएसबधो पएसगहण' अर्थात् जीव जो अपने अध्यवसायविशेष से प्रति समय अनन्तानन्त कार्मण वर्गणाओ को ग्रहण करता है तथा ग्रहण करके पानी और दूध अथवा अग्नि और लोहपिड के समान अपने साथ एकमेक रूप मे सम्बद्ध-सयुक्त कर लेता है उसे प्रदेशबध कहते है।

उनके काल का निश्चय अर्थात् अमुक कर्म रूप मे परिणमित हुई वर्गणाओ का फल अमुक काल पर्यन्त अनुभव किया जायेगा, ऐसा जो निर्णय उसे स्थितिबध कहते है—'ठिइबधु दलस्सठिई। कर्मरूप

परिणाम को प्राप्त हुई वर्गणाओ का फल क्रमपूर्वक अनुभव किया जाता है, अतएव उसकी जो स्थापना—रचना होती है, उसे निषेक-रचना कहते है। विवक्षित समय मे परिणामानुसार जितनी स्थिति का बध हुआ हो उसके प्रमाण मे अवाधाकाल को छोडकर निपेक रचना होती है और उस रचना के अनुसार जीव फल का अनुभव करता है। इस प्रकार के कर्मवर्गणाओ के काल प्रमाण को स्थिति-वध कहते है।

हीनाधिक प्रमाण मे आत्मा के गुणो को आच्छादित कर सके एव अल्पाधिक प्रमाण मे सुख-दु खादि दे सके ऐसे परिणमन का अनुसरण करके कर्मपरमाणुओ मे जो शक्ति उत्पन्न होती है वह रसबध—अनु-भामबध कहलाता है—'ताण रसो अणुभागो।' तथा—

'तस्समुदाओ पगइबधो' अर्थात् उन तीनो का समुदाय प्रकृतिबध है। यानि पूर्वोक्त प्रदेश, स्थिति और रस का समुदाय प्रकृतिबध है। जैसे हाथ-पैर आदि अवयवो के समूह को शरीर कहा जाता है और शरीर एव उन अवयवो का अवयव-अवयवी सम्वन्ध है, वैसे ही स्थिति, रस और प्रदेश के समूह को प्रकृतिबध कहते है। प्रकृतिबध और स्थिति आदि के सगृह का अवयव-अवयवीभाव सम्बन्ध है। प्रकृतिबध अवयवी है और स्थिति आदि उसके अवयव हैं।

प्रकृतिबध का पूर्वोक्त लक्षण कपाय के निमित्त से दसवे गुण-स्थान तक जो कर्मबध होता है, उसकी अपेक्षा जानना चाहिये। क्योकि उसमे कषाय के निमित्त से स्थिति और रस उत्पन्न हुआ होता है, परन्तु ग्यारहवे से लेकर तेरहवे गुणस्थान पर्यन्त योग के निमित्त से बधने वाले कर्म की अपेक्षा यह लक्षण नही समझना चाहिये। क्योकि उसमे कपाय का अभाव होने से स्थिति और रस नही होता है। इसलिये कषाय के योग से वधने वाले कर्म की अपेक्षा यह लक्षण है।

प्रकारान्तर से अव इसका दूसरा स्पप्टीकरण करते हैं—केवल योग के निमित्त से वधने वाले कर्म की भी दो समय की स्थिति है

और आवारक शक्ति बिना का भी कोई रस है। अतएव वहाँ भी उपर्युक्त प्रकृतिवध का लक्षण घटित कर लेना चाहिये।

इस विषय मे अन्य कतिपय आचार्यों का मतव्य इस प्रकार है—कर्मवर्गणाओ मे ज्ञानाच्छादक आदि पृथक्-पृथक जो स्वभाव उत्पन्न होते है, वे ही प्रकृतिवध है। पूर्व में सामान्य रूप मे कार्मण वर्गणा थी। वध समय में उसके अन्दर परिणामानुसार भिन्न-भिन्न स्वभाव हो जाते है और उत्पन्न हुए भिन-भिन स्वभावो को ही प्रकृतिवध कहा जाता है, किन्तु तीनो के समुदाय को नही। इस प्रकार यह प्रकृतिवध का स्वतन्त्र लक्षण हे जो प्रत्येक स्थान मे होने वाले कर्मवध मे घटित हो सकता हे। इसका कारण यह हे कि मात्र योग के निमित्त से वधने वाले कर्म मे भी स्वभाव और प्रदेग तो होते ही है। इस प्रकार उनके अभिप्राय से अध्यवसाय के अनुरूप उत्पन्न हुए भिन्न-भिन्न स्वभावो को प्रकृतिवध, काल के निर्णय को स्थितिवध, आवारक शक्ति को रसवध और कर्म पुद्गलो का ही आत्मा के साथ जो सम्बन्ध उसे प्रदेशवध कहा जाता हे।

इस प्रकार से प्रकृतिवध आदि चारो का स्वरूप जानना चाहिये। प्रकृतियो के लक्षण आदि विस्तार से पूर्व मे कहे जा चुके है अतएव प्रकृतिवध के रूप मे अन्य कुछ कहना शेप नही रहने से अव प्रदेश-वध का निरूपण करते हैं।

प्रदेशवध का लक्षण पूर्व मे वताया जा चुका हे कि 'पएसवधो पएसगहण ज।' अतएव अव मूल और उत्तर प्रकृतियो मे जिस रीति से दलिक-विभाग होता है, उसका कथन करते है।

प्रकृतियो मे दलिक-विभाग विधि

> मूलुत्तरपगईण पुव्व दलभागसभवो वुत्तो।
>
> रसभेएण इत्तो मोहावरणाण निसुणेह ॥४१॥

शब्दार्थ—मूलुत्तरपगईण—मूल और उत्तर प्रकृतियो का, पुव्व—पहले, दलभागसभवो—दलिको का भाग रूप सभव प्रमाण, वुत्तो—कहा है,

रसभेएण—रस के भेद से, इत्तो—अव, मोहावरणाण—मोहनीय आवरणद्विक के, निसुणेह—सुनो ।

गाथार्थ—पहले मूल और उत्तर प्रकृतियो के दलिको का भाग रूप सभव प्रमाण कहा है। अव रस के भेद से मोहनीय और आवरणद्विक के भाग के प्रमाण को सुनो।

विशेषार्थ—यद्यपि पहले बधविधि अधिकार मे 'कमसो वुड्ढठिईण' (गाथा ७८) एव उसकी अनन्तरवर्ती अन्य गाथाओ मे मूल और उत्तर प्रकृतियो सम्बन्धी कर्मवर्गणाओ के भाग का प्रमाण कहा जा चुका है कि स्थितिविशेष से किस कर्म के रूप मे कितनी वर्गणाये परिणमित होती है। लेकिन यहाँ उसी प्रकार से दलिक विभाग का पुन कथन न करके घाति मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और नाम कर्मो मे घाति एव अघाति रूप रस की अपेक्षा दल विभाग का प्रमाण वतलाते हैं। अर्थात् कर्म रूप मे परिणमित हुई वर्गणाओ मे से सर्वघाति और देशघाति के रूप मे कितनी-कितनी वर्गणाये परिणमित होती है, इसको स्पष्ट करते है। यह कथन प्रदेशो के सहकार से किया जा सकता है। अतएव उन्ही का आलवन लेकर विशेषता से करते हैं। वह इस प्रकार—

कर्मो को उन-उनकी स्थिति के प्रमाण मे भाग प्राप्त होता है। अर्थात् किसी भी कर्म रूप मे अमुक प्रमाण मे वर्गणाओ का जो परिणमन होता है, वह उसकी स्थिति के प्रमाण मे होता है। जिसकी स्थिति अधिक होती है, उस रूप मे अधिक वर्गणाये और जिसकी स्थिति अल्प होती है उस रूप मे अल्प वर्गणाये परिणमित होती है उसके भाग मे थोडी वर्गणाये आती है। जैसे कि दूसरे कर्मो से अल्प स्थिति होने से आयु का भाग सवसे अल्प है। क्योकि उसकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम प्रमाण है। बीस कोडा-कोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति होने से आयु कर्म की अपेक्षा नाम और गोत्र कर्म का भाग अधिक है, किन्तु स्वस्थान मे दोनो की स्थिति समान होने से परस्पर तुल्य है। उनकी अपेक्षा ज्ञानावरण,

दर्शनावरण और अन्तराय का भाग बडा है। क्योकि इन तीनो की उत्कृष्ट स्थिति तीस-तीस कोडा-कोडी सागरोपम है और परस्पर मे तीनो की समान स्थिति होने से समान भाग है। उनकी अपेक्षा सत्तर कोडा-कोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति होने से मोहनीय का भाग अधिक है, लेकिन वेदनीय कर्म का भाग मोहनीय की अपेक्षा भी अधिक है। इसका कारण यह है कि ज्ञानावरणादि घातित्रिक के बराबर वेदनीय की भी तीस कोडा-कोडी सागरोपम की स्थिति है फिर भी मोहनीय कर्म के रूप मे जितना दल परिणमित होता है, उसकी अपेक्षा भी अधिक दलिक यदि वेदनीय कर्म रूप मे परिणमित न हो तो वह अपने फल-सुख और दु ख का स्पष्ट अनुभव नही करा सकता है। वह अत्यन्त स्पष्ट सुख और दु ख का अनुभव इस कारण कराता है कि उसके भाग मे अधिक दलिक आते है क्योकि वेदनीय अघाती कर्म है।

इस प्रकार सामान्य से दल-विभाग का सकेत करने के बाद अब अल्पबहुत्व बतलाते है। क्योकि उत्कृष्ट योग होने पर जीव अधिक से अधिक वर्गणाये और जघन्य योग होने पर कम से कम वर्गणाये ग्रहण करता है। इसलिये किस प्रकृति रूप मे किस प्रमाण मे वर्गणाये परिणमित होती है, इसको स्पष्ट करते है।

उत्कृष्ट पद मे प्रदेशो का अल्पबहुत्व

ज्ञानावरण-केवलज्ञानावरण का प्रदेश प्रमाण अल्प है, उससे मनपर्यायज्ञानावरण का अनन्तगुण, उससे अवधिज्ञानावरण का विशेपाधिक, उससे श्रुतज्ञानावरण का विशेपाधिक और उससे मति-ज्ञानावरण का विशेपाधिक है।

दर्शनावरण—प्रचला का प्रदेश प्रमाण सबसे अल्प है, उससे निद्रा का विशेपाधिक, उससे प्रचला-प्रचला का विशेपाधिक, उससे निद्रा-निद्रा का विशेपाधिक, उससे स्त्यानर्द्धि का विशेपाधिक, उससे केवल-दर्शनावरण का विशेपाधिक, उससे अवधिदर्शनावरण का अनन्तगुण उससे अचक्षुदर्शनावरण का विशेपाधिक, उससे चक्षुदर्शनावरण का विशेपाधिक दलिक है।

वेदनीय—असातावेदनीय का प्रदेश प्रमाण सर्वाल्प है, उससे सातावेदनीय का विशेषाधिक है।

मोहनीय—सबसे अल्प अप्रत्याख्यानावरण मान का दल विभाग है, उससे अप्रत्याख्यानावरण क्रोध का विशेषाधिक, उससे अप्रत्याख्यानावरण माया का विशेषाधिक, उससे अप्रत्याख्यानावरण लोभ का विशेषाधिक, उससे प्रत्याख्यानावरण मान का विशेपाधिक, उससे प्रत्याख्यानावरण क्रोध का विशेषाधिक, उससे प्रत्याख्यानावरण माया का विशेषाधिक, उससे प्रत्याख्यानावरण लोभ का विशेषाधिक है, उससे अनन्तानुबधि मान का विशेषाधिक, उससे अनन्तानुबधि क्रोध का विशेषाधिक, उससे अनन्तानुबधि माया का विशेषाधिक, उससे अनन्तानुबधि लोभ का विशेषाधिक, उससे मिथ्यात्व का विशेषाधिक, उससे जुगुप्सा का अनन्तगुण, उससे भय का विशेपाधिक, उससे हास्य और शोक का विशेषाधिक और स्वस्थान में परस्पर तुल्य, उससे रति और अरति का विशेषाधिक और स्वस्थान मे परस्पर तुल्य, उससे स्त्रीवेद एव नपु सकवेद का विशेषाधिक और स्वस्थान में परस्पर तुल्य, उससे सज्वलन क्रोध का विशेषाधिक, उससे सज्वलन मान का विशेपाधिक, उससे पुरुपवेद का विशेषाधिक, उससे सज्वलन माया का विशेषाधिक और उससे सज्वलन लोभ का असख्यातगुण दल विभाग है।

आयुकर्म—आयुचतुप्क का दल विभाग परस्पर तुल्य है।

नामकम—देव और नरक गति का दल विभाग अल्प है, और स्वस्थान मे तुल्य है, उससे मनुष्य गति का विशेषाधिक है, उससे तिर्यंच गति का विशेषाधिक है।

जातिनामकर्म मे द्वीन्द्रियादि जातिचतुष्क का प्रदेश प्रमाण अल्प है और स्वस्थान में परस्पर तुल्य है, उससे एकेन्द्रिय जाति का विशेपाधिक है।

शरीरनामकर्म में आहारक शरीर का प्रदेश प्रमाण अल्प है, उससे वैक्रिय शरीर का विशेपाधिक है, उससे औदारिक शरीर का

विशेपाधिक, उससे तैजस का विशेपाधिक और उससे कार्मण-शरीर नाम का विशेपाधिक है।

सघातनामकर्म का अल्प-वहुत्व शरीरनामकर्म के अनुसार जानना चाहिये।

वधननामकर्म मे आहारक-आहारक वधन का दल विभाग अल्प है, उससे आहारक-तैजस वधन का विशेपाधिक, उससे आहारक-कार्मण का विशेपाधिक और उससे आहारक-तैजस-कार्मण का विशेपाधिक है, उससे वैक्रिय-वैक्रिय वधन का विशेपाधिक है, उससे वैक्रिय-तैजस-वधन का विशेपाधिक है, उससे वैक्रिय-कार्मण का विशेपाधिक है, उससे वैक्रिय-तैजस-कार्मणवधन का विशेपाधिक है, उससे औदारिक-औदारिक वधन का विशेपाधिक है, उससे औदारिक-तैजस बधन का विशेपाधिक है, उससे औदारिक-कार्मण का विशेपाधिक है, उससे औदारिक-तैजस-कार्मण का विशेपाधिक है, उससे तैजस-तैजस वधन का विशेपाधिक है, उससे तैजस-कार्मण का विशेपाधिक है और उससे कार्मण-कार्मण-वधन का विशेपाधिक दल विभाग है।

सस्थाननामकर्म मे प्रथम और अतिम को छोडकर मध्यवर्ती चार सस्थानो का प्रदेश प्रमाण अल्प है और स्वस्थान मे चारो का परस्पर तुल्य है, उससे प्रथम समचतुरस्र सस्थान नाम का विशेपाधिक है और उससे हुण्डक सस्थान नाम का प्रदेश प्रमाण विशेपाधिक है।

सहनननामकर्म मे आदि के पाच सहननो का दल विभाग अल्प है और स्वस्थान मे परस्पर तुल्य है एव उससे छठे सेवार्त सहनन नाम कर्म का दल विभाग विशेपाधिक है।

अगोपागनामकर्म मे आहारक-अगोपाग का प्रदेश प्रमाण अल्प है, उससे वैक्रिय-अगोपाग का विशेपाधिक है और उससे औदारिक-अगोपाग का प्रदेश प्रमाण विशेपाधिक है।

वर्णनाम मे कृष्ण वर्ण का प्रदेशाग्र अल्प है, उससे नील वर्ण का विशेपाधिक है, उससे लोहित वर्ण का विशेपाधिक है, उससे पीत वर्ण

का विशेषाधिक है और उससे श्वेत वर्ण का दल प्रमाण विशेषाधिक है।

गधनाम में सुरभिगध का प्रदेश प्रमाण अल्प है और उससे दुरभिगध का विशेषाधिक है ।

रसनाम में कटुकरस का दल विभाग अल्प है, उससे तिक्त रस का विशेषाधिक, उससे कषाय रस का विशेषाधिक, उससे आम्ल रस का विशेषाधिक और उससे मधुर रस का विशेषाधिक दल विभाग है।

स्पर्शनाम में कर्कश और गुरु स्पर्श का दल विभाग अल्प है और स्वस्थान में परस्पर तुल्य है, उससे मृदु और लघु स्पर्श का विशेषाधिक है तथा स्वस्थान मे दोनो का परस्पर तुल्य है, उससे रूक्ष और शीत स्पर्श का विशेषाधिक है एव स्वस्थान मे परस्पर तुल्य है, उससे स्निग्ध और उष्ण स्पर्श का विशेषाधिक है तथा स्वस्थान मे परस्पर तुल्य है ।

आनुपूर्वीनाम मे देवानुपूर्वी एव नरकानुपूर्वी का प्रदेश प्रमाण अल्प है तथा स्वस्थान मे दोनो का परस्पर तुल्य है, उससे मनुष्यानुपूर्वी का विशेषाधिक और उससे तिर्यगानुपूर्वी नाम का दल प्रमाण विशेषाधिक है।

त्रस नाम का प्रदेश प्रमाण अल्प है, उससे स्थावर नाम का विशेषाधिक है।

पर्याप्त नाम का प्रदेश प्रमाण अल्प है, उससे अपर्याप्त नाम का विशेषाधिक है।

इसी प्रकार स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ, सुभग-दुर्भग, आदेय-अनादेय, सूक्ष्म-वादर और प्रत्येक-साधारण मे से पूर्व का अल्प और उत्तर का विशेषाधिक के क्रम से अल्पवहुत्व जानना चाहिए ।

अयश कीर्ति नाम कर्म का प्रदेशाग्र अल्प है, उससे यश कीर्ति

नाम का सख्यातगुणा है तथा शेप रही आतप, उद्योत, प्रशस्त-अप्रशस्त विहायोगति, सुस्वर-दु स्वर इन प्रकृतियो का उत्कृष्ट पद मे प्रदेश प्रमाण परस्पर समान नुल्य है।

निर्माण, उच्छ्वास, उपघात, पराघात, अगुरुलघु और तीर्थंकर नाम इन छह प्रकृतियो की विरोधी प्रकृतियो का अभाव होने से अल्प वहुत्व नही है। क्योकि यह अल्पबहुत्व स्वजातीय अन्य प्रकृतियो की अपेक्षा अथवा प्रतिपक्षी प्रकृतियो जैसे सुभग-दुर्भग की अपेक्षा से विचार किया है। किन्तु निर्माण नाम कर्म आदि प्रकृतियाँ परस्पर स्वजातीय नही है, तथा न परस्पर विरुद्ध है। क्योकि एक साथ इन का बध हो सकता है।

गोत्र कर्म—नीच गोत्र का प्रदेश प्रमाण अल्प है, उससे उच्च गोत्र का विशेपाधिक है।

अन्तराय कर्म—दानान्तराय का प्रदेश प्रमाण अल्प है, उससे लाभान्तराय का विशेपाधिक है, उससे भोगान्तराय का विशेषाधिक है, उससे उपभोगान्तराय का विशेपाधिक है और उससे वीर्यान्तराय का विशेपाधिक प्रदेश प्रमाण है।

इस प्रकार से उत्कृष्ट पद में उत्तर प्रकृतियो का प्रदेश प्रमाण का अल्पबहुत्व जानना चाहिये। अव जघन्यपदभावी अल्पबहुत्व का कथन करते है।

जघन्य पद मे प्रदेशाग्र—अल्पबहुत्व

ज्ञानावरण, दर्शनावरण—जघन्य पद मे इन दोनो की उत्तर प्रकृतियो के प्रदेशाग्र का अल्पवहुत्व जैसा उत्कृष्ट पद मे कहा गया है, उसी क्रम से समझना चाहिये।

मोहनीय कर्म—अप्रत्याख्यानावरण मान का प्रदेश प्रमाण अल्प है, उसकी अपेक्षा अनुक्रम से अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, माया और लोभ का विशेपाधिक है। उससे प्रत्याख्यानावरण मान का विशेषाधिक है, उससे प्रत्याख्यानावरण क्रोध, माया और लोभ का अनुक्रम से विशेषा-

धिक विशेषाधिक है। उससे अनन्तानुबधि मान का दल प्रमाण विशेषाधिक है, पश्चात् अनुक्रम से अनन्तानुबधि क्रोध, माया और लोभ का विशेषाधिक है। उससे मिथ्यात्व का दल प्रमाण विशेषाधिक है। उसकी अपेक्षा जुगुप्सा का अनन्त गुण है, उससे भय का विशेषाधिक है, उससे हास्य और शोक का विशेषाधिक है और स्वस्थान मे परस्पर तुल्य है। उससे रति और अरति का विशेषाधिक है और स्वस्थान मे परस्पर तुल्य है। उसकी अपेक्षा किसी भी एक वेद का विशेपाधिक है, उससे सज्वलन मान, क्रोध, माया, लोभ का अनुक्रम से विशेषाधिक दल प्रमाण है।

आयुकर्म—तिर्यच और मनुष्य आयु का प्रदेश प्रमाण अल्प है और स्वस्थान मे तुल्य है, उनसे देवायु और नरकायु का असख्यातगुणा है एव स्वस्थान मे तुल्य है।

नामकर्म—तिर्यचगति का प्रदेश प्रमाण अल्प है, उससे मनुष्य गति का विशेषाधिक, उससे देव गति का असख्यातगुणा और उससे नरक गति का असख्यगुणा है।

जातिनामकर्म मे द्वीन्द्रियादि चार जाति का प्रदेशाग्र अल्प है, उसकी अपेक्षा एकेन्द्रिय जाति का विशेषाधिक है।

शरीरनामकर्म मे औदारिक शरीर का अल्प प्रदेश प्रमाण है, उससे तैजस नाम का विशेषाधिक, उससे कार्मण का विशेषाधिक, उससे वैक्रिय शरीर का असख्यातगुण और उससे आहारक शरीर का असख्यातगुणा है।

शरीरनामकर्म के अनुरूप सघातनामकर्म का भी अल्पवहुत्व जानना चाहिये।

अगोपाग नाम कर्म मे औदारिक-अगोपाग का प्रदेश प्रमाण अल्प है, उससे वैक्रिय-अगोपाग का असख्यातगुण और उससे आहारक-अगोपाग का असख्यातगुण है।

आनुपूर्वीनामचतुष्क मे देवानुपूर्वी और नरकानुपूर्वी का प्रदेश प्रमाण

अल्प है, उससे मनुष्यानुपूर्वी का विशेषाधिक है और उससे तिर्यचानुपूर्वी का विशेषाधिक है।

त्रसनामकर्म का प्रदेशाग्र अल्प है उसकी अपेक्षा स्थावरनाम का विशेषाधिक है। इसी प्रकार बादर-सूक्ष्म, पर्याप्त-अपर्याप्त और प्रत्येक-साधारण के प्रदेश प्रमाण के सम्बन्ध में जानना चाहिये।

शेष नामकर्म की प्रकृतियो का अल्पवहुत्व नही है। समान भाग मे ही प्रदेशो का उनमे विभाग होता है।

इसी प्रकार साता-असाता वेदनीय और उच्च गोत्र-नीच गोत्र का भी अल्पबहुत्व नही है।

अन्तरायकर्म मे उत्कृष्ट पद के अनुरूप जघन्य पद मे भी अल्पबहुत्व जानना चाहिये।

इस प्रकार से उत्कृष्ट योग एव जघन्य योग के सद्भाव मे क्रमश यथायोग्य अधिक और अल्प वर्गणाओ का ग्रहण होने से उस कर्म रूप में उतनी-उतनी वर्गणाये परिणमित होती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि उत्कृष्ट योग मे वर्तमान जीव उत्कृष्ट प्रदेश ग्रहण करता है तथा मूल अथवा उत्तर कर्म प्रकृतिया अल्प बाधे तब शेष अबध्यमान प्रकृतियो के भाग के दलिक बध्यमान प्रकृतियो को प्राप्त होते है और उत्कृष्ट प्रदेश सक्रम काल मे विवक्षित बध्यमान प्रकृति में अन्य प्रकृतियो के प्रभूत कर्म पुद्गल सक्रमित होते है। इस प्रकार के कारणो के रहने पर उत्कृष्ट प्रदेशाग्र और विपरीत कारणो के सद्भाव मे जघन्य प्रदेशाग्र होता है। मध्यम योग से ग्रहण की गई वर्गणाओ का उसके अनुसार भाग प्राप्ति समझना चाहिये।

अव पूर्व गाथा मे जो मोहनीय और आवरणद्विक मे रसभेद से दल विभाग कहने का सकेत किया था तदनुसार उनके दल विभाग का कथन करने के लिये आचार्य गाथा सूत्र कहते हैं।

रसभेद से मोहनीय, आवरणद्विक का प्रदेश विभाग

सव्वुक्कोसरसो जो मूलविभागस्सणतिमो भागो ।
सव्वघाईण दिज्जइ सो इयरो देसघाईण ॥४२॥

शब्दार्थ—**सव्वुक्कोसरसो**—सर्वोत्कृष्ट रस, **जो**—जो, **मूलविभागस्सणतिमो**—मूल विभाग का अनन्तवा, **भागो**—भाग, **सव्वघाईण**—सर्वघाति प्रकृतियो को, **दिज्जइ**—दिया जाता है, **सो**—वह, **इयरो**—इतर, **देसघाईण**—देशघाति प्रकृतियो को।

गाथार्थ—सर्वोत्कृष्ट रस वाले मूल विभाग का अनन्तवा भाग सर्वघाति प्रकृतियो को और इतर भाग देशघाति प्रकृतियो को दिया जाता है ।

विशेषार्थ—घाति प्रकृतिया दो प्रकार की है—सर्वघातिनी और देशघातिनी और यह पहले बताया जा चुका है कि प्रत्येक प्रकृति को उस-उसकी स्थिति के अनुसार दलिक भाग प्राप्त होता है। अर्थात् कम स्थिति वाले को कम और अधिक स्थिति वाले को अधिक भाग मिलता है। अतएव स्थिति के अनुसार ज्ञानावरण, दर्शनावरण और मोहनीय कर्म के भाग मे जो दलिक आते है, उनका सर्वोत्कृष्ट रस वाला अनन्तवा भाग तत्काल बधने वाली सर्वघाति प्रकृतियो मे विभाजित हो जाता है। यानि विवक्षित समय मे बधने वाली सर्वघाति प्रकृति के रूप मे यथायोग्य रीति से परिणत होता है तथा इतर—अनुत्कृष्ट रस वाला शेष रहा दल विभाग वह देशघातिनी कर्म प्रकृतियो मे यथायोग्य रीति से विभाजित हो जाता है। अर्थात् बधने वाली प्रकृति रूप मे पूर्व मे कहे गये अल्पबहुत्व के प्रमाण मे परिणमित होता है—उस रूप होता है ।

विशेषता के साथ जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

स्थिति के अनुसार ज्ञानावरण को जो मूल भाग प्राप्त होता है उसका सर्वोत्कृष्ट रस वाला अनन्तवा भाग सर्वघाती केवलज्ञानावरण रूप मे परिणमित होता है और शेष दलिक के चार भाग होकर यथायोग्य रीति से मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण और मनपर्यायज्ञानावरण मे विभाजित हो जाता है।

दर्शनावरण कर्म को जो मूल भाग प्राप्त होता है, उसके उत्कृष्ट रस वाले अनन्तवे भाग के छह भाग होकर दर्शनावरण कर्म की सर्वघातिनी छह प्रकृतियो—पाच निद्राओ और केवलदर्शनावरण मे विभाजित हो जाता है और शेष रहे दल के तीन भाग होकर देशघातिनी चक्षु, अचक्षु और अवधि दर्शनावरण इन तीन प्रकृतियो मे बट जाता है।

इसी प्रकार से मोहनीय कर्म की सर्वघातिनी एव देशघातिनी प्रकृतियो के लिये दल विभाग का क्रम जानना चाहिये। जिसका विशदता के साथ वर्णन इस प्रकार है—

उक्कोसरसस्सद्ध मिच्छे अद्ध तु इयरघाईण।

सजलणनोकसाया सेसं अद्धद्धयं लेंति ॥४३॥

शब्दार्थ—**उक्कोसरसस्सद्ध**—उत्कृष्ट रस वाले दलिक का अर्द्ध भाग, **मिच्छे**—मिथ्यात्व को, **अद्ध**—अर्ध भाग, **तु**—और, **इयरघाईण**—इतर घाति प्रकृतियो को, **सजलणनोकसाया**—सज्वलन और नोकषायो को, **सेस**—शेष, **अद्धद्धय**—अर्ध भाग, **लेंति**—प्राप्त होता है।

गाथार्थ—उत्कृष्ट रस वाले दलिक का अर्ध भाग मिथ्यात्व को और अर्ध इतर घाति प्रकृतियो को प्राप्त होता है तथा शेष रहे अर्ध भाग का अर्ध-अर्ध भाग सज्वलन तथा नोकषायो को प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—रस की अपेक्षा मोहनीय कर्म की प्रकृतियो में दल विभाग के क्रम को गाथा मे स्पष्ट किया गया है।

मोहनीय कर्म के दो प्रकार हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। इनमे से दर्शनमोहनीय की बध की अपेक्षा एक मिथ्यात्व प्रकृति है जो सर्वघातिनी है तथा चारित्रमोहनीय के कषाय वेदनीय नोकषाय वेदनीय ये दो भेद है। अनन्तानुबधि क्रोध से सज्वलन लोभ पर्यन्त कषाय वेदनीय के सोलह भेद तथा हास्यादि नपु सकवेद

पर्यन्त नोकषाय वेदनीय के नौ भेद है। इस प्रकार चारित्रमोहनीय की कुल मिलाकर पच्चीस प्रकृतिया है। जिनमे से सज्वलन कषाय चतुष्क और नवनोकषाय देशघातिनी प्रकृतिया है। शेष अनन्तानुबधि क्रोध से प्रत्याख्यानावरण लोभ पर्यन्त वारह कषाये सर्वघातिनी हैं।

अतएव मोहनीय कर्म के मूल भाग मे के सर्वघाति योग्य सर्वोत्कृष्ट रस वाले दलिक दो भागो मे विभाजित हो जाते है। उसमे से एक भाग मिथ्यात्वमोहनीय को और एक भाग सर्वघाति आदि की बारह कषायो को प्राप्त होता है।

शेष मूल भाग के पुन दो भाग होते है। उसमे से एक भाग कषाय-मोहनीय की देशघाती सज्वलन कषाय चतुष्क को और एक भाग नोकषाय मोहनीय को मिलता है। जो भाग कषायमोहनीय को प्राप्त होता है, उसके चार भाग होकर एक-एक भाग सज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ मे बट जाता है तथा नोकषायमोहनीय को जो भाग प्राप्त होता है उसके पाच भाग होकर तत्काल बधने वाली हास्य-रति अथवा अरति-शोक युगल मे से एक युगल, तीन वेद में से एक वेद और भय एव जुगुप्सा इन पाच को मिलता है। इसका कारण यह है कि बधने वाली प्रकृतियो को ही भाग मिलने से नोक-षायमोहनीय को प्राप्त होने वाले दलिक के पाच भाग होते है।

इसी प्रसग मे अन्य अघाति और अन्तराय प्रकृतियो के भी दल विभाग का सकेत करते है—

स्थिति के अनुसार नामकर्म को जो भाग प्राप्त होता है, वह सब भाग गति, जाति, शरीर, बधन, सघातन, सहनन, सस्थान, अगोपाग, वर्ण, रस, गध, स्पर्श, आनुपूर्वी, विहायोगति, अगुरुलघु, पराघात, उपघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, निर्माण, तीर्थंकर, त्रस-स्थावर, वादर-सूक्ष्म, पर्याप्त-अपर्याप्त, प्रत्येक, साधारण, स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ, सुस्वर-दुस्वर, सुभग-दुर्भग, आदेय-अनादेय, यश -कीर्ति और अयश कीर्ति, इतनी प्रकृतियो मे से विवक्षित समय मे जितनी

प्रकृतिया बधती है, उन-उनको भाग प्राप्त होता है। किन्तु वर्ण-चतुष्क को जो भाग प्राप्त होता है वह वर्णादि के अपने-अपने पाच-पाच, दो और आठ अवान्तर भेदो मे विभाजित हो जाता है। क्योकि प्रतिसमय वर्णादि प्रत्येक की अवान्तर प्रकृतिया बधती रहती हैं। सघात और शरीर नाम के भाग में जो दलिक जाते है, वे उस समय बधने वाले तीन शरीर और तीन सघातन अथवा चार शरीर और चार सघातन नाम कर्म मे विभाजित हो जाते है।[1] बधननामकर्म के भाग मे जो दलिक आते है, वे सात अथवा ग्यारह भाग में विभाजित हो जाते है। जब तीन शरीरो का बध होता है, तब सात बधन मे और जब चार शरीर का बधन होता है तब ग्यारह बधन नाम कर्म के भेदो मे वे प्राप्त दलिक विभाजित होते है।

स्थिति के अनुसार अतरायकर्म को जो दलिक प्राप्त होते है, उसके पाच भाग होकर दानान्तराय आदि पाँच भागो मे विभाजित होते है तथा वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म को जो उनका मूल भाग प्राप्त होता है वह सब उस समय बधने वाली उन-उनकी एक-एक प्रकृति को प्राप्त होता है। क्योकि वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म की एक-एक ही प्रकृति बधती है।

यह दलिको का विभाजन पूर्व में बताये गये अल्पबहुत्व के अनुरूप और अनुसार ही होता है।

इस प्रकार से बधनकरण के प्रसग में प्रदेशबध का आशिक कथन जानना चाहिये। विस्तृत वर्णन बधविधि नामक पाचवे द्वार में किया जा चुका है अत जिज्ञासुजन उस वर्णन को वहाँ से जान लेवें।

---

१ औदारिक, तैजस, कार्मण अथवा वैक्रिय, तैजस, कार्मण अथवा आहारक, वैक्रिय, तैजस, कार्मण इस प्रकार एक समय मे तीन अथवा चार शरीर और उनके सघातन का बध होता है।

पूर्वोक्त प्रकार से योगनिमित्तक प्रकृतिबध और प्रदेशबध का वर्णन करने के बाद अव स्थितिबध और रसबध का निरूपण करते है। उसमे से पहले रसबध का विचार करते है।

रसबध की प्ररूपणा के पन्द्रह अधिकार हैं—

१ अध्यवसायप्ररूपणा, २ अविभाग प्ररूपणा, ३ वर्गणा प्ररूपणा, ४ स्पर्धक प्ररूपणा, ५ अन्तर प्ररूपणा, ६ स्थान प्ररूपणा ७ कडक प्ररूपणा, ८ षट्स्थान प्ररूपणा, ९ अधस्तन स्थान प्ररूपणा, १० वृद्धि प्ररूपणा, ११ समय प्ररूपणा, १२ यवमध्य प्ररूपणा, १३ ओजोयुग्म प्ररूपणा, १४ पर्यवसान प्ररूपणा और १५ अल्पबहुत्व प्ररूपणा।

क्रमानुसार कथन करने के न्याय से अब अध्यवसाय व अविभाग प्ररूपणा करते है।

अध्यवसाय, अविभाग प्ररूपणा

जीवस्सज्झवसाया सुभासुभासंखलोकपरिमाणा।
सव्वजीयाणतगुणा एक्केक्के होंति भावाणू ॥४४॥

शब्दार्थ—**जीवस्सज्झवसाया**—जीव के अध्यवसाय, **सुभासुभ**—शुभ और अशुभ, **असखलोकपरिमाणा**—असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण, **सव्वजीयाणतगुणा**—सपूर्ण जीव राशि से अनन्तगुणे, **एक्केक्के**—एक एक मे, **होंति**—होते है, **भावाणु**—रसाणु।

गाथार्थ—जीव के शुभ और अशुभ अध्यवसाय असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण है तथा एक-एक परमाणु मे सर्व जीवो से अनन्तगुणे भावाणु-रसाणु होते हैं।

विशेषार्थ—रसवध के कारणभूत जीव के अध्यवसाय कितने होते है और प्रत्येक कर्म परमाणु मे कम से कम भी कितनी रस शक्ति सम्भव है ? ग्रथकार आचार्य ने इन दोनो का स्पष्टीकरण यहा किया है।

सर्वप्रथम अध्यवसायो की सख्या का निर्देश किया है कि जीव के अध्यवसाय असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण है और इनमे शुभ-अशुभता रूप दोनो प्रकार सम्भव है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

कषायोदय से उत्पन्न हुए आत्म-परिणाम को अध्यवसाय कहते है। जैसे-जैसे काषायिकबल मे वृद्धि होती जाती है, वैसे-वैसे परिणाम क्लिष्ट-क्लिष्ट, अशुभ-अशुभ होते जाते है और जैसे-जैसे कषाय का वल घटता जाता है—कम होता जाता है वैसे-वैसे परिणाम शुभ होते जाते है। ये शुभ-अशुभ परिणाम रसबध मे हेतुभूत है। अशुभ अध्यवसायो से कर्मपुद्गलो मे नीम, घोषातिकी आदि की उपमा वाला कटुक अशुभ फल दे वैसा रस उत्पन्न होता है और शुभ अध्यवसायो से क्षीर, खाडआदि की उपमा वाला मिष्ट शुभ फल दे वैसा रस उत्पन्न होता है।

जघन्य कपायोदय से लेकर उत्कृष्ट कषायोदय पर्यन्त कषायोदय के असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थान होते है। अतएव उनके निमित्त से होने वाले शुभाशुभ अध्यवसाय भी असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण है। उनमे भी शुभ अध्यवसाय कुछ अधिक है। उन शुभ अध्यवसायो की कुछ अधिकता का कारण यह है कि उपशमश्रेणि मे दसवे गुणस्थान के चरम समय मे जिन अध्यवसायो से पुण्य प्रकृतियो का स्वभूमिकानुरूप उत्कृष्ट और पाप प्रकृतियो का जघन्य रस बधता है, उन अध्यवसायो से लेकर पहले गुणस्थान मे जिन अध्यवसायो से पाप प्रकृतियो का उत्कृष्ट और पुण्य प्रकृतियो का जघन्य रस बधता है, उन उत्कृष्ट अध्यवसाय तक के प्रत्येक अध्यवसायो को क्रमपूर्वक स्थापित करे और दसवे गुणस्थान से क्रमपूर्वक पतन करके जीव पहले गुणस्थान पर्यन्त आते हुए क्रमश स्थापित किये हुए समस्त अध्यवसायो का जैसा स्पर्श करता है उसी प्रकार पहले गुणस्थान से आरोहण कर दसवे गुणस्थान पर्यन्त जाते हुए भी समस्त अध्यवसायो का स्पर्श करता है। अध्यवसाय वही हैं परन्तु जव जीव गिरता है तब कपायो का वल वढता हुआ होने से सक्लिष्ट परिणामी कह-

लाता है और उस समय पुण्य प्रकृतियो के रस मे हानि और पाप प्रकृतियो के रस मे वृद्धि होती जाती है। किन्तु वही जीव पहले गुण-स्थान से चढता जाता है तव कषायो का बल घटते जाने से वह विशुद्ध परिणामी कहलाता है और उस समय पाप प्रकृतियो के रस मे हानि और पुण्य प्रकृतियो के रस मे वृद्धि होती जाती है। इस प्रकार हीयमान और प्रवर्धमान अध्यवसायो की सख्या समान है। जैसे ऊपर की मजिल से उतरते जितनी सीढिया होती हैं, उतनी ही चढते हुए भी होती हैं। इसी प्रकार यहाँ भी सक्लिष्टपरिणामी जीव के जितने अशुभ अध्यवसाय होते हैं, उतने ही विशुद्ध परिणामी जीव के शुभ अध्यवसाय होते है और पूर्व मे जो यह सकेत किया गया था कि शुभ अध्यवसाय कुछ अधिक होते है तो उसका कारण यह है कि क्षपक श्रेणि के अध्यवसाय अधिक है। क्योकि जिन अध्यवसायो मे वर्तमान क्षपक आत्मा क्षपक श्रेणि पर आरोहण करती है, वहाँ से गिरती नही है। इसी कारण अशुभ अध्यवसायो की अपेक्षा शुभ अध्यवसायो की सख्या अधिक वताई है।

प्रश्न—एक ही परिणाम शुभ और अशुभ दोनो प्रकार होना कैसे सम्भव है ?

उत्तर—एक ही परिणाम शुभ और अशुभ दोनो प्रकार हो सकता है। क्योकि शुभाशुभत्व सापेक्ष है। जब जीव गिरता हो तब उस पतनोन्मुखी जीव के वे समस्त परिणाम अशुभ कहलाते हैं और आरोहण करता हो तव वही सव शुभ कहलाते है। जैसे कि पर्वत पर आरोहण और अवरोहण करते हुए मनुष्य के अध्यवसाय मे तारतम्य स्पष्टतया ज्ञात होता है। पर्वत से उतरते मनुष्य और पर्वत पर चढते मनुष्य यदि एक ही सोपान पर खडे हो तो भी चढने वाले के अध्यवसाय प्रवर्धमान और उतरने वाले के हीयमान होते हैं, इसी प्रकार यहाँ भी प्रवर्धमान और हीयमान अध्यवसायो के विषय मे भी जानना चाहिये।

यह अध्यवसाय प्ररूपणा का आशय जाना चाहिये। अव अविभाग प्ररूपणा का विचार करते है।

अविभाग प्ररूपणा—यह पूर्व मे बताया जा चुका है कि योगानुसार जीव प्रतिसमय अनन्तानन्त पुद्गल वर्गणाओ को ग्रहण करता है और उनमे के एक-एक परमाणु मे कापायिक अध्यवसायवश अल्पातिअल्प भी सर्वजीवो से अनन्तगुणे गुण परमाणु, भाव परमाणु—रसाणु उत्पन्न करता है। जीव के द्वारा ग्रहण करने से पहले जब तक जीव ने ग्रहण नही किये, तब तक कर्मप्रायोग्य वर्गणाओ मे के कोई भी परमाणु तथाविध विशिष्ट रस युक्त—आवारक रस युक्त नही होते है, परन्तु प्राय नीरस और एक ही स्वरूप वाले होते है। यानि ज्ञान का आवरण करना आदि भिन्न-भिन्न स्वरूप वाले नही थे जब जीव ग्रहण करता है तब उसी समय काषायिक अध्यवसाय से एक-एक परमाणु मे कम-से-कम सर्वजीवो की अपेक्षा भी अनन्तगुण शक्ति सपन्न रसाविभाग एव ज्ञानावारकत्वादि भिन्न-भिन्न स्वभाव उत्पन्न होते हैं—'सव्व जीयाणतगुणा होंति भावाणु'। जीव और पुद्गल की अचिन्त्य शक्ति होने से यह सब सभव एव युक्तियुक्त है।

यहाँ कर्म वर्गणाओ के परमाणुओ को प्राय नीरस और एक स्वरूप वाले कहने का आशय यह है कि जब तक जीव ने कर्म वर्गणाये ग्रहण नही की तब तक उनमे रस, आवारक शक्ति या ज्ञानावरणादि भिन्न-भिन्न स्वभाव उत्पन्न नही होते है। यानि रस और प्रकृति नहीं होती है। सभी एक स्वभाव वाले होते है। परन्तु पुद्गलो का परस्पर सम्बन्ध होने मे हेतुभूत स्नेह तो होता ही है। इसी स्नेह की ओर सकेत करने के लिये प्राय शब्द दिया है।

इसी बात को एक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते है। जैसे शुष्क घास के परमाणु अत्यन्त नीरस एव एक समान होते है लेकिन जब गाय आदि उसको खाती है तब वे घास के परमाणु दूध रूप और सप्त धातु रूप परिणाम को प्राप्त करते है। उसी प्रकार कर्मयोग्य वर्गणाये प्राय नीरस और एक सरीखी होती है, लेकिन जब जीव ग्रहण करते है तब उनमें रस और स्वभाव उत्पन्न होते है। जीव मे उस प्रकार के कापायिक अध्यवसाय है कि वैसे तीव्र या मद रस एव भिन्न-भिन्न

स्वभाव को उत्पन्न करता है तथा कार्मण वर्गणा मे उस-उस प्रकार का परिणाम होने का स्वभाव है जिससे यह सब बन सकता है।

यही अविभाग-रसाणु प्ररूपणा का आशय है।

इस विषय मे अब जिज्ञासु अपना प्रश्न प्रस्तुत करता है—

एकज्झवसायसमज्जियस्स दलियस्स किं रसो तुल्लो।
नहु होंति णंतभेया साहिज्जते निसामेह ॥४५॥

शब्दार्थ—**एकज्झवसायसमज्जियस्स**—एक अध्यवसाय से ग्रहण किये हुए, **दलियस्स**—दलिक का, **किं**—क्या, **रसो**—रस (अनुभाग शक्ति), **तुल्लो**—तुल्य, **नहु**—नही, **होंति**—होते है, **णतभेया**—अनन्त भेद, **साहिज्जते**—उन साध्यमान भेदो को, **निसामेह**—सुनो।

गाथार्थ—एक अध्यवसाय से ग्रहण किये हुए दलिक का रस क्या तुल्य होता है ? नही, उसके अनन्त भेद है, उन साध्यमान—कहे जाने वाले भेदो को सुनो।

विशेषार्थ—गाथा के पूर्वार्ध मे जिज्ञासु का प्रश्न है और उत्तरार्ध मे विशद् स्पष्टीकरण के साथ उत्तर दिया है।

जिज्ञासु का प्रश्न यह है—विवक्षित समय मे किसी भी एक अध्यवसाय द्वारा ग्रहण की गई अनन्त वर्गणाओ के प्रत्येक परमाणु में क्या रस (अनुभाव शक्ति) समान होती है—"दलियस्स किं रसो तुल्लो" ?

आचार्य उत्तर देते है—'नहु, होति णतभेया' आयुष्मन् ! ऐसी बात नही है। वह रस तुल्य नही होता है, न्यूनाधिक होता है और उसमें अनन्त विभिन्नताये होने से अनन्त-अनन्त भेद होते है। वे अनन्त भेद कैसे होते है ? इसको वर्गणा प्ररूपणा के माध्यम से समझाता हूँ और तुम सावधान होकर सुनो—'निसामेह'।

वर्गणा प्ररूपणा

सव्वप्परसे गेण्हइ जे बहवे तेंहि वग्गणा पढमा।
अविभागुत्तरिएहिं अन्नाओ विसेसहीणेहिं ॥४६॥

शब्दार्थ—**सव्वप्परसे**—सबसे अल्प रस वाले, **गेण्हइ**—ग्रहण करता है, **जे**—जो, **बहुवे**—बहुत, **तेहि**—उनकी, **वग्गणा**—वर्गणा, **पढमा**—पहली, **अविभागुत्तरिएहि**—एक एक रसाविभाग की अधिकता से, **अन्नाओ**—अन्य-अन्य, **विसेसहीणेहि**—विशेष-विशेष हीन—(परमाणुओ) से।

गाथार्थ—सबसे अल्प रस वाले जो बहुत से परमाणुओ को जीव ग्रहण करता है, उनकी पहली वर्गणा होती है और एक-एक रसाविभाग की अधिकता और हीन-हीन परमाणु से अन्य वर्गणाये होती है।

विशेषार्थ—अन्य परमाणुओ की अपेक्षा जिनके अन्दर कम से कम रसाणु उत्पन्न होते है, ऐसे कम से कम रस वाले बहुत परमाणुओ को जीव अपनी शक्ति से ग्रहण करता है, अर्थात् प्रतिसमय ग्रहण की जा रही अनन्त वर्गणाओ मे अल्प रस वाले परमाणु अधिक होते है और प्रवर्धमान रस वाले परमाणुओ की सख्या अल्प-अल्प होती है।

इस प्रकार के रसाविभाग से युक्त परमाणुओ मे से समान रस वाले परमाणुओ की पहली वर्गणा होती है। उससे एक-एक परमाणु अधिक परन्तु सख्या मे पूर्व-पूर्व से न्यून परमाणुओ की अन्य-अन्य वर्गणाये होती है।

उक्त कथन का तात्पर्य इस प्रकार है—प्रति समय आत्मा जिन अनन्तानन्त कार्मण वर्गणाओ को ग्रहण करती है उनके प्रत्येक परमाणु मे रसाणु समान—तुल्य नही होते है, किन्तु अल्पाधिक होते है। जितने परमाणुओ मे कम-से-कम रसाणु होते है, उन समान रसाणु वाले समस्त परमाणुओ के समूह की पहली वर्गणा होती है और उस पहली वर्गणा मे भी परमाणुओ की सख्या बहुत अधिक होती है। किन्तु उसके बाद की उत्तरोत्तर वर्गणाओ मे परमाणुओ की सख्या हीन-हीन होती जाती है। पहली वर्गणा से एक अधिक रसाणु वाले परमाणु के समूह की दूसरी वर्गणा, दो अधिक रसाणु वाले परमाणु के समूह की तीसरी वर्गणा, इस प्रकार एक-एक अधिक रसाणु वाली अभव्य से अनन्तगुण और सिद्धो के अनन्तवे भाग प्रमाण वर्गणाये होती है।

इस प्रकार से वर्गणा प्ररूपणा का आशय जानना चाहिये। इन अनन्त वर्गणाओ के समुदाय का नाम स्पर्धक है। अत अब स्पर्धक और तत्सबधी विशेष वक्तव्य के रूप मे अन्तर प्ररूपणा करते हैं।

स्पर्धक, अन्तर प्ररूपणा

> दव्वेहिं वग्गणाओ सिद्धाणमणतभाग तुल्लाओ।
> एयं पढम फड्डं अओ पर नत्थि रूवहिया ॥४७॥
> सव्वजियाणतगुणे पलिभागे लघिउ पुणो अन्ना।
> एव भवति फड्डा सिद्धाणमणतभागसमा ॥४८॥

शब्दार्थ—**दव्वेहिं वग्गणाओ**—वर्गणाओ के समुदाय, **सिद्धाणमणतभाग-तुल्लाओ**—सिद्धो के अनन्तवें भाग प्रमाण, **एय**—यह, **पढम**—प्रथम, **फड्ड**—स्पर्धक, **अओ पर**—इससे परे (आगे), **नत्थि**—नही है, **रूवहिया**—एक रूप अधिक वाली, **सव्वजियाणतगुणे**—सपूर्ण जीव राशि से अनन्तगुणे, **पलिभागे**—प्रतिभागो (रसाणुओ), **लघिउ**—उलाघने पर, **पुणो**—पुन, **अन्ना**—अन्य वर्गणायें, **एव**—इस प्रकार, **भवति**—होते हैं, **फड्डा**—स्पर्धक, **सिद्धाणमणत-भागसमा**—सिद्धो के अनन्तवें भाग प्रमाण।

गाथार्थ—अभव्यो से अनन्तगुण और सिद्धो के अनन्तवे भाग प्रमाण वर्गणाओ के समुदाय का एक स्पर्धक होता है, यह पहला स्पर्धक है। इसके बाद एक रूप अधिक वाली वर्गणाये नही हैं। किन्तु—

सम्पूर्ण जीव राशि से अनन्त गुण रसाणुओ को उलाघने पर पुन अन्य वर्गणा होती है। इस प्रकार सिद्धो के अनन्तवे भाग प्रमाण स्पर्धक होते है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओ मे स्पर्धक और अन्तर प्ररूपणाओ के आशय को स्पष्ट किया है। उनमे से स्पर्धक प्ररूपणा इस प्रकार है—

प्रथम वर्गणा अर्थात् जिसमे कम-से-कम भी सपूर्ण जीवराशि से

अनन्तगुणे रसाणु होते है, ऐसी जघन्य वर्गणा से लेकर एक-एक अधिक रसाणुओ वाली अभव्यो से अनन्तगुण और सिद्धो के अनन्तवे भाग प्रमाण वर्गणाओ के समुदाय का एक स्पर्धक होता है और यह प्रथम स्पर्धक है ।

इस प्रकार स्पर्धक प्ररूपणा का कथन जानना चाहिये ।

अब अन्तर प्ररूपणा का विवेचन करते है 'अओ पर नत्थि रूव-हिया' अर्थात् पहले स्पर्धक की अन्तिम वर्गणा से एक-एक रसाविभाग से अधिक वाले कोई परमाणु नही होते है । परन्तु सर्वजीवो से अनन्त-गुण अधिक रसाविभाग वाले परमाणु होते है । यानि अन्तिम वर्गणा मे के किसी भी परमाणु के रसाणु की सख्या मे सर्वजीवराशि से अनन्त-गुण रसाणुओ की सख्या को मिलाने पर उनकी जितनी सख्या हो, उतने रसाणु वाले परमाणु होते है और उन समान रसाणुओ वाले परमाणुओ का समुदाय दूसरे स्पर्धक की पहली वर्गणा है । एक अधिक रसाणु वाले परमाणुओ के समूह की दूसरी वर्गणा, दो अधिक रसाणु वाले परमाणुओ के समूह की तीसरी वर्गणा, इस प्रकार एक-एक अधिक रसाणु वाले परमाणु के समूह की अभव्य से अनन्तगुण और सिद्धो के अनन्तवे भाग प्रमाण वर्गणाये होती है । उनका जो समुदाय वह दूसरा स्पर्धक है ।

तदनन्तर पुन दूसरे स्पर्धक की अन्तिम वर्गणा से एक-एक अधिक रसाणु वाले परमाणु नही होते है, परन्तु सर्वजीवो से अनन्तगुण रसाविभाग वाले परमाणु होते है । समान रसाणु वाला उनका जो समुदाय वह तीसरे स्पर्धक की पहली वर्गणा होती है । उससे एक अधिक रसाणु वाले परमाणुओ के समुदाय की दूसरी वर्गणा, दो अधिक रसाणु वाले परमाणुओ के समुदाय की तीसरी वर्गणा, इस प्रकार एक-एक रसाणु अधिक परमाणु के समूह की अभव्यो से अनन्तगुण और सिद्धो के अनन्तवे भाग प्रमाण वर्गणाये होती है । उनका जो समुदाय वह तीसरा स्पर्धक है ।

इस प्रकार अभव्यो से अनन्तगुण और सिद्धो के अनन्तवे भाग प्रमाण स्पर्धक होते हैं, और प्रत्येक स्पर्धक के मध्य मे सर्वजीवो से अनन्तगुण रसाणुओ का अन्तर है ।

इस प्रकार से अन्तर प्ररूपणा का कथन जानना चाहिये। अब क्रमप्राप्त स्थान आदि प्ररूपणात्रय का विचार करते हैं ।

स्थान, कडक, षट्स्थान प्ररूपणा

एय पढम ठाण एवमसखेज्ज लोगठाणाण ।
समवग्गणाणि फड्डाणि तेंसि तुल्लाणि विवराणि ।।४६।।
ठाणाण परिवुड्ढी छट्ठाणकमेण त गय पुव्वि ।
भागो गुणो य कीरइ जहोत्तर एत्थ ठाणाण ।।५०।।

शब्दार्थ—**एय**—यह, **पढम**—प्रथम-पहला, **ठाण**—स्थान, **एव**—इसी प्रकार, **असखेज्ज लोगठाणाण**—असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थान, **समवग्गणाणि**—समान वर्गणा वाले, **फड्डाणि**—स्पर्धक, **तेंसि**—उनके, **तुल्लाणि**—तुल्य, बरावर, **विवराणि**—विवर-अन्तर, **ठाणाण**—स्थानो की, **परिवुड्ढी**—वृद्धि, **छट्ठाणकमेग**—षट्स्थान के क्रम से, **त**—वह, **गय**—कहा जा चुका है, **पुव्वि**—पूर्व मे, **भागो**—भाग, **गुणो**—गुणा, **य**—और, **कीरइ**—की होती है, **जहोत्तर**—अनुक्रम से, **एत्थ**—यहा, **ठाणाण**—स्थानो मे ।

गाथार्थ—यह पहला स्थान है । इसी प्रकार असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थान होते है । वर्गणाओ के वरावर स्पर्धक और अन्तर भी उनके वरावर होते है ।

स्थानो मे पट्स्थान के क्रम से वृद्धि होती है । वह (स्थान का स्वरूप) पूर्व मे कहा जा चुका है । यहा स्थानो मे अनुक्रम से भाग और गुण (वृद्धि) होती हे ।

विशेषार्थ—स्पर्धक प्ररूपणा के प्रसग मे यह वताया गया है कि अभव्यो से अनन्तगुणे और सिद्धो के अनन्तवें भाग प्रमाण स्पर्धक

होते है। जिनके समुदाय को स्थान कहते है, अर्थात् अभव्य से अनन्त-गुण और सिद्धो के अनन्तवे भागप्रमाण स्पर्धको के होने पर एक रस-स्थान होता है और यह पहला रसस्थान है— 'एय पढम ठाण'। इसके अनन्तर इसी प्रकार से अन्यान्य रसस्थान होते है। जिनमे विवक्षित समय मे ग्रहण की गई वर्गणाओ के रस का विचार किया जाता है।

रसस्थान बनने की प्रक्रिया इस प्रकार है—समान रसाणु वाले परमाणुओ के समुदाय को वर्गणा कहते है और उत्तरोत्तर प्रवर्धमान रसाणु वाली वर्गणाओ का समूह स्पर्धक कहलाता है और एक कापा-यिक अध्यवसाय द्वारा ग्रहण किये गये परमाणुओ के रस स्पर्धक के समूह का प्रमाण रसस्थान कहलाता है।

इस प्रकार से स्थान प्ररूपणा का तात्पर्य जानना चाहिये। अव कटक प्ररूपणा का विचार करते है—

'एवमसखेज्जलोगठाणाण' अर्थात् इसी प्रकार असख्य लोका-काश प्रदेश प्रमाण स्थान होते है। इन प्रत्येक स्थान मे अभव्य स अनन्तगुण और सिद्धो के अनन्तवे भाग प्रमाण स्पर्धक होते हैं और एक मे दूसरे स्पर्धकके वीचअन्तर सर्वजीवराशि से अनन्तगुण रसाणुओ का होता है। अर्थात् पहले स्पर्धक की अन्तिम वर्गणा के किसी भी परमाणु मे सर्वजीवराशि से अनन्तगुण रसाणुओ को मिलाने पर जितने रसाणु होते है उतने रसाणु दूसरे स्पर्धक की पहली वर्गणा के किसी भी परमाणु मे होते है। इसी प्रकार दूसरे स्पर्धक की अन्तिम व तीसरे स्पर्धक की पहली वर्गणा मे समझना चाहिये एव सर्व स्पर्धको मे भी इसी प्रकार जानना चाहिये।

सर्व रसस्थानो मे यद्यपि अभव्यो से अनन्तगुण स्पर्धक होते है फिर भी प्रत्येक स्थान मे समान नही होते है, परन्तु पूर्व-पूर्व स्थान से उत्तर-उत्तर स्थान मे पट्स्थान के क्रम से वृद्धि होती है, इस वृद्धि का क्रम इस प्रकार जानना चाहिये—

पहले रसस्थान से दूसरे रसस्थान में अनन्तवे भाग अधिक स्पर्धक होते है। यानि पहले रसस्थान मे जितने स्पर्धक हैं, उनका अनन्तवा भाग दूसरे रसस्थान में अधिक होता है। उससे तीसरे स्थान मे उसका अनन्तवा भाग अधिक होता है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व स्थान से उत्तर-उत्तर स्थानमे अनन्त भाग अधिकस्पर्धकअगुल के असख्यातवे भाग मे रहे आकाश प्रदेश प्रमाण रसस्थानो मे होते है और उनके समुदाय की कडक यह सज्ञा है।

इस प्रकार से कडक प्ररूपणा का स्वरूप जानना चाहिये।

पहले कडक के अन्तिम स्थान से बाद का जो रसस्थान प्राप्त होता है वह पूर्व के अनन्तर रसस्थान से असख्यात भाग अधिक स्पर्धक वाला है। यानि उसमे पूर्व के स्थान में जितने स्पर्धक होते है उससे असख्यात भाग अधिक स्पर्धक होते हैं। उसके बाद एक कडक जितने स्थान पूर्व की अपेक्षा अनन्तवे भाग अधिक-अधिक स्पर्धक वाले होते है। उसके बाद का जो रसस्थान आता है वह पूर्व से असख्यातवे भाग अधिक स्पर्धक वाला होता है। फिर उसके बाद के एक कडक जितने स्थान पूर्व-पूर्व से अनन्त भाग अधिक स्पर्धक वाले होते है। उसके बाद जो रसस्थान आता है उसमे पूर्व की अपेक्षा असख्यातभाग अधिक स्पर्धक होते हैं।

इस प्रकार अनन्तभाग अधिक कडक से अन्तरित असख्यातभागाधिक स्पर्धक वाला कडक पूर्ण हो जाता है।

इस तरह पूर्वोक्त पट्स्थान के क्रम से स्थानो मे स्पर्धक की वृद्धि जानना चाहिये। नामप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा के प्रसग मे जो पट्स्थान का स्वरूप कहा गया है और षट्स्थान के क्रम से स्थानो मे स्पर्धक की वृद्धि कही है, उसी प्रकार से यहा भी पट्स्थान के क्रम से स्थानो मे स्पर्धको की वृद्धि जानना चाहिये।

वृद्धि के पट्स्थान कौन से है और उनमे वृद्धि का प्रमाण किस प्रकार का है ? अब इसको स्पष्ट करते है—

इन पट्स्थानो मे कितने ही स्थान भागवृद्धि वाले और कितने

ही स्थान गुणवृद्धि वाले कहलाते है। पट्स्थानो मे तीन भागवृद्ध स्थान है और तीन गुणवृद्ध स्थान है। जिनके नाम इस प्रकार है—

१ अनन्तभागवृद्ध,	२ असख्यातभागवृद्ध,
३ सख्यातभागवृद्ध,	४ सख्यातगुणवृद्ध,
५ असख्यातगुणवृद्ध,	६ अनन्तगुणवृद्ध।

इन पट्स्थानो की व्याख्या इस प्रकार है।

१. अनन्तभागवृद्ध—पहले रसस्थान मे जितने स्पर्धक है, उनको सर्व जीव जो अनन्त है, उस अनन्त से भाग देने पर जितने आये उतने स्पर्धको से अधिक दूसरा रसस्थान होता है। फिर उसे सर्व-जीव जो अनन्त हैं, उससे भाग देने पर जितने स्पर्धक आये, उतने स्पर्धक से अधिक तीसरा रसस्थान है। इस प्रकार जो-जो स्थान अनन्तभाग अधिक आये, वे-वे स्थान पूर्व-पूर्व के स्थान के स्पर्धक की सख्या को सर्व जीव जो अनन्त है, उस अनन्त से भाग देने पर जितने आये, उस-उस अनन्तवे भाग से अधिक होते है, ऐसा समझना चाहिये।

२. असख्यातभागवृद्ध—पूर्व-पूर्व के अनुभागबध स्थान के स्पर्धको की सख्या को असख्य लोकाकाश के जितने आकाश प्रदेश हो, उससे भाग देने पर जो प्रमाण आये, वह असख्यातवा भाग यहा ले। उस असख्यातवे भाग अधिक स्पर्धक वाले जो स्थान हो वे असख्यात-भागवृद्ध स्थान कहलाते हैं। अर्थात् जो स्थान असख्यभागवृद्ध स्पर्धक वाला हो, उसमे उससे पूर्व के स्थान मे जितने स्पर्धक हो उन्हे असख्य लोकाकाश प्रदेश राशि द्वारा भाग देने पर जो प्रमाण आये उतने स्पर्धक अधिक होते है। इस प्रकार जहा असख्यभागवृद्ध आये वहाँ-वहाँ उससे पूर्व-पूर्व के स्थान के स्पर्धको को असख्य लोकाकाश प्रदेशो द्वारा भाग देने पर जो प्रमाण आये, उससे अधिक है, ऐसा समझना चाहिये।

३. **संख्येयभागवृद्ध**—पूर्व-पूर्व के अनुभागबध के स्थानो के स्पर्धको को उत्कृष्ट सख्यात द्वारा भाग देने पर जो आये वह सख्यातवा भाग यहाँ ग्रहण करना चाहिये। उस सख्यातवे भाग अधिक स्पर्धक वाले जो रसस्थान हो वे सख्यातभागवृद्ध रसस्थान कहलाते हैं। अर्थात् जो स्थान सख्यातभागवृद्ध स्पर्धक वाला होता है, उसमे उससे पूर्व के स्थान मे जितने स्पर्धक होते है, उसे उत्कृष्ट सख्यात मे भाग देने पर जितने आये उतने स्पर्धक अधिक होते है। इस प्रकार जहा-जहा सख्यातभागवृद्ध हो, वहा-वहा उससे पूर्व के स्थान के स्पर्धको को उत्कृष्ट सख्यात द्वारा भाग देने पर जितने आये उतने से अधिक है, ऐसा समझना चाहिये।

४. **सख्यातगुणवृद्ध**—सख्यातगुणवृद्ध यानि पूर्व के रसबध के स्थान के स्पर्धको को उत्कृष्ट सख्यात से गुणा करने पर जो राशि प्राप्त हो, उतने जानना। अर्थात् जो स्थान सख्यातगुणवृद्ध स्पर्धक वाला हो, उसमे उससे पूर्व के स्थान मे जितने स्पर्धक हो उन्हे उत्कृष्ट सख्यात द्वारा गुणा करने पर जितने हो उतने स्पर्धक होते है। इस प्रकार जहा-जहा सख्यातगुणवृद्ध आये वहा-वहा इसी प्रकार के सख्यातगुण-वृद्ध समझना चाहिये।

५. **असख्यातगुणवृद्ध**—यानि पूर्व के स्थान के स्पर्धको को असख्य लोकाकाशप्रदेशप्रमाण राशि से गुणा करने पर जितने हो उतने जानना चाहिये। यानि जो स्थान असख्यातगुणवृद्ध होता है, उसमे उससे पूर्व के स्थान के स्पर्धको को असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण राशि से गुणा करने पर जितने आये, उतने स्पर्धक होते है। इस प्रकार जहा कही भी असख्यातगुणवृद्ध हो, वहा-वहा पूर्व-पूर्व के स्थान के स्पर्धको को असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण राशि द्वारा गुणा करने पर जो स्पर्धक आये, उतने स्पर्धक होते है, ऐसा जानना चाहिये।

६ **अनन्तगुणवृद्ध**—अर्थात् पूर्व के स्थान के स्पर्धको को सर्वजीव जो अनन्त हैं, उनमे गुणा करने पर जो राशि आये, वह। यानि जो स्थान

अनन्तगुणवृद्ध होता है, उसमे उससे पूर्व के स्थान के स्पर्धको को सर्व-जीवो से जो अनन्त है, उनसे गुणा करने पर जितना प्रमाण आये, उतने स्पर्धक होते हैं। इस प्रकार जहा-जहा अनन्तगुणवृद्ध हो वहा-वहा पूर्व-पूर्व के स्थान के स्पर्धको को सर्वजीव जो अनन्त है, उनसे गुणा करने पर जो प्रमाण आये उतने स्पर्धक होते है, यह समझना चाहिये।

प्रश्न—अनन्तगुणवृद्ध होने पर तो किसी भी रसस्थान को सर्व-जीव जो अनन्त हैं, उससे भागित किया जा सकता है, परन्तु जहा तक अनन्तगुणवृद्ध स्थान न हुआ हो, तब तक प्रारम्भ से लेकर अस-ख्यातगुणवृद्ध तक के किन्ही भी स्थानो मे के स्पर्धको को सर्वजीव जो अनन्त है, उनसे किस प्रकार भागित किया जा सकता है, और जब भागित नही किया जा सके तो अनन्तभागवृद्धि किस प्रकार घटित हो सकती है ?

उत्तर—जब तक अनन्तगुणवृद्ध स्थान न हुआ हो, वहा तक पूर्व के किन्ही भी स्थानो के स्पर्धको की सख्या को सर्वजीव जो अनन्त है उनसे भागित नही किया जा सकता है, यह ठीक है, परन्तु वहा तक भाग करने वाला अनन्त इतना छोटा ले कि उससे भाग देने पर ज्ञानी-दृष्ट स्पर्धको की अमुक सख्या प्राप्त हो और अनन्तभाग की वृद्धि हो। अनन्तगुणवृद्ध स्थान होने के बाद सर्वजीव जो अनन्त है, उनसे भाग देना चाहिये और जो सख्या आये वह अनन्तवा भाग बढाना चाहिये।

इस प्रकार अनुक्रम से भागाकार और गुणाकार रूप वृद्धि के षट्स्थान जानना चाहिये। ये षट्स्थान कितने होते है ? अब इस प्रश्न का समाधान करते है—

छट्ठाणगअवसाणे अन्न छट्ठाणय पुणो अन्न।
एवमसखालोगा छट्ठाणाणं मुणेयव्वा ॥५१॥

शब्दार्थ—छट्ठाणगअवसाणे—एक-पहला षट्स्थान पूर्ण होने के बाद,

अन्न—अन्य-दूसरा, **छट्ठाणय**—षट्स्थान, **पुणो**—पुन , **अन्न**—अन्य तीसरा, **एवमसखालोगा**—इस प्रकार असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण, **छट्ठाणाण**—षट्स्थानो को, **मुणेयव्वा**—जानना चाहिये ।

गाथार्थ—एक (पहला) षट्स्थान पूर्ण होने के बाद अन्य दूसरा, पुन उसके बाद अन्य तीसरा, इस प्रकार असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण षट्स्थानो को जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—पहला षट्स्थान पूर्ण होने के पश्चात्—'छट्ठाणग अवसाणे', दूसरा षट्स्थान होता है । तत्पश्चात् इसी क्रम से 'पुणो अन्न' अन्य तीसरा, इस प्रकार असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण असख्यात षट्स्थान होते है और षट्स्थानो मे अनन्त भागादि भाग-वृद्धि और सख्येय गुणादि गुणवृद्धि आदि के कडक किस क्रम से होते है यह पूर्व मे नामप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा मे विस्तार से कहा है, तदनुसार यहा समझ लेना चाहिये । क्योकि उसी प्रकार यहा भी होते है ।

इस प्रकार से षट्स्थान प्ररूपणा का आशय जानना चाहिये । अव क्रमप्राप्त अधस्तनस्थान प्ररूपणा का विचार करते है ।

अधस्तनस्थान प्ररूपणा

सव्वासि वुड्ढीण कडगमेत्ता अणतरा वुड्ढी ।
एगनराउ वुड्ढी वग्गो कडस्स कड च ।।५२।।
कड कडस्स घणो वग्गो दुगुणो दुगतराए उ ।
कंडस्स वग्गवग्गो घण वग्गा तिगुणिया कड ।।५३।।
अडकड वग्गवग्गा वग्गा चत्तारि छग्घणा कड ।
चउ अतर वुड्ढीए हेट्ठट्ठाण परूवणया ।।५४।।

शब्दार्थ—**सव्वासि**—सभी, **वुड्ढीणं**—वृद्धिया, **कडगमेत्ता**—कडक मात्र, **अणतरा**—अनन्तर, **वुड्ढी**—वृद्धि, **एगतरा**—एकातरित, **उ**—और, **वुड्ढी**—वृद्धि, **वग्गो कडस्स**—कडक का वर्ग, **कड**—कडक, **च**—तथा ।

कड—कडक, **कडस्स घणो**—कडक का घन, **वग्गो**—वर्ग, **दुगुणो**—दो, **दुगतराए**—द्व्यतरित मार्गणा मे, **उ**—और, **कडस्स**—कडक का, **वग्गवग्गो**—वर्गवर्ग, **घण**—घन, **वग्गा**—वर्ग, **तिगुणिया**—त्रिगुणित, **कड**—कडक ।

अडकड—आठ कडक, **वग्गवग्गा**—वर्गवर्ग, **वग्गा**—वर्ग, **चत्तारि**—चार, **छग्घणा कड**—छह कडक घन, **कड**—कडक, **चउ अतर वुड्ढीए**—चतुरतरित वृद्धि मे, **हेट्ठट्ठाण परूवणया**—अधस्तनस्थान प्ररूपणा के द्वारा ।

गाथार्थ—सभी वृद्धिया होने के पश्चात् अनन्तर वृद्धि एक कडक मात्र और एकान्तरित वृद्धि कडकवर्ग तथा कडक प्रमाण होती है ।

द्व्यतरित मार्गणा मे कडक, कडकघन, और दो कडकवर्ग प्रमाण स्थान होते है तथा त्र्यतरितमार्गणा मे कडकवर्गवर्ग, तीन कडकघन तीन कडकवर्ग और एक कडक प्रमाण स्थान होते है ।

चतुरतरितमार्गणा मे आठ कडकवर्गवर्ग, चार कडकवर्ग, छह कडकघन और कडक प्रमाण स्थान अधस्तनस्थान प्ररूपणा के द्वारा होते है ।

विशेषार्थ—उपरिवर्ती स्थान से अधोवर्ती स्थान की प्ररूपणा करने को अधस्तनस्थानप्ररूपणा कहते है । अनन्तगुणवृद्धि का स्थान सर्वोपरि स्थान है उससे नीचे के असख्यात गुण वृद्धि आदि सभी वृद्धियो के स्थान अधस्तनस्थान कहलाते है । अनन्तगुणवृद्धि से अधोवर्ती स्थान अनन्तरवर्ती, एकान्तरित, द्व्यतरित, त्र्यतरित और चतुरतरित ये चार प्रकार के हो सकते है । क्योकि अनन्तगुणवृद्धि से नीचे असख्यातगुणवृद्धि, सख्यातगुणवृद्धि, सख्यातभागवृद्धि, असख्यातभागवृद्धि और अनन्तभागवृद्धि वाले पाच स्थान है । अत उनके अन्तर चार ही होने से अधस्तनस्थान प्ररूपणा के अनन्तर आदि चतुरतरित पर्यन्त चार प्रकार ही हो सकते है ।

अब इनकी प्ररूपणा का विस्तार से स्पष्टीकरण करते है ।

यह तो पूर्व मे बताया जा चुका है कि असख्यातभाग आदि प्रत्येक वृद्धि वाले स्थान कडक प्रमाण होते है, अर्थात् असख्येयभाग वृद्ध आदि सभी वृद्धियो के पश्चात् अनन्तभागवृद्ध आदि वृद्धि एक कडक जितनी ही होती है, इससे अधिक नही होती है। क्योकि एक कडक जितनी वृद्धि होने के पश्चात् अनुयायी अन्य स्थान की वृद्धि प्रारम्भ होती है।

इसका तात्पर्य यह है—जिस क्रम से सभी वृद्धिया उत्पन्न होती हैं, प्रारम्भ होती है उसी क्रम से वह वृद्धि निरन्तर कडक प्रमाण ही होती है, अधिक नही होती है। इसलिये उससे पीछे-पीछे की वृद्धि के पूर्व अनन्तर वृद्धि कडक मात्र जानना चाहिये।

यहा अधस्तन स्थान का विचार किया जा रहा है। अतएव प्रथम असख्यातभागवृद्ध स्थान के पहले अनन्तभागवृद्ध स्थान कितने होते है? पहले सख्यातभाग वृद्ध स्थान के पूर्व असख्यातभागवृद्ध स्थान कितने होते हैं? इस प्रकार अनन्तर वृद्धि कितने कडक प्रमाण होती है, उसका यहा विचार करते है। जो इस प्रकार है—

पहले असख्यातभागवृद्धस्थान के नीचे अनन्तभागवृद्ध स्थान एक कडक जितने ही होते है। क्योकि आदि मे एक कडक जितने स्थान होने के पश्चात् असख्यातभागवृद्ध स्थान एक कडक प्रमाण ही होते है। इसी प्रकार पहले असख्यातगुणवृद्ध स्थान से पहले सख्यातगुण स्थान एक कडक प्रमाण होते है। क्योकि पहले असख्यातगुणवृद्ध स्थान से पूर्व सख्यातगुणवृद्ध स्थान एक कडक मात्र होते है, और पहले अनन्तगुणवृद्ध स्थान से पूर्व असख्यातगुण वृद्ध स्थान भी एक कडक मात्र होते हैं।

इस प्रकार बाद के उत्तरवर्ती बडे स्थान से पहले अनन्तर पूर्व के छोटे स्थान कितने होते है? इसका प्रमाण निर्देश किया है कि—'कडक मेत्ता अणतरा वुड्ढी'।

एकान्तरित मार्गणा—अब एकान्तरित मार्गणा का विचार करते

है कि बाद के बडे स्थान से पूर्व का एक स्थान छोडकर इससे पूर्व कितने स्थान होते हैं। जैसे कि पहले सख्यातभागवृद्ध स्थान से पूर्व असख्यातभागवृद्ध स्थानो को छोडकर अनन्तभागवृद्ध स्थान कितने होते है? तो वह इस प्रकार जानना चाहिये—'एगतराउ वुड्ढी वग्गो कडस्स कड च' अर्थात् पहले सख्यातभागवृद्ध स्थान से पूर्व अनन्तभागवृद्ध स्थान एक कडकवर्ग और एक कडक प्रमाण होते है। इसका कारण यह है कि पहले असख्यातभागवृद्धस्थान से पूर्व एक कडक जितने अनन्तभाग वृद्ध स्थान होते है और असख्यातभागवृद्ध स्थान अनन्तभागवृद्ध स्थानो से अन्तरित होते है यानि जितनी वार असख्यातभागवृद्ध स्थान होगे, उतने कडक अनन्तभाग वृद्धि के होते है। यदि असत्कल्पना से एक कडक का प्रमाण चार माना जाये तो प्रारम्भ के अनन्तभागवृद्धि के कडक के चार और असख्यातभागवृद्धि चार वार होगी तो उसके मध्य मे अनन्तभागवृद्धि चार कडक जितनी वार होगी यानि सोलह वार होगी। इसका अर्थ यह हुआ कि कुल मिलाकर अनन्तभागवृद्धि के वीस स्थान सख्यातभागवृद्ध स्थान से पूर्व हुए।

इन वीस स्थानो का अर्थ यह हुआ कि एक कडक का वर्ग[1] और उसके ऊपर एक कडक है।

इस प्रकार से एकान्तरितमार्गणा मे कडक वर्ग और कडक प्रमाण वृद्धि होने को कारण सहित स्पष्ट करने के पश्चात् अब द्व्यतरित मार्गणा मे कितनी वृद्धि होती है और कैसे? इसको स्पष्ट करते हैं।

द्व्यतरित मार्गणा—पहले असख्यातगुणवृद्ध स्थान से नीचे अनन्तभागवृद्ध स्थान कडकघन, दो कडकवर्ग और एक कडक प्रमाण होते है। पहले असख्यातगुणवृद्ध स्थान के नीचे असख्यातभाग वृद्ध स्थान कडकघन, दो कडकवर्ग एक कडक होते है। पहले अनन्तगुण-

१ किन्ही भी दो सख्याओ का परस्पर गुणा करने पर प्राप्त सख्या को वर्ग कहते है। जैसे कि ४ × ४ = १६। यह १६ सख्या ४ का वर्ग हुई।

वृद्ध स्थान से नीचे सख्यातभागवृद्ध स्थान कडकघन, दो कडकवर्ग और कडक प्रमाण होते है।

ये स्थान कडकघन, दो कडकवर्ग और एक कडक इस प्रकार जानना चाहिये कि पहले सख्यातभागवृद्ध के स्थान से नीचे अनन्त-भागवृद्धि के स्थान कडकवर्ग और कडक प्रमाण होते है, यह पूर्व मे कहा जा चुका है। सख्यातभागवृद्ध स्थान अनन्तभागवृद्ध और असख्यातभागवृद्ध से अन्तरित एक कडक प्रमाण होते है जिससे कडकवर्ग को और कडक को एक कडक से गुणा करे यानि वे कडक-घन और कडकवर्ग प्रमाण हो जाये और सख्यातभागवृद्ध के अन्तिम स्थान से पूर्व कडकवर्ग और कडक प्रमाण अनन्तभागवृद्ध स्थान होते है। अतएव उनको मिलाने पर अनन्तभागवृद्ध स्थान कुल मिला-कर कडकघन, दो कडकवर्ग और कडक प्रमाण होते है—'कड कडस्स घणो वग्गो दुगुणो दुगतराए'।

उदाहरणार्थ—पहले सख्यातभागवृद्ध स्थान से नीचे बीस बार अनन्तभागवृद्ध स्थान होने का सकेत पूर्व मे किया जा चुका है। पहले और दूसरे सख्यातभागवृद्ध स्थान के वीच मे भी वीस, दूसरे और तीसरे के बीच मे भी बीस, तीसरे और चौथे के बीच मे भी बीस और उसके बाद बीस। कुल मिलाकर सौ वार अनन्तभागवृद्ध स्थान प्रथम बार के सख्यातगुणवृद्ध स्थान से पहले होते है और चार का घन चौसठ और दो बार चार का वर्ग सोलह-सोलह और एक कडक यानि सौ का एक घन, दो कडकवर्ग और एक कडक होता है। यहाँ असत्कल्पना से कडक का सख्या प्रमाण चार माना है। इसी प्रकार असख्यातगुणवृद्ध से पूर्व असख्यातभागवृद्ध के और अनन्तगुण-वृद्ध से पूर्व के सख्यातभागवृद्ध के स्थानो का विचार कर लेना चाहिये। इस मार्गणा मे तीन स्थान है।

इसको द्व्यतरित मार्गणा इसलिये कहते है कि पहले सख्यातगुण-वृद्ध स्थान से पूर्व सख्यातभागवृद्ध और असख्यातभागवृद्ध स्थानो को

छोडकर अनंतभागवृद्ध स्थान की संख्या का विचार किया जाता है। और वे स्थान कंडकघन, दो कंडकवर्ग और एक कंडक प्रमाण होते है। अब व्यतरित मार्गणा का कथन करते है।

व्यतरित मार्गणा—असंख्यातगुणवृद्ध स्थान से पहले संख्यातगुण, संख्यातभाग और असंख्यातभाग इन तीन संख्या को छोडकर अनंतभागवृद्ध स्थान की संख्या का पहले असंख्यातगुणवृद्ध स्थान से विचार करना व्यतरित मार्गणा कहलाती है।

पहले असंख्यातगुणवृद्ध स्थान से नीचे अनन्तभागवृद्ध के स्थान कंडक-वर्ग-वर्ग, तीन कंडकघन, तीन कंडकवर्ग और एक कंडक प्रमाण होते है। प्रथम बार के अनन्तगुणवृद्ध स्थान के नीचे असंख्यातभागवृद्ध स्थान कंडकवर्ग-वर्ग, तीन कंडकघन, तीन कंडकवर्ग और एक कंडक प्रमाण होते हैं—'कंडस्स वग्गवग्गो घण वग्गा तिगुणिया कंडं'।

जिस प्रकार यह संख्या होती है अब इसको स्पष्ट करते है—पूर्व में यह बताया जा चुका है कि पहले संख्यातगुणवृद्ध स्थान के नीचे अनन्तभागवृद्ध स्थान कंडकघन, दो कंडकवर्ग और एक कंडक प्रमाण होते हैं। संख्यातगुणवृद्ध स्थान एक कंडक जितने होते है। इसलिये ऊपर की संख्या को कंडक से गुणा करने पर कंडकवर्ग-वर्ग आदि प्रमाण होता है। वह इस प्रकार—कंडकघन को कंडक से गुणा करने पर कंडकवर्ग-वर्ग होता है। क्योंकि असत्कल्पना से कंडकघन में चौसठ संख्या और उसे चार से गुणा करने पर दो सौ छप्पन संख्या होती है और कंडकवर्ग-वर्ग भी इतना (१६×१६=२५६) होता है। दो कंडकवर्ग को कंडक से गुणा करने दो कंडकघन होते है और एक कंडक को कंडक से गुणा करने पर कंडकवर्ग होता है और अंतिम संख्यातगुणवृद्ध स्थान के बाद कंडकघन, दो कंडकवर्ग और एक कंडक प्रमाण स्थान होते है, यानि कुल संख्या कंडकवर्ग-वर्ग, तीन कंडकघन, तीन कंडकवर्ग और एक कंडक प्रमाण होती है।

उदाहरणार्थ—पहले सख्यातगुणवृद्ध स्थान से नीचे ऐसे अनन्तभागवृद्ध स्थान पूर्व मे कहे जा चुके है। उतने ही पहले और दूसरे सख्यातगुणवृद्ध स्थान के वीच मे, उतने ही दूसरे और तीसरे के वीच मे, उतने ही तीसरे और चौथे के वीच मे, इस प्रकार कुल मिलाकर चार सौ और उतने ही उसके वाद, इस प्रकार कुल पाँच सौ अनन्तभागवृद्ध स्थान होते है। उनमे से कडक वर्ग-वर्ग मे दो सौ छप्पन होते है। इसका कारण यह है कि चार का वर्ग सोलह और उसका वर्ग दो छप्पन होता है। तीन कडकघन मे एकसौ वानवे, तीन कडकवर्ग मे अडतालीस होते है और अतिम चार अर्थात् एक कडक बढता है, जिससे उपर्युक्त सख्या होती है। इसी प्रकार अनन्तगुणवृद्ध स्थान से पहले असख्यातभागवृद्ध स्थानो के सम्बन्ध मे भी जान लेना चाहिये।

इस प्रकार से त्र्यतरित मार्गणा का विचार जानना चाहिये कि त्र्यतरित अनन्तभागवृद्ध स्थान कितने होते है। अव चतुरतरित मार्गणा का कथन करते है।

चतुरतरित मार्गणा—वीच मे चार वृद्धि को छोडकर विचार करने को चतुरतरित मार्गणा कहते है। वह इस प्रकार—पहले अनन्तगुण वृद्धस्थान से नीचे अनन्तभागवृद्ध स्थान कितने ? तो उनका प्रमाण है—आठ कडक-वर्ग-वर्ग, छह कडकघन, चार कडकवर्ग और एक कडक जितने होते हैं—'अडकड वग्गवग्गा वग्गा चत्तारि छग्घणा कड'। जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पहले असख्यातगुणवृद्ध स्थान से नीचे अनन्तभागवृद्ध स्थान कडकवर्ग-वर्ग, तीन कडकघन, तीन कडकवर्ग और एक कडक प्रमाण होते है। असख्यातगुण-वृद्ध स्थान कडक जितनी बार होते है, उससे उपर्युक्त सख्या को कडक से गुणा करने पर चार कडकवर्ग-वर्ग आदि सख्या होती है। वह इस प्रकार–कडकवर्ग-वर्ग को कडक से गुणा करने पर चार कडकवर्ग-वर्ग होते है। तीन कडकघन को कडक से गुणा करने पर तीन कडकवर्ग-वर्ग होते हैं। तीन कडकवर्ग को कडक से गुणा

करने पर तीन कंडकघन होते हैं, और कंडक को कंडक से गुणा करने पर कंडकवर्ग होता है और उसमें अन्तिम असंख्यातगुणवृद्ध स्थान के बाद के कंडकवर्ग-वर्ग, तीन कंडकघन, तीन कंडकवर्ग और कंडक जितने स्थानों को जोड़ने पर कुल मिलाकर आठ कंडकवर्ग-वर्ग, छह कंडकघन, चार कंडकवर्ग और एक कंडक अनन्तभागवृद्ध स्थान होते हैं।

इस प्रकार चतुरन्तरित मार्गणा का आशय जानना चाहिये। सुगम बोध के लिये उक्त समग्र कथन का सारांश इस प्रकार है—

अनन्तर मार्गणा—कंडक प्रमाण।

एकान्तरित मार्गणा—कंडक वर्ग, कंडक प्रमाण।

द्व्यंतरित मार्गणा—कंडकघन, दो कंडकवर्ग, कंडक प्रमाण।

त्र्यंतरित मार्गणा—कंडकवर्ग-वर्ग, कंडकघनत्रय, कंडकवर्ग-त्रय, कंडक प्रमाण।

चतुरंतरित मार्गणा—आठ कंडक-वर्ग-वर्ग, चार कंडकवर्ग, छह कंडकघन, कंडक प्रमाण।

इस प्रकार से अधस्तन स्थान प्ररूपणा जानना चाहिये।[1] अब वृद्धि आदि प्ररूपणा का कथन करते हैं।

वृद्धि आदि प्ररूपणा त्रय

परिणामपच्चएणं एसा नेहस्स छव्विहा वुड्ढी।
हाणी व कुणंति जिया आवलिभागं असंखेज्जं ॥५५॥
अंतमुहुत्तं चरिमा उ दोवि समयं तु पुण जहन्नेण।
जवमज्झविहाणेणं एत्थ विगप्पा बहुठिइया ॥५६॥

शब्दार्थ—परिणामपच्चएणं—परिणामों के निमित्त से, एसा—यह,

1 अगन्तरसना में अधस्तनस्थान प्ररूपणा का स्पष्टीकरण परिशिष्ट में देखिये।

नेहस्स—स्नेह-रस की, **छव्विहा**—छह प्रकार की, **वुड्ढी**—वृद्धि, **हाणी**—हानि, **व**—अथवा, **कुणंति**—करते है, **जिया**—जीव, **आवलिभाग असखेज्ज**—आवलिका के असख्यातवें भाग।

अतमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त, **चरिमा**—अतिम, **उ**—और, **दोवि**—दोनो ही, **समयं**—एक समय, **तु**—और, **पुण**—पुन, **जहन्नेण**—जघन्य से, **जवमज्झ-विहाणेण**—यवमध्य के क्रम से, **एत्थ**—यहाँ, **विगप्पा**—विकल्प, **बहुठिइया**—(अल्प) अधिक स्थिति वाले।

गाथार्थ—परिणामो के निमित्त से रस की वृद्धि अथवा हानि छह प्रकार की होती है। जीव आदि की पाच वृद्धि और हानि आवलिका के असख्यातवे भाग के समय प्रमाण करते है। किन्तु

अतिम वृद्धि और हानि अतमुंहूर्त प्रमाण करते है और जघन्य से प्रत्येक वृद्धि और हानि का काल एक समय है। यवमध्य विधि से अल्प-अधिक स्थिति वाले स्थानो के विकल्प समझे जा सकते हैं।

विशेषार्थ—गाथा मे वृद्धि, समय और यवमध्य इन तीन प्ररूपणाओ के आशय को स्पष्ट किया है। जिनका विस्तार से विवेचन इस प्रकार है—

वृद्धि प्ररूपणा—जीव के परिणामो के तारतम्य के कारण अनन्तरोक्त (पूर्व मे कहे गये) स्नेह-रस की छह प्रकार की हानि अथवा वृद्धि होती है कि किसी समय अनन्तभागाधिक स्पर्धक वाले रसस्थान मे जाता है, किसी समय असख्यभागाधिक स्पर्धक वाले रसस्थान मे, किसी समय सख्यातभागाधिक स्पर्धक वाले रसस्थान मे, किसी समय सख्यातगुण, असख्यातगुण या अनन्तगुणाधिक स्पर्धक वाले रसस्थान मे जाता है। इसी प्रकार छह हानि वाले स्थानो मे भी जाता है। इस तरह जीव परिणामो के वश हानि, वृद्धि करता रहता है।

समय प्ररूपणा—इस प्ररूपणा के दो प्रकार हैं—१ षट्गुण हानि-वृद्धि निरन्तर होने के समय की प्ररूपणा और २ उन-उन वृद्धि और

हानि वाले रसस्थानो को निरन्तर बाधने की प्ररूपणा। इनमे से पहले वृद्धि और हानियो के समय की प्ररूपणा करते है—

अनन्तगुणवृद्धि और अनन्तगुणहानि इन दो को छोडकर शेष पाँच वृद्धियो अथवा हानियो को जीव अधिक से अधिक आवलिका के असख्यातवे भाग प्रमाण समय पर्यन्त और अतिम अनन्तगुणवृद्धि तथा अनन्तगुणहानि इन दो को अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त निरन्तर करता है। अर्थात् विवक्षित समय मे जिस रसस्थान पर जीव विद्यमान है उससे अनन्तभागाधिक स्पर्धक वाले रसस्थान मे उत्तरोत्तर समय मे बढता रहे तो आवलिका के असख्यातवे भाग के समय पर्यन्त बढता रहता है इसी प्रकार प्रत्येक वृद्धि के लिये समझना चाहिये तथा विवक्षित समय मे जिस रसस्थान पर जीव है उससे अनन्तभागहीन स्पर्धक वाले रसस्थान पर उत्तरोत्तर समय मे यदि जीव जाये तो आवलिका के असख्यातवे भाग से समय पर्यन्त निरतर हानि को प्राप्त करता है। इसी तरह अतिम हानि अनन्तगुणहानि को छोडकर प्रत्येक हानि के लिये समझना चाहिये। किन्तु इतना विशेष है कि अतिम वृद्धि—अनन्तगुणवृद्धि और अतिम हानि—अनन्तगुणहानि इन दोनो का काल अतर्मुहूर्त प्रमाण है। इस प्रकार से वृद्धि और हानि की प्ररूपणा जानना चाहिये।

अब किस रसबध के स्थान को जीव कितने काल पर्यन्त निरतर बाधता है, इसकी अपेक्षा समय प्ररूपणा करते है—

प्रथम रसबध के स्थान से असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण रसबध के स्थानो मे के किसी भी स्थान को अधिक से अधिक चार समय पर्यन्त निरतर बाँधता है, उसके बाद के असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण रसबध के स्थानो मे के किसी भी स्थान को पाच समय पर्यन्त निरतर बाँधता है, उसके बाद के असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थानो मे के किसी भी स्थान को छह समय पर्यन्त और उसके बाद के असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थानो मे के किसी भी स्थान को

निरतर सात समय तथा तत्पश्चात्‌वर्ती असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थानो मे के किसी भी स्थान को निरतर उत्कृष्ट से आठ समय पर्यन्त बाधता है, तत्पश्चात्‌वर्ती असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण रसस्थानो को सात समय पर्यन्त, उसके बाद के असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थानो को छह समय पर्यन्त, तत्पश्चाद्‌वर्ती असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थानो को पाच समय पर्यन्त, तत्पश्चातद्‌वर्ती असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थानो को चार समय पर्यन्त, उसके बाद के असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थानो को तीन समय पर्यन्त और उसके बाद के असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण उत्कृष्ट रसस्थान तक के रसस्थानो मे के किसी भी रस-स्थान को उत्कृष्ट से निरतर दो समय पर्यन्त बाधता है और जघन्य से किसी भी रसस्थान को एक समय पर्यन्त ही बाधता है।

इस प्रकार से रसस्थानो को बाधने की समय प्ररूपणा का आशय जानना चाहिये। अब यवमध्य प्ररूपणा करते हैं।

यवमध्य प्ररूपणा—आठ समय कालमान वाले स्थानो की '**यवमध्य**' यह सज्ञा है। जैसे यव का मध्य भाग मोटा होता है और दोनो बाजुओ मे अनुक्रम से पतला-पतला होता जाता है, उसी प्रकार आठ समय काल मान वाले स्थान काल की अपेक्षा मोटे यानि अधिक कालमान वाले हैं और उसकी दोनो बाजू मे हीन-हीन कालमान वाले स्थान है। जिससे आठ समय कालमान वाले स्थान यवमध्य कहलाते हैं। ये आठ समय काल वाले रसबध के स्थान किसी रसस्थान की अपेक्षा अनन्तगुणवृद्ध हैं और किसी रसस्थान की अपेक्षा अनन्त-गुणहीन हैं। जो इस प्रकार से जानना चाहिये।

पूर्व के सात समय कालमान वाले रसस्थानो मे के अतिम रसस्थान से आठ समय काल वाले रसस्थानो का पहला रसस्थान अनन्तगुणवृद्ध स्पर्धक वाला होता है। जब पहला ही अनन्तगुणवृद्ध है तब शेप सभी उसकी अपेक्षा अनन्तगुणवृद्ध ही

होते है तथा आठ समय कालमान वालो मे के अतिम रसबधस्थान से उसके ऊपर का—उत्तर का सात समय काल मान वालो मे का पहला स्थान अनन्तगुणवृद्ध स्पर्धक वाला है, उसकी अपेक्षा उससे पहले के आठ समय काल मान वाले समस्त रसबध स्थान अनन्त-गुणहीन स्पर्धक वाले है।

इसी प्रकार शेप सात, छह समयादि कालमान वाले स्थान पूर्व के और बाद के उत्तर के रसस्थान की अपेक्षा अनन्तगुणवृद्ध और अनन्तगुणहीन स्पर्धक वाले होते है। मात्र प्रारम्भ के चार समय कालमान वाले स्थान पाच समय काल वालो की अपेक्षा अनन्त-गुणहीन ही होते है, अनन्तगुणवृद्ध नही। इसका कारण यह है कि प्रारम्भ ही वहा से होता है। उससे पहले कोई रसस्थान नही है कि जिसकी अपेक्षा अनन्तगुणवृद्ध हो तथा अतिम दो समय काल-मान वाले समस्त स्थान उससे पूर्व के तीन समय कालमान वाले स्थानो की अपेक्षा अनन्तगुवृणद्ध ही होते हे, अनन्तगुणहीन नही होते है क्योकि वे ही अतिम हे, उसके बाद कोई स्थान नही है कि जिसकी अपेक्षा अनन्तगुणहीन हो।

उक्त समग्र कथन यव की आकृति द्वारा स्पष्ट रूप से समझ मे आ सकता है। क्योकि यवमध्य—आठ समय कालमान वाले स्थानो के पहले के चार समय काल वाले से लेकर यवमध्य पर्यन्त अनुक्रम से अधिक-अधिक स्थिति वाले हैं और बाद के दो समय काल वाले स्थान पर्यन्त अनुक्रम से हीन-हीन स्थिति वाले है।

इस प्रकार से यवमध्य सम्बन्धी समय प्ररूपणा का आशय जानना चाहिये। अब इन चार समयादि काल वाले स्थानो के अल्पबहुत्व का निर्देश करते है—

आठ समय काल वाले स्थान सब से अल्प है। क्योकि बहुकाल पर्यन्त बधयोग्य स्थान तथास्वभाव से अल्प और अल्प-अल्प काल वाले अनुक्रम मे अधिक-अधिक होते हैं। यवमध्य स्थानो से उसके

दोनो बाजुओ मे रहे हुए सात समय काल वाले स्थान असख्यातगुण है और परस्पर मे तुल्य है। उनकी अपेक्षा उसकी दोनो बाजुओ मे रहे हुए छह समय काल वाले स्थान असख्यातगुण है और स्वस्थान मे परस्पर दोनो तुल्य है। उसकी अपेक्षा दोनो बाजुओ के पाँच समय काल वाले स्थान असख्यगुण है और स्वस्थान मे परस्पर तुल्य हैं। उससे उनकी दोनो बाजु के चार समय काल वाले असख्यगुण है और स्व-स्थान मे परस्पर तुल्य है, उससे तीन समय काल वाले असख्यगुण हैं और उनसे दो समय वाले असख्यगुण है।

इस प्रकार यवमध्य प्ररूपणा के स्थानो का अल्पबहुत्व जानना चाहिए।

अब इन समस्त रसबध स्थानो की समुदायापेक्षा विशिष्ट सख्या का निरूपण करते है—

रसबध स्थानो की कुल सख्या

> **सुहुमगणि पविसता चिट्ठ ता तेसिं कायठिइकालो।**
> **कमसो असखगुणिया तत्तो अणुभागठाणाइ ॥५७॥**

शब्दार्थ—**सुहुमगणि**—सूक्ष्म अग्निकाय, **पविसता**—प्रवेश करते हैं, **चिट्ठता**—विद्यमान, **तेसि**—उनकी, **कायठिइकालो**—स्वकायस्थितिकाल, **कमसो**—क्रम से, **असखगुणिया**—असख्यातगुण, **तत्तो**—उनसे, **अणुभागठाणाइ**—अनुभाग (रस) बध के स्थान।

गाथार्थ—जो जीव सूक्ष्म अग्निकाय मे प्रवेश करते हैं, तथा जो उसमे विद्यमान है और उनका जो अपना कायस्थिति काल है, वह अनुक्रम से असख्यातगुण है, उससे भी रसबध के स्थान असख्यात-गुणे हैं।

विशेषार्थ—गाथा मे रसबध के स्थानो की कुल सख्या का प्रमाण बतलाया है कि जो जीव एक समय मे सूक्ष्म अग्निकाय मे प्रवेश करते है अर्थात् उत्पन्न होते है, वे अल्प हैं, फिर भी उनकी सख्या

असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण है। उनकी अपेक्षा जो जीव सूक्ष्म अग्निकाय रूप से रहे हुए है, वे असख्यात गुणे है और उनसे भी उनका काय-स्थिति काल असख्यातगुणा है और उनसे भी रसबध के स्थान असख्यात गुणे अधिक है।

वे रसबध के स्थान असख्यातगुणे है, इस विशिष्ट सख्या को बताने के लिये जब ओजोयुग्म प्ररूपणा करते है।

ओजोयुग्म प्ररूपणा

कलिबारतेयकडजुम्मसन्निया होंति रासिणी कमसो।
एगाइ सेसगा चउहियमि कडजुम्म इह सव्वे ॥५८॥

शब्दार्थ—**कलिबारतेयकडजुम्मसन्निया**—कलि, द्वापर, त्रता कृतयुग्म सज्ञा वाली, **होंति**—होती है, **रासिणो**—राशिया, **कमसो**—अनुक्रम से, **एगाइ सेसगा**—एक आदि शेष वाली, **चउहियमि**—चार से भाग देने पर, **कडजुम्म**—कृतयुग्म, **इह**—यहाँ, **सव्वे**— सभी।

गाथार्थ—किसी सख्या को चार से भाग देने पर एक आदि शेप रहे तो ऐसी सख्या अनुक्रम से कलि, द्वापर, त्रेता और कृत-युग्म सज्ञा वाली कहलाती है। यहाँ सभी राशिया कृतयुग्म सज्ञा वाली है।

विशेषार्थ—गाथा मे रसबधस्थानो की सख्या के प्रसग मे ओजो-युग्म प्ररूपणा का कथन किया है कि विषमसख्या को ओज कहते है यथा—एक, तीन, पाँच इत्यादि और समसख्या को युग्म कहते है, जैसे—दो, चार इत्यादि। जिस राशि को चार से भाग देने पर एक, दो, तीन शेप रहे और अत मे कुछ भी शेप न रहे वैसी राशिया अनुक्रम से कलि, द्वापर, त्रेता और कृतयुग्म सज्ञा वाली कहलाती है।

उक्त सक्षिप्त कथन का तात्पर्यार्थ यह हुआ कि कोई विवक्षित चार राशि स्थापित करे और उन्हे चार से भाग दे और चार से

भाग देने पर जिसमे एक शेप रहे वह राशि पूर्व पुरुपो की परिभाषा के अनुसार कल्योज कहलाती है, जैसे कि तेरह। यहाँ विपम सख्या मे कलि और त्रेता के साथ ओज शब्द और सम सख्या मे द्वापर एव कृत के साथ युग्म शब्द सयुक्त होगा। जिस राशि को चार से भाग देने पर दो शेष रहे वह राशि द्वापर युग्म है, जैसे चौदह। जिसमे तीन शेप रहे वह त्रेतौज यथा—पन्द्रह और चार से भाग देने पर कुछ भी शेप न रहे, वह सख्या कृतयुग्म राशि कहलाती है, यथा—सोलह।

कहा भी है—

चउदस दावर जुम्मा, तेरस कलि ओज तह य कडजुम्मा।
सोलस ते ओजो खलु, पन्नरस्सेव खु विन्नेया ॥

चौदह द्वापर युग्म राशि है, तेरह कल्योज, सोलह कृतयुग्म और पन्द्रह की त्रेतोज राशि जानना चाहिये।

यहाँ उपर्युक्त सज्ञा वताने का कारण यह है, कि रसवध के स्थान, कडक आदि किस सज्ञा वाले होते है। जैसा कि कहा है—

कडजुम्मा अविभागा ठाणाणि य कडगाणि अणुभागे।

अर्थात् अनुभाग मे यानि अनुभाग-रसबध के अधिकार मे अविभाग, स्थान और कडक कृतयुग्म राशि रूप जानना चाहिये।

इस प्रकार से ओजोयुग्म प्ररूपणा का आशय जानना चाहिये। अव पर्यवसान प्ररूपणा करते है।

पर्यवसान प्ररूपणा—प्रथम षट्स्थानक मे अन्तिम वार अनन्तगुणवृद्ध स्थान होने के अनन्तर अनन्तगुणवृद्ध स्थान नही होता है। क्योकि वहाँ पहला षट्स्थान पूर्ण होता है, इसीलिये वह अन्तिम अनन्तगुणवृद्ध स्थान पहले षट्स्थानक का पर्यवसान है। तत्पश्चात् पहले के क्रम से दूसरा षट्स्थान प्रारम्भ होता है। पहले षट्स्थान में जैसे आदि मे अनन्तभागवृद्ध स्थान कडक प्रमाण होते हैं, तत्पश्चात्

शब्दार्थ—होंति—होते हैं, परपरवुड्ढीए—परम्परा वृद्धि मे, थोवगाणत-भागवुड्ढा—अनन्तभागवृद्ध स्थान अल्प, जे—जो, अस्सखसखगुणिया—असख्यात और सख्यात गुण, एक—एक, दो-दो—दो-दो, असंखगुणा—असख्यात गुण ।

गाथार्थ—परम्परा वृद्धि मे जो अनन्तभागवृद्धि के स्थान है, वे अल्प है, उससे उसके बाद (असख्यात भाग वृद्ध रूप) एक स्थान असख्यातगुण है, उससे दो स्थान उत्तरोत्तर सख्यातगुण है, और उनसे उनके बाद के दो स्थान उत्तरोत्तर असख्यातगुण है ।

विशेषार्थ—परम्परा से वृद्धि का विचार करने पर जो अनन्त-भागवृद्ध स्थान है, वे सर्व स्तोक है—'थोवगाणतभाग वुड्ढा' । उसके बाद का असख्यातभागगुणवृद्ध रूप एक स्थान असख्यातगुण है यानि अनन्तभागवृद्ध स्थानो से असख्यातभागवृद्ध स्थान असख्यातगुण है । उनसे उसके बाद के दो—सख्यातभागवृद्ध और सख्यातगुणवृद्ध स्थान पूर्व-पूर्व से सख्यातगुण है, और उनसे भी उसके बाद के दो वृद्धि स्थान—असख्यातगुणवृद्ध और अनन्तगुणवृद्ध स्थान असख्यातगुण है ।

उक्त सक्षिप्त कथन का तात्पर्य इस प्रकार है—अनन्तभागवृद्ध स्थान अल्प है । क्योकि पहले अनन्तभागवृद्ध स्थान से लेकर वे स्थान एक कडक जितने ही होते है, उससे अधिक नही होते है । उनसे असख्यात-भागवृद्ध स्थान असख्यातगुण है और ये असख्यातभागवृद्ध स्थान असख्यातगुण इस प्रकार जानना चाहिये—अनन्तभागाधिक कडक के अन्तिम स्थान से, उससे पीछे का स्थान असख्यातभागाधिक है । अब यदि अनन्तभागवृद्ध कडक के ऊपर का पहला असख्यातभागवृद्ध स्थान अनन्तभागवृद्ध कडक के अन्तिम स्थान की अपेक्षा असख्यात-भाग अधिक है तो उसके पीछे होने वाले अनन्तभागाधिक स्थान भी उस अन्तिम स्थान की अपेक्षा असख्यातभागाधिक ही है । क्योकि जो अनन्तभागाधिक स्थान है, वह तो पहले असख्यातभागाधिक स्थान की अपेक्षा से है, अनन्तभागवृद्ध कडक के अन्तिम स्थान की

अपेक्षा से नही। उसकी अपेक्षा से तो असख्यातभागवृद्ध स्थान और उसके वाद होने वाले सभी स्थान असख्यातभाग अधिक ही होते हैं। अब जव असख्यातभागवृद्ध स्थान से पीछे का अनन्तभागवृद्ध स्थान अनन्तभागवृद्ध कडक के अन्तिम स्थान की अपेक्षा असख्यात भाग अधिक है, तो उसके वाद के सख्यात भाग अधिक स्थान तक के सभी स्थान विशेष-विशेष असख्यातभागाधिक है और वे कडकवर्ग और कडक जितने है, जिससे अनन्तभागवृद्ध स्थानो से असख्यातभागवृद्ध स्थान असख्यातगुणे जानना चाहिये।

उससे भी सख्यातभागवृद्ध स्थान सख्यातगुण है। वे इस प्रकार जानना चाहिये—पहले सख्यातभागवृद्ध स्थान मे अनन्तर पूर्व के स्थान की अपेक्षा सख्यातभागवृद्धि होती है। यदि ऐसा न हो तो वह सख्यातभागाधिक कहा ही नही जा सकता है। अव यदि पहले सख्यातभागवृद्ध स्थान मे सख्यातभागवृद्धि हुई है तो उसके पीछे होने वाले अनन्तभागवृद्ध और असख्यातभागवृद्ध स्थानो मे सख्यातभागवृद्धि तो वहुत ही सरलता से होती है। क्योकि जो अनन्तभागवृद्धि अथवा असख्यातभागवृद्धि होती है, वह उसके समीपवर्ती पूर्व-पूर्व स्थान की अपेक्षा होती है। यहाँ सख्यातभागवृद्धि का विचार पहली बार जो सख्यातभागवृद्ध स्थान होता है उससे पूर्व के स्थान की अपेक्षा किया जाता है। इसलिये यदि उस पहले सख्यातभागवृद्ध स्थान से पूर्व के स्थान की अपेक्षा पहला सख्यातभागवृद्ध स्थान सख्यात-भाग अधिक स्पर्धक वाला है तो उसके पीछे के अपने-अपने पूर्व-पूर्व स्थान की ही अपेक्षा से होने वाले अनन्तभागवृद्ध और असख्यातभाग-वृद्ध स्थान विशेष-विशेष सख्यातभागवृद्ध होगे ही। यह विशेष-विशेष सख्यातभागवृद्धि वहाँ तक कहना चाहिये यावत् मूल दूसरा सख्यात-भागवृद्ध स्थान प्राप्त हो। दूसरा मुख्य सख्येयभागाधिक स्थान कुछ अधिक दो सख्येयभागाधिक स्पर्धक वाला जानना। इसी प्रकार तीसरा सातिरेक कुछ अधिक तीन सख्यातभागाधिक स्पर्धक वाला जानना, चौथा सातिरेक चार सख्यातभागाधिक स्पर्धक वाला जानना चाहिये। इस प्रकार वहाँ तक कहना चाहिये कि उत्कृष्ट सख्यात भाग प्रमाण

वीच-वीच मे होने वाले मुख्य सख्यातभागवृद्ध स्थान हो। इस तरह पहले सख्यातभागवृद्ध स्थान से लेकर एक कम उत्कृष्ट सख्यात प्रमाण मुख्य सख्यातभागवृद्ध स्थान तक के सभी स्थान पहले सख्यातभाग-वृद्ध से पहले के स्थान की अपेक्षा से सख्यातभागवृद्ध है। उत्कृष्ट सख्यातवा सख्यातभागवृद्ध स्थान सख्यातगुण यानि कुछ अधिक दुगने स्पर्धक वाला होता है, इसलिये एक न्यून उत्कृष्ट सख्यात प्रमाण ग्रहण किया है। उससे ही असख्यातभागवृद्ध स्थानो से सख्यातभाग-वृद्ध स्थान सख्यातगुण है। क्योकि पहले सख्यातभागवृद्ध स्थान के पूर्व जितने असख्यातभागवृद्धादि स्थान होते है, उतने एक-एक सख्यातभागवृद्ध स्थान के बीच मे होते है और वे बीच मे होने वाले मुख्य सख्यातभागवृद्ध स्थान प्रस्तुत विचार मे उत्कृष्ट सख्यात प्रमाण ग्रहण करना है, मात्र उत्कृष्ट सख्यातवा स्थान नही लेना है, इसी कारण असख्यातभागवृद्ध स्थानो से सख्यातभागवृद्ध स्थान सख्यात-गुण है।

मख्यातभागवृद्ध स्थानो से सख्यातगुणवृद्ध स्थान सख्यातगुण है। वे स्थान सख्यातगुणवृद्ध इस प्रकार से होते हैं कि पहले सख्यातभाग-वृद्ध स्थान से पूर्व के स्थान की अपेक्षा उत्कृष्ट सख्यात प्रमाण मुख्य सख्यातभागवृद्ध स्थानो से परे अन्तिम स्थान साधिक दुगने स्पर्धक वाला होता है, पुन उतने स्थानो को उलाघने के बाद अन्तिम स्थान साधिक तिगुना होता है, फिर उतने स्थानो का अतिक्रमण करने के वाद प्राप्त अन्तिम स्थान कुछ अधिक चौगुना स्पर्धक वाला होता है। इस प्रकार वहाँ तक कहना चाहिये यावत् उत्कृष्ट सख्यातवा स्थान उत्कृष्ट सख्यातगुण हो, पहले सख्यातगुण स्थान से पूर्व के उत्कृष्ट सख्यातप्रमाण मुख्य सख्यातभागवृद्ध स्थान प्रत्येक सख्यातगुणवृद्ध स्थान के बीच मे होते है और सख्यातगुणवृद्ध स्थान उत्कृष्ट सख्यात प्रमाण होते है, इसलिये सख्यातभागवृद्ध स्थानो से सख्यातगुणवृद्ध स्थान सख्यातगुण ही होते हैं।

सख्यातगुणवृद्ध स्थानो से असख्यातगुणवृद्ध स्थान असख्यातगुण हैं

और वे इस प्रकार कि अन्तिम उत्कृष्ट सख्यातगुण स्थान से उत्कृष्ट सख्यात प्रमाण मुख्य सख्यातभागवृद्ध स्थानो को अतिक्रमण करने के वाद जो अन्तिम स्थान आता है वह जघन्य असख्यातगुण होता है और उसके वाद होने वाले सभी अनन्तभागवृद्ध, असख्यातभागवृद्ध, सख्यातगुणवृद्ध और असख्यातगुणवृद्ध स्थान असख्यातगुणे ही होते है । इसीलिये सख्यातगुणवृद्ध स्थानो से असख्यातगुणवृद्ध स्थान असख्यातगुण हैं ।

उनसे अनन्तगुणवृद्ध स्थान असख्यातगुण है । क्योकि पहले अनन्तगुणवृद्ध स्थान से लेकर पट्स्थान की समाप्ति पर्यन्त सभी स्थान अनन्तगुणवृद्ध स्पर्धक वाले ही है । इसका कारण यह है कि पहला अनन्तगुणवृद्ध स्थान उसके पूर्व मे रहे हुए स्थान की अपेक्षा अनन्तगुणवृद्ध है । यदि वह पहला ही स्थान अनन्तगुणवृद्ध है तो उस अनन्तगुणवृद्ध की ही अपेक्षा से होने वाले अनन्तभागवृद्धादि स्थान अनन्तगुण स्पर्धक वाले ही कहलाते है । प्रथम अनन्तगुणवृद्धि से पहले के सभी स्थान प्रत्येक अनन्तगुणवृद्धि के बीच मे होते हैं, अनन्तगुणवृद्ध स्थान और अन्तर कडक प्रमाण होते है, इसलिये असख्यातगुणवृद्ध स्थानो से अनन्तगुणवृद्धस्थान असख्यातगुणा है ।

इस प्रकार से अल्पबहुत्व प्ररूपणा करने के साथ रसवधस्थानो के स्वरूप का कथन पूर्ण हुआ । अब इन अनुभागवधस्थानो के वधक त्रस और स्थावर जीवो की प्ररूपणा करते हैं ।

अनुभागबधस्थानो के बधक जीवो की प्ररूपणा

इसकी प्ररूपणा करने के आठ अनुयोग द्वार है जिनके नाम इस प्रकार है—

> **एगट्ठाणपमाण अंतरठाणा निरतरा ठाणा ।**
> **कालो वुड्ढी जवमज्झ फासणा अप्पबहु दारा ॥६१॥**

शब्दार्थ—एगट्ठाणपमाण—एकस्थानप्रमाण, अतरठाणा—अतरस्थान,

निरन्तरा ठाणा—निरतर स्थान, कालो—काल, वुड्ढी—वृद्धि, जवमज्झ—यवमध्य, फासणा—स्पर्शना, अप्पबहु—अल्पबहुत्व, दारा—द्वार।

गाथार्थ—अनुभागवधस्थानो के बधक जीवो के विषय में विचार के एकस्थानप्रमाण, अतरस्थान, निरतरस्थान, काल, वृद्धि, यवमध्य, स्पर्शना और अल्पवहुत्व ये आठ द्वार है।

विशेषार्थ—अनुभागबधस्थानो को बाधने वाले जीवो के विषय मे आठ अनुयोग द्वार क्रमश इस प्रकार है—१ एकस्थानप्रमाण—एक-एक रसवधस्थान के बधक जीवो का प्रमाण, २ अन्तर स्थान—रसबधस्थानो मे बाधने वाले जीवो की अपेक्षा कितने स्थानो का कम से कम और अधिक से अधिक अतर पडता है, ३ निरतर स्थान—कितने स्थानो को विना अतर के बाधते है, ४ काल-प्रमाण—नाना जीवो की अपेक्षा कोई भी एक अनुभागस्थान कितने काल तक बधता है, ५ वृद्धि—किस क्रम से अनुभाग-स्थानो को बाधने वाले जीवो की वृद्धि होती है, ६ यवमध्य—अधिक-से-अधिक कालमान वाले स्थानो को बताना, ७ स्पर्शना—उन-उन कालमान वाले स्थानो को अनेक जीव कितने काल तक स्पर्श करते है, ८ अल्पबहुत्वप्ररूपणा—आगे-पीछे के कालमान वाले स्थानो को स्पर्श करने वाले जीवो के अल्पाधिक्य का विचार करना। इस प्रकार से अनुभागबधस्थानो के बधक जीवो की प्ररूपणा करने के ये आठ द्वार है।

यथाक्रम कथन करने के न्यायानुसार सर्वप्रथम एकस्थानप्रमाण का निर्देश करते है।

एकस्थानप्रमाण

एक्केक्कम्मि असखा तसेयराणंतया सपाउग्गे।
एगाइ जाव आवलि असखभागो तसा ठाणे ॥६२॥

शब्दार्थ—एक्केक्कमि—एक-एक मे, असखा—असख्यात, तसेयराणतया—त्रस से इतर (स्थावर) अनत, सपाउग्गे—स्वप्रायोग्य, एगाइ—एक से लेकर,

जाव—यावत्-पयन्त, आवलि—आवलिका, असखभागो—असख्यातवें भाग, तसा—त्रस, ठाणे—स्थान मे ।

गाथार्थ—स्वप्रायोग्य एक-एक स्थान मे एक से लेकर आवलिका के असख्यातवे भाग प्रमाण पर्यन्त त्रस जीव असख्यात और त्रस से इतर अर्थात् स्थावर अनन्त होते है ।

विशेषार्थ—यहाँ एक-एक स्थान मे अनुभागबध के बधक जीवो का परिमाण बताया है कि त्रस जीवो के बधयोग्य एक-एक अनुभाग-बधस्थान मे जघन्य एक से लेकर उत्कृष्ट—आवलिका के असख्यातवें भाग मे वर्तमान समय प्रमाण असख्यात त्रस जीव होते है। अर्थात् इतने त्रस जीव उस-उस स्थान के बाधने वाले होते है और स्वप्रायोग्य स्थान के बाधने वाले स्थावर जीव अनन्त होते है, यानि स्थावरयोग्य प्रत्येक रसस्थान को बाधने वाले स्थावर जीव अनन्त होते है।

इस प्रकार से रसबधस्थान के बधक जीवो का प्रमाण जानना चाहिए। अब अन्तरस्थानो का कथन करते है।

अन्तरस्थान प्ररूपणा

तसजुत्तठाणविवरेसु सुन्नया होंति एक्कमाईया ।
जाव असखा लोगा निरन्तरा थावरा ठाणा ॥६३॥

शब्दार्थ—तसजुत्तठाणविवरेसु—त्रसयोग्य स्थानो के बीच मे, सुन्नया—शून्य (रहित), होंति—होते हैं, एक्कमाईया—एक से लेकर, जाव—तक, असखालोगा—असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण, निरन्तरा—निरन्तर, थावरा ठाणा—स्थावर योग्य स्थान ।

गाथार्थ—त्रसयोग्य स्थानो के बीच मे एक से लेकर असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थानो का अतर पडता है और स्थावर-योग्य स्थानो मे अतर नही होता है ।

विशेषार्थ—त्रसयोग्य जो रसबध स्थान त्रसो को बध मे प्राप्त नही होते है वे जघन्य से एक, दो और उत्कृष्ट असख्यात लोकाकाश

प्रदेश प्रमाण होते है। इसका तात्पर्य यह हे कि त्रस जीवो से उनके बधयोग्य रसबधस्थान असख्यातगुणे है। जिससे यह सभव नही है कि वे सभी स्थान प्रति समय बध को प्राप्त हो ही, कितने ही बधते है और कितनेक नही बधते है। विवक्षित समय मे जो न बधे वे जघन्य से एक दो और उत्कृष्ट से असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते है। इसीलिये यह कहा है कि बीच-बीच मे असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थानो का अतर पडता है।

स्थावरयोग्य जो स्थान है, वे सभी निरन्तर बधते है। त्रस जीवो जैसे बीच-बीच मे बधशून्य स्थान नही होते है। क्योकि स्थावर जीव अनन्त है और उनके योग्य बधस्थान असख्यात ही है।

इस प्रकार अतरस्थानो के प्रमाण की प्ररूपणा जानना चाहिये। अब निरन्तर कितने स्थान बधते है, और उनके काल का विचार करते है।

निरतरस्थानबध प्ररूपणा

> दोआइ जाव आवलिअसखभागो निरतर तसेहि।
> नाणाजीएहि ठाण असुन्नय आवलि असख ॥६४॥

शब्दार्थ—**दोआइ**—दो से लकर, **जाव**—तक, **आवलिअसखभागो**—आवलिका के असख्यातवें भाग, **निरतर**—निरन्तर, **तसेहि**—त्रस जीवो द्वारा, **नाणाजीएहि**—अनेक जीवो द्वारा, **ठाण**—स्थान, **असुन्नय**—अशून्य, **आवलि असख**—आवलिका के असख्यातवे भाग।

गाथार्थ—दो से लेकर आवलिका के असख्यातवे भाग के समय प्रमाण स्थान त्रस जीवो द्वारा निरतर बधते है और अनेक जीवो द्वारा बाधे जा रहे रसबधस्थान आवलिका के असख्यातवे भाग जितने काल अशून्य रहते है।

विशेषार्थ—गाथा मे यह स्पष्ट किया है कि कितने स्थान निरतर बधते है और अनेक जीवो की अपेक्षा कोई एक स्थान कितने काल

तक निरतर वधता है। सर्वप्रथम त्रस जीवो की अपेक्षा इसका विचार करते हैं—

त्रस जीवो द्वारा जो स्थान निरतर बधते है, वे कम-से-कम दो, तीन आदि और अधिक-से-अधिक आवलिका के असख्यातवे भाग के समय प्रमाण होते है। इसका कारण यह है कि त्रस जीव थोडे है और रसबध के स्थान उनसे असख्यातगुणे अधिक हैं, जिससे सभी स्थान त्रस जीवो द्वारा निरतर नही बाधे जा सकते हैं किन्तु कितने ही स्थान निरतर बधते है तथा अतर भी पडता है। वह इस प्रकार कि कुछ स्थान नही बधते है और कुछ एक स्थान बधते है। इस प्रकार प्रत्येक समय होता है। अर्थात् निरतर कितने स्थान बधते हैं, इसका यहाँ विचार किया और अन्तर पडता है—नही बधते है तो कितने नही बधते हैं, इसका विचार पूर्व गाथा मे किया जा चुका है।

काल प्रमाण प्ररूपणा

इस प्रकार से निरतर बधने वाले स्थानो का विचार करने के बाद अव यह वताते है कि अनेक जीवो की अपेक्षा कोई भी एक स्थान निरन्तर कितने काल तक बधता है और कितने काल तक बधशून्य नही रहता है—

त्रसप्रायोग्य कोई भी एक स्थान अन्य-अन्य जीवो द्वारा निरतर बधे तो उत्कृष्ट से आवलिका के असख्यातवे भाग के समय प्रमाण ही बधता है और उसके बाद अवश्य ही बधशून्य हो जाता है, यानि उसे एक भी त्रस जीव नही बाधता है। किसी भी स्थान का जघन्य निरतर बधकाल एक, दो समय है, अर्थात् कम-से-कम एक या दो समय बधने के बाद वह स्थान बधशून्य हो जाता है। परन्तु स्थावर जीवो के योग्य प्रत्येक अनुभागबधस्थान अन्य-अन्य स्थावर जीवो द्वारा निरन्तर बधते ही रहते हैं, किन्तु किसी भी काल मे बधशून्य नही होते है। क्योकि स्थावर जीव अनन्त हैं।

इस प्रकार अनन्त जीवो की अपेक्षा बधकाल का कथन जानना

चाहिये। अब यह स्पष्ट करते हैं कि अनुभाग स्थान में किस क्रम से बाधने वालो की अपेक्षा जीव बढते है। इसका निरूपण करने की दो विधाये है—१ अनन्तरोपनिधा और २ परपरोपनिधा। दोनो उपनिधाओ की अपेक्षा उनका निरूपण इस प्रकार जानना चाहिए—

जवमज्झमि बहवो विसेसहीणाउ उभयओ कमसो ।
गतुमसखा लोगा अद्धद्धा उभयओ जीवा ॥६५॥

शब्दार्थ—**जवमज्झमि**—यवमध्य मे, **बहवो**—बहुत, **विसेसहीणा**—विशेपहीन, **उ**—और, **उभयओ**—दोनो बाजुओ से, **कमसो**—अनुक्रम से, **गतुमसखालोगा**—असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थान जाने पर, **अद्धद्धा**—अर्ध-अर्ध, **उभयओ**—दोनो ओर से, **जीवा**—जीव।

गाथार्थ—यवमध्य मे बहुत जीव है और अनुक्रम से दोनो बाजुओ मे विशेपहीन, विशेषहीन है तथा दोनो ओर से असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थान जाने पर जीव अर्ध-अर्ध होते है।

विशेषार्थ—गाथा के पूर्वार्ध मे अनन्तरोपनिधा के द्वारा और उत्त-रार्ध मे परपरोपनिधा द्वारा अनुभागबधस्थानो मे जीवो का प्रमाण बतलाया है। इन दोनो मे से पहले अनन्तरोपनिधा की दृष्टि का विचार करते है—

'जवमज्झमि' अर्थात् आठ समय काल वाले यवमध्य रूप रसबध के स्थानो को बाधने वाले जीव बहुत है, और उसकी दोनो बाजुओ के स्थानो को बाधने वाले अनुक्रम से विशेषहीन-विशेषहीन है—'विसेस-हीणाउ उभयओ कमसो'। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सर्व जघन्य रस-बधस्थान को बाधने वाले जीव अल्प है, दूसरे स्थान को बाधने वाले जीव विशेपाधिक है, इस प्रकार विशेषाधिक-विशेषाधिक आठ समय काल वाले स्थान पर्यन्त जानना चाहिये। तत्पश्चात् सात समय काल वाले स्थान से लेकर दो समय काल वाले स्थान पर्यन्त विशेपहीन-विशेपहीन कहना चाहिये। इसका अर्थ यह हुआ कि आठ समय काल वाले अतिम स्थान से सात समय काल वाले पहले स्थान को बाधने

वाले जीव अल्प है। उससे तथा उसके पीछे के स्थान को बाधने वाले जीव अल्प है। इस प्रकार अल्प-अल्प उत्कृष्ट दो समय काल वाले अतिम स्थान पर्यन्त कहना चाहिये।

इस प्रकार से अनन्तरोपनिधा प्ररूपणा का आशय है। अब पर-परोपनिधा द्वारा विचार करते है—

यवमध्य सरीखे आठ समय काल वाले अनुभागबध स्थानो को बाधने वाले जीवो से उसकी दोनो बाजु असख्यात-असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थानो को उलाघने के बाद जो-जो अनुभागबधस्थान प्राप्त होता है उसमे पूर्व-पूर्व की अपेक्षा अर्ध-अर्ध जीव होते हैं। इस प्रकार वहाँ तक कहना चाहिये जब एक बाजू तो चार समय और दूसरी बाजू मे दो समय काल वाला स्थान प्राप्त हो।

उक्त कथन का तात्पर्य यह है—जघन्य अनुभागबधस्थान को जितने जीव बाधते है उनसे जघन्य अनुभागबधस्थान से लेकर असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थानो को उलाघने के बाद जो स्थान आता है, उसको बाधने वाले जीव दुगुने होते हैं। पुन वहा से भी उतने स्थानो को उलाघने के बाद जो स्थान आता है उसको बाधने वाले जीव दुगुने होते हैं। इस प्रकार दुगुने-दुगुने यवमध्य पर्यन्त कहना चाहिये। यवमध्य के अतिम स्थान के अनन्तर असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थानो का अतिक्रमण करने पर जो स्थान प्राप्त होता है, उसमे अतिम द्विगुण वृद्धस्थान के जीवो से द्विगुणहीन अर्थात् आधे जीव होते है। पुन उतने ही स्थानो का अतिक्रमण करने के बाद प्राप्त स्थान मे आधे जीव होते हैं। इस प्रकार आधे-आधे जीव वहाँ तक कहना चाहिये जब सर्वोत्कृष्ट दो समय काल वाला रसबधस्थान प्राप्त हो।

इस प्रकार परपरोपनिधा से बधकाल प्रमाण का विचार करने के बाद अब हानि के प्रमाण का विचार करते है।

आवलिअसखभागं तसेसु हाणीण होइ परिमाण ।

हाणि दुगतरठाणा थावरहाणी असखगुणा ।।६६।।

शब्दार्थ—**आवलिअसखभाग**—आवलिका के असख्यतावे भाग, **तसेसु**—त्रस जीवो मे, **हाणीण**—हानि का, **होइ**—होता है, **परिमाण**—प्रमाण, **हाणि**—हानि, **दुगतरठाणा**—दो हानि के मध्य के स्थान, **थावरहाणी**—स्थावर जीवो की हानिया, **असखगुणा**—असख्यातगुण ।

गाथार्थ—त्रस जीवो मे हानि का प्रमाण आवलिका का असख्यातवा भाग प्रमाण है एव दो हानियो के वीच के स्थान तथा स्थावर जीवो की हानिया असख्यातगुण है ।

विशेषार्थ—त्रस जीवो के विपय मे यवमध्य की अपेक्षा उससे पहले और वाद मे जो द्विगुणहानि होती है, वह कुल मिलाकर 'आवलि असखभाग'—आवलिका के असख्यातवे भाग समय प्रमाण होती है और आवलिका के असख्यातवे भाग मे जितने समय होते है, उतने कुल मिलाकर द्विगुणहानि के स्थान होते है ।

प्रश्न—पूर्व मे कहा गया है कि त्रस जीवो द्वारा निरतर अनुभाग-वधस्थान वधे तो अधिक से अधिक आवलिका के असख्यातवे भाग समय प्रमाण वधते है । उसके वाद कितने ही स्थान वधशून्य होते है एव कितने ही बधते है, फिर कितने ही बधते हैं और फिर कितने ही वधशून्य होते है । इस प्रकार निरतर भी वधते है और बीच-बीच मे वधशून्य भी होते है । प्रत्येक स्थान निरतर बधते नही है । जब इस प्रकार है तो जघन्य स्थान से लेकर यवमध्य रसस्थान तक जीवो की वृद्धि कही और फिर जीवो की हानि कही एव यवमध्य के पहले और बाद मे कुल मिलाकर आवलिका के असख्यातवे भाग प्रमाण द्विगुण हानि के स्थान कहे तो वे किस प्रकार घटित होते है ? यथार्थ मे देखा जाये तो इस प्रकार से एक भी द्विगुणहानिस्थान घटित नही हो सकता है ।

उत्तर—यह कथन सत्य है कि विवक्षित किसी भी एक समय की अपेक्षा विचार किया जाये तो बीच मे बधशून्य स्थान होने से द्विगुणहानिस्थान घटित नही हो सकते है। परन्तु त्रिकालवर्ती जीवो की अपेक्षा विचार किया जाये तो कोई भी स्थान बधशून्य नही हो सकता है। क्योकि भूतकाल मे प्रत्येक स्थान जीव ने स्पर्श किया है और भविष्यकाल मे स्पर्श करेगा, जिससे उसकी अपेक्षा से चार समय वाले स्थान से यवमध्य पर्यन्त प्रत्येक स्थान मे जीवो की जो वृद्धि तथा उसके बाद क्रमश जीवो की जो हानि कही है, एव आवलिका के असख्यातवे भाग प्रमाण द्विगुण हानि वाले जो स्थान कहे है, वे बराबर घटित हो सकते है। यहाँ त्रिकालवर्ती जीवो की अपेक्षा विचार किया गया है, कि आवलिका के असख्यातवे भाग के समय प्रमाण अनुभागबधस्थान निरतर बधते है और उसके बाद कितने ही स्थान अवश्य बधशून्य होते है—यह विचार विवक्षित किसी भी एक समय की अपेक्षा है, जिससे यहाँ किसी प्रकार का विरोध नही है।

त्रसो की पहली और दूसरी द्विगुण हानि के बीच मे जो स्थान हैं, उनकी अपेक्षा स्थावर जीवो के यवमध्य के पहले के और पीछे के कुल मिलाकर जो द्विगुणहीन अनुभागस्थान होते है, वे असख्यातगुण हैं। यहाँ त्रसो के समस्त द्विगुणहीन स्थान अल्प है, उससे एक और दूसरी द्विगुण हानि के बीच के रसबधस्थान असख्यातगुण हैं। स्थावरो के सम्बन्ध मे इस प्रकार है—त्रसो के द्विगुणहानि के बीच के स्थान अल्प है, उससे उनके—स्थावरो के द्विगुणहीन स्थान असख्यातगुण है।

इस प्रकार जिस क्रम से अनुभागबधस्थान मे बधक की अपेक्षा जीवो की हानि होती है उसका विचार करने के बाद अब 'यवमध्य प्ररूपणा करते हैं।

यवमध्य प्ररूपणा

> जवमज्झे ठाणाइ असखभागो उ सेसठाणाणँ।
> हेट्ठमि होंति थोवा उवरिम्मि असँखगुणियाणि ॥६७॥

शब्दार्थ - **जवमज्झे**—यवमध्य के, **ठाणाइ**—स्थान, **असखभागो**—असख्यातवे भाग, **उ**—और, **सेसठाणाण**—शेष स्थानो के, **हेट्ठ मि**—नीचे के, **होंति**—होते है, **थोवा**—स्तोक अल्प, **उवरिम्मि**—ऊपर के, **असखगुणियाणि**—असख्यातगुणे ।

गाथार्थ—यवमध्य के स्थान शेप स्थानो के असख्यातवे भाग है तथा नीचे के स्थान अल्प और ऊपर के स्थान असख्यातगुणे है ।

विशेषार्थ—गाथा में यवमध्य रूप अनुभाग स्थानो का प्रमाण बतलाया है कि वे कितने है ।

आठ समय वाले स्थानो को यवमध्य कहते है । अतएव यव के मध्य सदृश होने से वे यवमध्य रूप आठ समय वाले स्थान अन्य स्थानो की अपेक्षा असख्यातवे भाग मात्र होते है—'असखभागो उ सेस ठाणाण' । किन्तु यवमध्य से नीचे के चार से सात समय तक के काल वाले स्थान अल्प है—'हेट्ठमि होंति थोवा' और उनकी अपेक्षा यवमध्य से ऊपर के सात से लेकर दो समय तक के काल वाले स्थान असख्यातगुणे है—'उवरिम्मि असखगुणियाणि' ।

इस प्रकार से यवमध्य प्ररूपणा का आशय जानना चाहिये । अब स्पर्शना और अल्पबहुत्व प्ररूपणा करते है ।

स्पर्शना और अल्पबहुत्व प्ररूपणा

> **दुगचउरट्ठतिसमइग सेसा य असखगुणणया कमसो ।**
> **काले ईए पुट्ठा जिएण ठाणा भमतेण ॥६८॥**
> **तत्तो विसेसअहिय जवमज्झा उवरिमाइ ठाणाइं ।**
> **तत्तो कडगहेट्ठा तत्तोवि हु सव्वठाणाइ ॥६९॥**

शब्दार्थ—**दुगचउरट्ठतिसमइग**—दो, चार, आठ, तीन समय काल वाले, **सेसा**—शेष, **य**—और, **असखगुणणया**—असख्यातगुणे से, **कमसो**—

अनुक्रम से, काले ईए—अतीत काल मे, पुट्ठा—स्पर्श किये हैं, जिएण—जीव ने, ठाणा—स्थान, भमतेण—भ्रमण करते हुए ।

तत्तो—उससे, विसेसअहिय—विशेपाधिक, जवमज्झाउवरिमाइ—यव-मध्य से ऊपर के, ठाणाइ—स्थान, तत्तो—उससे, कडगहेट्ठा—कडक से नीचे के, तत्तोवि—उससे भी, हु—निश्चय ही, सव्वठाणाइ—सर्वस्थान ।

गाथार्थ—अतीतकाल मे भ्रमण करते हुए जीव ने दो, चार, आठ और तीन समय काल वाले तथा शेष स्थानो को अनुक्रम से असख्यातगुणे काल तक स्पर्श किया है ।

उससे यवमध्य से ऊपर के स्थानो का, उससे कडक के नीचे के स्थानो का और उससे सर्वस्थानो का अनुक्रम से विशेषाधिक स्पर्शना काल है ।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओ मे अतीत काल मे भ्रमण करते हुए जीव द्वारा किया गया स्पर्शना काल और उन रसस्थानो की स्पर्शना का अर्थात् बधकाल का अल्पबहुत्व बतलाया है ।

सर्वप्रथम स्पर्शनाकाल को बतलाते है कि अतीत काल मे भ्रमण करते हुए जीव ने दो समय काल वाले रसबधस्थानो को अल्प काल ही स्पर्श किया है अर्थात् उन स्थानो को अल्प काल पर्यन्त ही बाधा है । उससे नीचे के चार समय काल वाले स्थानो को असख्यातगुण काल स्पर्श किया और उतने ही काल ऊपर के चार समय काल वाले स्थानो का स्पर्श किया है । उससे आठ समय काल वाले यवमध्य स्थानो को असख्यातगुणे काल स्पर्श किया है । उससे यव-मध्य से नीचे के पाँच, छह और सात समय काल वाले अनुभाग स्थानो का समुदित स्पर्शना काल असख्यातगुण है और इतना ही यवमध्य से ऊपर के सात, छह और पाच समय काल वाले स्थानो का (तीनो का) मिलाकर स्पर्शना काल है ।

इसका तात्पर्य यह है कि ससार मे परिभ्रमण करने वाले जीव

ने उतने-उतने काल उस-उस समयप्रमाण वाले अनुभागस्थानो का बंध किया है।

अब इन अनुभागस्थानो का अल्पबहुत्व बतलाते है—

पाच, छह, सात समय काल वाले रसस्थानो का समुदित जो स्पर्शना काल है, उसकी अपेक्षा यवमध्य से ऊपर के सात से लेकर दो समय काल पर्यन्त के सभी स्थानो का समुदित स्पर्शनाकाल विशेषाधिक है। उसकी अपेक्षा कडक यानि यवमध्य से ऊपर के चार समय काल वाले स्थानो से लेकर जघन्य चार समय काल वाले स्थानो तक के सभी स्थानो का समुदित स्पर्शना काल विशेषाधिक है। उसकी अपेक्षा सभी स्थानो का समुदित स्पर्शनाकाल विशेषाधिक है।

इस प्रकार से रसबंध मे स्पर्शना यानि बंधकाल का अल्पबहुत्व जानना चाहिये। अब उन रसस्थानो के बाधने वाले जीवो का अल्पबहुत्व कहते है—

फासण कालप्पबहू जह तह जीवाण भणसु ठाणेसु।
अणुभागबंधठाणा अज्झवसाया व एगट्ठा ॥७०॥

शब्दार्थ—फासण कालप्पबहू—स्पर्शनाकाल का अल्पबहुत्व, जह—जिस प्रकार से, तह—उसी प्रकार से, जीवाण—जीवो का, भणसु—कहना चाहिये, ठाणेसु—स्थानो मे, अणुभागबंधठाणा—अणुभागबंधस्थान, अज्झवसाया—अध्यवसाय, व—अथवा, एगट्ठा—एकार्थक।

गाथार्थ—जिस प्रकार से स्थानो मे स्पर्शनाकाल का अल्पबहुत्व कहा है उसी प्रकार जीवो का भी अल्पबहुत्व कहना चाहिये। अनुभागबंधस्थान अथवा अध्यवसाय ये दोनो एकार्थक है।

विशेषार्थ—रसबंधस्थानो मे जिस प्रकार से स्पर्शनाकाल का अल्पबहुत्व कहा है, उसी प्रकार जीवो का भी अल्पबहुत्व कहना चाहिये कि दो समय काल वाले रसबंधस्थानो को बाँधने वाले जीव

अल्प है। उसकी अपेक्षा यवमध्य पूर्व के जघन्य चार समय काल के स्थानो को बाँधने वाले जीव असख्यातगुणे है, यवमध्य से ऊपर चार समय काल वाले स्थानो को बाँधने वाले जीव भी उतने ही हैं। उनसे आठ समय काल वाले स्थानो को बाँधने वाले असख्यातगुणे है, उनसे तीन समय काल वाले स्थानो को बाँधने वाले असख्यातगुणे हैं। उनसे प्रारम्भ के पाँच, छह और सात समय काल वाले स्थानो को बाँधने वाले असख्यातगुणे है, यवमध्य से ऊपर के सात, छह और पाच समय काल वाले स्थानो को बाँधने वाले जीव उतने ही हैं। उससे यवमध्य के ऊपर के सभी स्थानो को बाँधने वाले विशेषाधिक हैं। उनसे प्रारम्भ के जघन्य चार समय काल वाले स्थान से लेकर यवमध्य से ऊपर के पाच समय काल वाले तक के समस्त स्थानो को बाँधने वाले जीव विशेषाधिक है। उनसे भी समस्त रसबध-स्थानो को बाँधने वाले जीव विशेषाधिक है।

प्रश्न—इसी विपय मे कर्मप्रकृति मे अध्यवसायस्थानो मे उपर्युक्त जीवो का अल्पवहुत्व इस प्रकार कहा है—

जीवप्पा बहुभेय अज्झवसाणेसु जाणेज्जा।

अध्यवसायो मे इस प्रकार से जीवो का अल्पबहुत्व जानना चाहिये—जिस प्रकार से स्पर्शना काल मे कहा है और इस (पचसग्रह) मे रसबध के बाँधने वाले जीवो का अल्पबहुत्व कहा है, तो परस्पर विरोध क्यो नही होगा ?

उत्तर—अध्यवसाय और अनुभाग-स्थान ये दोनो एकार्थक हैं। यहाँ (पचमग्रह मे) रसबधस्थानो के बाँधने वाले जीवो का अल्पबहुत्व कहा है और कर्मप्रकृति मे रसस्थान के बध मे निमित्तभूत अध्यवसायो का कारण मे कार्य का आरोप करके अल्पवहुत्व कहा है। इसीलिये यथार्थ रूप से दोनो में कोई अर्थभेद नही है। क्योकि जितने रसबध के कारणभूत अध्यवसायस्थान हैं उतने ही रसबध के स्थान है। अतएव दोनो के कथन मे कोई विरोध नही है।

इस प्रकार से रसबधस्थानो के बाँधने वाले जीवो का अल्प-बहुत्व जानना चाहिये। अब यह स्पष्ट करते है कि एक स्थितिस्थान के बध के कारण कितने अध्यवसाय है और स्थितिस्थान के हेतुभूत प्रत्येक अध्यवसाय मे अनेक जीवो की अपेक्षा रसबध के निमित्तभूत कितने अध्यवसाय होते हैं।

स्थिति एव रसबध के निमित्तभूत अध्यवसाय

ठिइठाणे ठिइठाणे कसायउदया असखलोगसमा।
एक्केक्कसायउदये एव अणुभागठाणाइं ॥७१॥

शब्दार्थ—**ठिइठाणे ठिइठाणे**—स्थितिस्थान-स्थितिस्थान मे, **कसाय-उदया**—कषायोदय के स्थान, **असखलोगसमा**—असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण, **एक्केक्कसायउदये**—एक-एक कषायोदय (अध्यवसाय) मे, **एवं**—इसी प्रकार, **अणुभागठाणाइ**—अनुभागबध के निमित्तभूत स्थान।

गाथार्थ—स्थितिस्थान-स्थितिस्थान मे अर्थात् प्रत्येक स्थिति-स्थान में उसके कारणभूत असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण कषायोदय के स्थान होते है और एक-एक कषायोदय मे असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण अनुभागबध के निमित्तभूत अध्यवसाय-स्थान होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा मे दो बातो को स्पष्ट किया है कि प्रत्येक स्थितिस्थान के बध के कारण कितने अध्यवसाय है और स्थितिस्थान के हेतुभूत प्रत्येक अध्यवसाय में नाना जीवो की अपेक्षा रसबध के निमित्तभूत कितने अध्यवसाय होते है। उनमे से पहले प्रत्येक स्थितिस्थान के बध के कारणभूत अध्यवसायो को बतलाते है।

एक समय मे एक साथ जितनी स्थिति बधती है उसे स्थिति-स्थान कहते है। उसके जघन्य स्थिति से लेकर उत्कृष्ट स्थितिबध पर्यन्त जितने समय है, उतने स्थितिस्थान होते है। जैसे कि जघन्य स्थिति यह पहला स्थितिस्थान, समयाधिक जघन्य स्थिति ये दूसरा स्थितिस्थान, दो समयाधिक जघन्य स्थिति तीसरा स्थितिस्थान इस प्रकार समय-समय की वृद्धि करते हुए सर्वोत्कृष्ट स्थिति ये अतिम

स्थान कहलाता है। इनमे का कोई भी एक स्थितिस्थान एक समय मे एक साथ बधता है। इस प्रकार असख्यात स्थितिस्थान होते है।

इन स्थितिस्थानो के वध मे हेतुभूत तीव्र, मद आदि भेद वाले कषायोदय के स्थान है और वे जघन्य कपायोदय से लेकर क्रमश बढते हुए उत्कृष्ट कषायोदय पर्यन्त असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते है। अर्थात् एक-एक स्थितिस्थान के बध मे हेतुभूत नाना जीवो की अपेक्षा असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण कषायोदय के स्थान होते है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि स्थिति समान बधती है, लेकिन कषायोदय भिन्न-भिन्न होते है और भिन्न-भिन्न कषायोदय रूप कारणो द्वारा एक ही स्थितिस्थान का बध रूप कार्य होता है।

यहाँ यह शका होती है कि कारणो के अनेक होने पर भी कार्य एक ही कैसे होता है ? तो इसके उत्तर मे यह समझना चाहिये कि कषायोदय रूप कारण अनेक होने पर भी सामान्यत एक ही स्थिति-स्थान का बध रूप कार्य यद्यपि एक ही होता है, लेकिन जो स्थिति स्थान बधता है, वह एक ही सदृश रूप मे भोगा जाये वैसा नही बधता है, परन्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भव आदि अनेक प्रकार की विचित्रताओ से युक्त बधता है। भिन्न-भिन्न द्रव्यो रूप निमित्त के द्वारा भिन्न-भिन्न क्षेत्र मे, भिन्न-भिन्न काल मे और पृथक्-पृथक् भवो मे जो एक ही स्थितिस्थान अनुभव किया जाता है, यदि उसके बध मे अनेक कषायोदय रूप अनेक कारण न हो तो वह अनुभव नही किया जा सकता है। बध मे एक ही कारण हो तो बाधने वाले सभी एक ही तरह से अनुभव करे, लेकिन एक ही स्थितिस्थान भिन्न-भिन्न जीव द्रव्यादि भिन्न-भिन्न सामग्री को प्राप्त करके अनुभव करते है। वह अलग-अलग कषायोदय रूप भिन्न-भिन्न कारणो के द्वारा ही सभव है।

अव रसवध के हेतुभूत अध्यवसायो के सवध मे कहते है—एक-एक कषायोदय मे असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण अनुभाग वध के स्थान हैं। रसवध मे शुद्ध कषायोदय ही कारण नही है, किन्तु

लेश्याजन्य असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण परिणाम भी कारण है। इसलिये लेश्याजन्य परिणामयुक्त कषायोदय स्थान द्वारा रसबध होता है। उदाहरणार्थ—एक हजार जीवो का कषायोदय रूप कारण एक सरीखा ही हो और उससे स्थितिबध एक ही तरह से भोगा जाये, वैसा हो फिर भी रसबध समान रीति से भोगा जाये ऐसा नही भी होता है। लेश्या के भिन्न-भिन्न परिणाम रूप निमित्त द्वारा अलग-अलग रीति से भोगा जाये वैसा भी रसबध हो। इस प्रकार कषायोदययुक्त लेश्या के परिणाम रसबध मे हेतु है। एक-एक कषायोदय मे रसबध के हेतुभूत असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण लेश्याजन्य परिणाम होते है, जिससे स्थिति एक जैसी बाधने पर भी रस अल्पाधिक बधता है।

जघन्य स्थिति बाधते हुए जघन्य कषाय से लेकर असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण कषायोदय कारण है, समयाधिक बाधते हुए उसके बाद के उतने ही कषायोदय कारण हैं, इस प्रकार जैसे विभाग हैं, उसी तरह अमुक प्रकार का कषायोदय हो तब अमुक लेश्या के परिणाम हो और उस समय अमुक रसस्थान बधे, ऐसा विभाग होता है, जो आगे अनुकृष्टि के वर्णन मे स्पष्ट किया जा रहा है। इसलिये एक-एक कषायोदय अनेक जीवो की अपेक्षा से तीव्र, तीव्रतर, मद, मदतर आदि लेश्याजन्य अनेक परिणाम होने से असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण रसबध के अध्यवसाय मानना विरुद्ध नही है।

अब प्रत्येक कषायोदय मे रसबध के अध्यवसाय क्रमश किस रीति से बढते है, उसका विचार करते हैं। इस विचार के दो प्रकार हैं—अनन्तरोपनिधा और परपरोपनिधा। उनमे से पहले अनन्तरोपनिधा द्वारा विचार करते हैं।

> थोवाणुभागठाणा जहन्नठिइपढमबधहेउम्मि।
>
> तत्तो विसेसअहिया जा चरमाए चरमहेउ ॥७२॥

शब्दार्थ—थोवाणुभागठाणा— अनुभाग बध के स्थान स्तोक, जहन्नठिइ-

गाथार्थ—असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थानो के जाने पर पहले स्थान से दुगुने स्थान होते है। इन द्विगुण स्थानो का कुल योग आवलिका के असख्यातवे भाग समय प्रमाण है।

विशेषार्थ—जघन्य स्थितिवध मे हेतुभूत असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण कपायोदयो मे के जघन्य कषायोदय स्थान से लेकर असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण कपायोदय स्थानो का अतिक्रमण करने के वाद जो कपायोदयस्थान आता है, उसमे रसवध के हेतुभूत लेश्याजन्य अध्यवसाय पहले कपायोदय स्थान की अपेक्षा दुगुने होते है। उसके वाद उतने कपायोदय स्थानो का उल्लघन करने के वाद जो कपायोदयस्थान आता है, उसमे दुगुने होते है, तत्पश्चात् पुन उतने कपायोदयस्थानो का उल्लघन करने के वाद प्राप्त कषायोदय स्थान मे दुगुने होते है। इस प्रकार दुगुने-दुगुने वहाँ तक जानना चाहिये यावत् सर्वोत्कृप्ट कपायोदयस्थान प्राप्त हो।

इस प्रकार ये दुगुने-दुगुने रसवध के हेतुभूत अध्यवसाय वाले कपायोदय के स्थान कुल मिलाकर आवलिका के असख्यातवे भाग के समय प्रमाण होते है।

अव पूर्वोक्त कथन को अशुभ और शुभ प्रकृतियो मे घटित करते है।

असुभपगईणमेव इयराणुक्कोसगम्मि ठिइवधे।
सव्वुक्कोसगहेऊ उ होइ एव चिय असेस ॥७४॥

शब्दार्थ—असुभपगईण—अशुभ प्रकृतियो का, एव—पूर्वोक्त प्रकार से, इयराणुक्को सगम्मि ठिइवधे—इतर (शुभ प्रकृतियो) के उत्कृप्ट स्थिति-वध मे, सव्वुक्कोसगहेऊ—सर्वोत्कृप्ट कपायोदयस्थान से प्रारम्भ कर, उ—और, होइ—होता है, एव चिय—इसी प्रकार ही, असेस—समस्त।

गाथार्थ—अशुभ प्रकृतियो को पूर्वोक्त प्रकार से समझना चाहिये और इतर शुभ प्रकृतियो का उत्कृप्ट स्थितिवध मे

हेतुभूत सर्वोत्कृष्ट कपायोदयस्थान से प्रारम्भ कर पूर्व मे कहे अनुसार समस्त वर्णन करना चाहिये ।

विशेषार्थ—जघन्य स्थितिबध मे हेतुभूत असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण कषायोदय मे के जघन्य कषायोदय से लेकर सर्वोत्कृष्ट कषायोदय पर्यन्त उत्तरोत्तर कषायोदय मे अधिक-अधिक रसबध के हेतुभूत अध्यवसाय होते है, यह जो पूर्व मे कहा है, वह ज्ञानावरण-पचक, दर्शनावरणनवक, असातावेदनीय, मिथ्यात्वमोहनीय, कषाय-षोडशक, नोकषायनवक, नरकायु, आदि की जातिचतुष्क, समचतुरस्र को छोडकर शेष पाच सस्थान, प्रथम सहनन को छोडकर शेष पाच सहनन, अशुभ वर्णादि नवक, नरकद्विक, तिर्यंचद्विक, अप्रशस्त विहायो-गति, उपघात, स्थावरदशक, नीचगोत्र और अतरायपचक इन सतासी अशुभ प्रकृतियो के लिये समझना चाहिये ।

इतर—शुभ प्रकृतियो के लिये अर्थात् सातावेदनीय, तिर्यंचायु, मनुष्यायु, देवायु, देवद्विक, मनुष्यद्विक, पचेन्द्रियजाति, शरीरपचक, सघातनपचक, बधनपचदशक, समचतुरस्रसस्थान, वज्रऋषभनाराच सहनन, अगोपागत्रिक, शुभ वर्णादि एकादश, पराघात, अगुरुलघु, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्तविहायोगति, त्रसदशक, निर्माण, तीर्थंकरनाम और उच्चगोत्र इन उनहत्तर शुभ प्रकृतियो के उत्कृष्ट स्थितिबध मे हेतुभूत जो सर्वोत्कृष्ट कषायोदयस्थान हैं वहाँ से आरम्भ करके पूर्वोक्त प्रकार से समस्त विपरीत समझना चाहिये ।

वह इस प्रकार—पुण्य प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति मे हेतुभूत अतिम सर्वोत्कृष्ट कषायोदयस्थान मे रसबध के हेतुभूत अध्यवसाय अल्प हैं, उनसे द्विचरम कषायोदयस्थान मे अधिक, उनसे त्रिचरम-समय कषायोदयस्थान मे अधिक, उनसे चतु चरम कषायोदयस्थान मे अधिक इस प्रकार अधिक-अधिक वहाँ तक कहना चाहिये यावत् सर्वजघन्य स्थितिबध मे हेतुभूत कषायोदयस्थानो मे का सर्वजघन्य कपायोदयस्थान प्राप्त होता है ।

इस प्रकार से पुण्य प्रकृतियो मे अनन्तरोपनिधा से वृद्धि का विचार जानना चाहिये। अब परपरोपनिधा से इसका विचार करते है—

उत्कृष्ट कपायोदयस्थान से लेकर अधोभाग मे असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण कपायोदयस्थान उल्लघन करने पर नीचे जो कपायोदयस्थान आता है, उसमे उत्कृष्ट कपायोदय के समय पुण्य प्रकृतियो के रसबध के निमित्तभूत जो अध्यवसाय थे, उनसे द्विगुण होते है। पुन वहाँ से उतने ही कपायोदयस्थान अधोभाग में उल्लघन करने के अनन्तर जो कपायोदयस्थान आता है, उसमे द्विगुण होते है। इस प्रकार वारवार वहाँ तक कहना चाहिये, यावत् जघन्य कषायोदयस्थान प्राप्त हो।

बीच मे जो द्विगुणवृद्धिस्थान होते है, वे कुल मिलाकर आवलिका के असख्यातवे भाग के समय जितने होते है। ये आवलिका के असख्यातवे भाग प्रमाण शुभ-अशुभ प्रकृतियो के प्रत्येक के द्विगुणवृद्धिस्थान अल्प हैं, उनसे द्विगुणवृद्धि के एक अतर मे कपायोदयस्थान असख्यात गुणे हैं।

इस प्रकार स्थितिबध के हेतुभूत अध्यवसायो मे रसबध के हेतुभूत अध्यवसायो का विचार जानना चाहिये। अब स्थितिबधस्थानो मे अनुभागबधाध्यवसायस्थानो का विचार करते है। इस विचार की दो विधायें हैं—अनन्तरोपनिधा और परपरोपनिधा। इन दोनो में से पहले अनन्तरोपनिधा से प्ररूपणा करते है।

थोवाणुभागठाणा जहन्नठिइबध असुभपगईण।
समयवुड्ढीए किचाहियाइं सुहियाण विवरीयं ॥७५॥

शब्दार्थ—**थोवाणुभागठाणा**—अनुभागबधाध्यवसायस्थान अल्प, **जहन्नठिइबध**—जघन्यस्थितिबध मे, **असुभपगईण**—अशुभ प्रकृतियो के, **समयवुड्ढीए**—समय की वृद्धि होने पर, **किचाहियाइ**—किंचित् अधिक-अधिक, **सुहियाण**—शुभप्रकृतियो के, **विवरीय**—विपरीत।

गाथार्थ—अशुभ प्रकृतियो के जघन्य स्थितिबध मे अनुभाग-बधाध्यवसायस्थान अल्प हैं। किन्तु जैसे-जैसे समय की वृद्धि होने पर वैसे-वैसे किंचित् अधिक-अधिक बढते जाते हैं और शुभ प्रकृतियो के लिये विपरीत क्रम जानना चाहिये।

विशेषार्थ—पूर्व मे जिन अशुभ प्रकृतियो का नामोल्लेख किया गया है उनमे से आयु को छोडकर शेष पाप प्रकृतियो का जघन्य स्थितिबध करते—बाधते रसबध के हेतुभूत अध्यवसाय अल्प है और वे भी असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते है। समयाधिक स्थितिबध करने पर अधिक रसबधाध्यवसाय होते हैं, दो समयाधिक जघन्य स्थितिबध करने पर पूर्व से कुछ अधिक रसबधाध्यवसाय होते हैं। इस प्रकार जैसे-जैसे समय-समय स्थितिबध बढता जाता है, वैसे-वैसे उत्कृष्ट स्थितिबध पर्यन्त रसबध के हेतुभूत अध्यवसाय बढते जाते है। उत्कृष्ट स्थितिस्थान में अधिक से अधिक रसबधाध्यवसाय होते है।

लेकिन पूर्व मे जिनका नामोल्लेख किया है, उन शुभ प्रकृतियो मे से आयु को छोडकर शेष के लिये विपरीत क्रम जानना चाहिये। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—पुण्य प्रकृतियो की उत्कृष्टस्थिति बाधने वाले रसबध के हेतुभूत अध्यवसाय अल्प हैं, किन्तु वे भी असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण तो है ही। समयन्यून उत्कृष्ट स्थिति बाधने पर कुछ अधिक होते हैं, दो समयन्यून स्थिति बाधने पर उससे भी अधिक होते है। इस प्रकार वहाँ तक कहना चाहिये यावत् सर्वजघन्य स्थिति प्राप्त हो। जघन्य स्थिति बाधने पर अधिक से-अधिक रसबध के हेतुभूत अध्यवसाय होते है।

इस प्रकार से अनन्तरोपनिधा द्वारा अनुभागबध के हेतुभूत अध्यवसायो की वृद्धि का निर्देश किया। अब परपरोपनिधा से विचार करते हैं—

पलियासखियमेत्ता ठिइठाणा गतु गतु दुगुणाइ।
आवलिअसखमेत्ता गुणा गुणतरमसखगुण ॥७६॥

शब्दार्थ—पलियासखियमेत्ता—पल्योपम के असख्यातवे भाग मात्र, ठिइठाणा—स्थितिस्थान, गतुं-गतुं—जाने पर, दुगुणाइं—दुगुने, आवलि-असंखमेत्ता—आवलिका के असख्यातवें भाग मात्र, गुणा—द्विगुणस्थान, गुणतरमसंखगुणं—गुणान्तर असख्यातगुणे है।

गाथार्थ—पल्योपम के असख्यातवे भाग मात्र स्थितिस्थानो के जाने पर दुगुने होते है। ये द्विगुणस्थान आवलिका के असख्यातवे भाग मात्र होते है और द्विगुण स्थानो से गुणान्तर असख्यात गुण है।

विशेषार्थ—पूर्व गाथोक्त आयुर्वजित पाप प्रकृतियो की जघन्य स्थिति को बाधने पर रसबध के हेतुभूत जो अध्यवसाय है उनमें पल्योपम के असख्यातवे भाग मे रहे हुए समय प्रमाण स्थितिस्थानो का उल्लघन करने के बाद जो स्थितिस्थान आता है, उसमें दुगुने अध्यवसाय होते है। उससे पुन उतने ही स्थितिस्थानो का उल्लघन करने के बाद जो स्थितिस्थान प्राप्त होता है, उसमे दुगुने अध्यवसाय स्थान होते है। इस प्रकार पल्योपम के असख्यातवे भाग का उल्लघन करने पर दुगुने-दुगुने रसबधाध्यवसाय स्थान वहाँ तक कहना चाहिये यावत् उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त हो—'ठिइठाणा गतु गतु दुगुणाइ।'

इस प्रकार पाप प्रकृतियो मे जघन्य स्थितिस्थान से उत्कृष्ट स्थिति-स्थान पर्यन्त जानना चाहिये। लेकिन—

पुण्य प्रकृतियो मे उत्कृष्ट स्थितिस्थान से लेकर जघन्य स्थिति-स्थान पर्यन्त का वर्णन इस प्रकार है—आयुर्वजित पूर्वोक्त पुण्य प्रकृतियो को बाधते हुए रसबध के हेतुभूत जो अध्यवसाय होते है, उनसे पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण अधोभाग मे स्थित स्थिति-स्थानो को उलाघने के बाद नीचे जो स्थितिस्थान प्राप्त होता है, उसमे दुगुने रस बधाध्यवसायस्थान होते है। इस प्रकार पल्योपम के असख्यातवे भाग नीचे-नीचे उतरते-उतरते दुगुने-दुगुने रसबध के निमित्तभूत अध्यवसाय वहाँ तक कहना चाहिये यावत् जघन्य स्थिति प्राप्त हो।

इन शुभ और अशुभ प्रकृतियो के द्विगुणवृद्धिस्थान आवलिका के असख्यातवे भाग के समय प्रमाण होते है—'आवलि असखमेत्ता' और उन [समस्त द्विगुणवृद्धिस्थानो से द्विगुणवृद्धि के अतर मे रहे हुए स्थान असख्यातगुणे है। वे इस प्रकार जानना चाहिये—शुभ और अशुभ प्रकृतियो के द्विगुणवृद्धिस्थान अल्प है। क्योकि वे आवलिका के असख्यातवें भाग मात्र है। उनसे द्विगुणवृद्धि के बीच में रहे हुए स्थितिस्थान पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण होने से असख्यातगुणे है।

पूर्व की दो गाथाओ मे कषायोदयस्थान मे रसबध के हेतुभूत अध्यवसायो की सख्या का विचार किया गया था और इस गाथा में स्थितिस्थान में रसबधाध्यवसायस्थानो का विचार किया गया है। वहाँ असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण कषायोदयस्थानो को उलाघने के बाद जो कषायोदयस्थान प्राप्त होता है, उसमे दुगुने रसबधाध्यवसाय होते हैं यह कहा था और यहाँ पल्योपम के असख्यातवे भाग जितने स्थितिस्थानो का उल्लघन करने के बाद जो स्थितिस्थान होता है, उसमे दुगुने रसबधाध्यवसाय होते है, यह बताया है। इन दोनो का समन्वय इस प्रकार करना चाहिये कि असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण कषायोदयस्थानो का उल्लघन करने के बाद जो कषायोदयस्थान आता है कि जिसमे दुगुने रसबधाध्यवसाय होते है वे कषायोदयस्थान उस स्थितिस्थान के बधहेतु के रूप मे आते हैं कि पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थितिस्थानो का उल्लघन करने पर जिस स्थितिस्थान मे दुगुने रस बधाध्यवसाय स्थान होते हैं।

अब चारो आयु के स्थितिस्थानो मे रसबधाध्यवसायो का विचार करते है।

सव्वजहन्नठिईए सव्वाण वि आउगाण थोवाणि।
ठाणाणि उत्तरासु असखगुणणाए सेढीए ॥७७॥

शब्दार्थ—**सव्वजहन्नठिईए**—सर्व जघन्य स्थिति मे, **सव्वाण**—सभी,

वि—भी, आउगाण—आयुओ की, थोवाणि—स्तोक अल्प, ठाणाणि—स्थान, उत्तरासु—उत्तर-उत्तर मे, असखगुणणाए—असख्यातगुण, सेढीए—श्रेणि से ।

गाथार्थ—सभी आयुओ की सर्व जघन्य स्थिति मे अल्प स्थान है और उत्तर-उत्तर स्थानो मे असख्यात गुणश्रेणि से होते हैं ।

विशेषार्थ—गाथा मे आयु के स्थितिस्थानो मे रसबधाध्यवसायो का निर्देश करते हुए बताया है कि 'सव्वाण वि आउगाण' अर्थात् सभी चारो आयु के 'सव्वजहन्नठिईए' जघन्य स्थितिस्थान मे रसबधाध्यवसाय थोवाणि-अल्प है। लेकिन वे भी असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण तो हैं ही । इसके पश्चात् समयाधिक स्थितिस्थान मे असख्यातगुणे है। इसी प्रकार उत्तर-उत्तर के स्थितिस्थान मे पूर्व-पूर्व से असख्यातगुणे-असख्यातगुणे स्थान वहाँ तक कहना चाहिये यावत् उत्कृष्ट स्थितिस्थान प्राप्त हो ।

इस प्रकार से आयु कर्म के स्थितिस्थानो मे रसवधाध्यवसायस्थानो का स्वरूप जानना चाहिये ।

अब इन रसवधाध्यवसायस्थानो की तीव्रता-मदता का स्पष्ट ज्ञान करने के लिये रसबध मे हेतुभूत अध्यवसायो की अनुकृष्टि का विचार किस स्थितिस्थान से प्रारम्भ किया जाता है, इसको स्पष्ट करते है ।

अनुकृष्टि प्रारम्भ होने का स्थान

गठीदेसे सन्नी अभव्वजीवस्स जो ठिईबधो ।
ठिइवुड्ढीए तस्स उ बधा अणुकड्ढिओ तत्तो ॥७८॥

शब्दार्थ—गठीदेसे—ग्रन्थिदेशस्थान मे, सन्नी—सज्ञी, अभव्वजीवस्स—अभव्य जीव के, जो—जो, ठिईबधो—स्थितिबध, ठिइवुड्ढीए—स्थिति की वृद्धि मे, तस्स—उसकी, उ—और, अनुक्त की, बधा—वध से, अणुकड्ढिओ—अनुकृष्टि, तत्तो—वहाँ से ।

गाथार्थ—ग्रन्थिदेश मे जो सज्ञी अभव्य जीव स्थित है, उस अभव्य जीव के जो स्थितिबध होता है, उस बध से स्थिति की वृद्धि होने पर अनुकृष्टि प्रारम्भ होती है।

विशेषार्थ—अनुकृष्टि का विचार किस स्थितिस्थान से प्रारम्भ किया जाता है, इसके लिये नियम बताते है कि ग्रन्थिदेश मे विद्यमान सज्ञी पचेन्द्रिय अभव्य जीव को जो जघन्य स्थितिबध होता है, उस जघन्य स्थितिबध से लेकर उत्तर-उत्तर के स्थितिस्थानो मे रसबधाध्यवसायो की अनुकृष्टि का विचार प्रारम्भ किया जाता है तथा गाथोक्त 'तु' शब्द अनुक्त अर्थ का समुच्चय करने वाला होने से यह अर्थ हुआ कि कितनी ही प्रकृतियो का अभव्य को जो स्थितिबध होता है, उससे भी न्यून स्थितिबध से अनुकृष्टि प्रारम्भ होती है।

अनुकृष्टि अर्थात् अध्यवसायो का अनुसरण यानि पूर्व-पूर्व के स्थितिस्थान मे जो-जो रसबधाध्यवसाय होते है, उनमे के अमुक अध्यवसाय उसके बाद के कितने स्थितिस्थान तक होते है, उसका विचार अनुकृष्टि कहलाता है। अनुकृष्टि, अनुकर्षण, अनुवर्तन ये सभी एकार्थक नाम है।

अनुकृष्टि का विचार किस प्रकार से प्रारम्भ किया जाता है, अब इसका नियम सूत्र स्पष्ट करते है।

अनुकृष्टि विचार का नियम सूत्र

वग्गे-वग्गे अणुकड्ढी तिव्वमदत्तणाइ तुल्लाइ।
उवघायघाइपगडी कुवन्नवग असुभवग्गो ॥७६॥

शब्दार्थ—वग्गे-वग्गे—वर्ग-वर्ग मे, अणुकड्ढो—अनुकृष्टि, तिव्वमदत्तणाइ—तीव्रमदता आदि, तुल्लाइ—तुल्य है, उवघाय—उपघातनाम, घाइपगडी—घाति प्रकृतियाँ, कुवन्नवग—अशुभवर्णादिनवक, असुभवग्गो—अशुभवर्ग।

गाथार्थ—वर्ग-वर्ग मे अनुकृष्टि और तीव्र-मदता आदि तुल्य

है। उपघातनाम, घातिकर्म और अशुभवर्णादिनवक यह अशुभ वर्ग है।

विशेषार्थ—वर्ग-वर्ग मे अनुकृष्टि और तीव्रता-मदता का विचार एक जैसा होने से जिन-जिन कर्मप्रकृतियो मे अनुकृष्टि एव तीव्रता-मदता प्राय समान होती है। उन-उनके वर्ग वना लिये जाते हैं। ऐसी प्रकृतियाँ चार वर्गो मे विभाजित है—

(१) अपरावर्तमान अशुभ प्रकृतिवर्ग, (२) अपरावर्तमान शुभ प्रकृतिवर्ग, (३) परावर्तमान शुभ प्रकृतिवर्ग, (४) परावर्तमान अशुभ प्रकृतिवर्ग।

उक्त चार वर्गो मे से उपघातनाम तथा ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणनवक, मिथ्यात्वमोहनीय, सोलह कषाय, नव नोकषाय, अतराय-पचक रूप पैंतालीस घाति प्रकृति और कृष्ण, नील वर्ण, दुरभिगध, कटुक, तिक्त रस, गुरु, कर्कश, शीत, रूक्ष स्पर्श ये अशुभ वर्णादि नवक इस तरह कुल मिलाकर पचपन प्रकृतियाँ पहले अपरावर्तमान अशुभ प्रकृतिवर्ग मे ग्रहण की जाती हैं।

अव अपरावर्तमान शुभ प्रकृतिवर्ग मे ग्रहण की गई प्रकृतियो को वतलाते हैं।

अपरावर्तमान शुभ प्रकृतिवर्ग

> **परघायबधणतणु अग सुवन्नाइ तित्थनिम्माण।**
> **अगुरुलघूसासतिग सघाय छयाल सुभवग्गो ॥८०॥**

शब्दार्थ—परघाय—पराघात, बधण—पन्द्रह बधननामकर्म, तणु—पाँच शरीरनामकर्म, अग—तीन अगोपागनामकर्म, सुवन्नाइ—शुभ वर्ण आदि ग्यारह, तित्थ—तीर्थंकरनाम, निम्माणं—निर्माणनामकर्म, अगरुलघु—अगुरलघुनामकर्म, उसासतिग—उच्छ्वासनामत्रिक, सघाय—पाँच सघातन नाम, छयाल—छियालीस, सुभवग्गो—शुभ वर्ग।

गाथार्थ—पराघातनाम, पन्द्रहबधननाम, पाँच शरीरनाम, तीन अगोपागनाम, शुभ वर्णादि ग्यारह, निर्माणनाम, तीर्थंकर-

नाम, अगुरुलघुनाम, उच्छ्वासनामत्रिक (उच्छ्वास, आतप, उद्योतनाम), पॉच सघातननाम—कुल मिलाकर छियालीस प्रकृतियाँ अपरावर्तमान शुभ प्रकृतिवर्ग मे ग्रहण की जाती है।

विशेषार्थ—अनुकृष्टि के लिये जो प्रकृतियाँ अपरावर्तमान शुभ प्रकृति वर्ग मे ग्रहण की जाती है, उनके नाम गाथा मे गिनाये है। ऐसी प्रकृतियाँ छियालीस है एव ये सभी नामकर्म की है।

अब तीसरे परावर्तमान शुभ प्रकृतिवर्ग मे ग्रहण की गई प्रकृतियो के नाम गिनाते है।

परावर्तमान शुभ प्रकृतिवर्ग

साय थिराइ उच्च सुरमणु दो-दो पणिदि चउरस।
रिसह पसत्थविहगई सोलस परियत्तसुभवग्गो ॥८१॥

शब्दार्थ—**सायं**—सातावेदनीय, **थिराइ**—स्थिरादि षट्क, **उच्च**—उच्चगोत्र, **सुरमणु दो-दो**—देवद्विक, मनुष्यद्विक, **पणिदि**—पचेन्द्रिय जाति, **चउरस**—समचतुरस्रसस्थान, **रिसह**—वज्रऋषभनाराचसहनन, **पसत्थविहगई**—शुभ विहायोगति, **सोलस**—सोलह, **परियत्तसुभवग्गो**—परावर्तमान शुभ प्रकृतिवर्ग।

गाथार्थ—सातावेदनीय, स्थिरादि षट्क (स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश कीर्ति), उच्चगोत्र, देवद्विक, (देवगति, देवानुपूर्वी), मनुष्यद्विक (मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी), पचेन्द्रियजाति, समचतुरस्र-सस्थान, वज्रऋषभनाराचसहनन, शुभ विहायोगति ये सोलह प्रकृतियाँ परावर्तमान शुभ प्रकृतिवर्ग की है।

विशेषार्थ—परावर्तमान शुभ प्रकृति वर्ग नामक तीसरे वर्ग मे जो प्रकृतियाँ ग्रहण की गई है, उनके नाम गाथा मे बतलाये हैं। ये शुभ प्रकृतियाँ अघातिकर्मों की है।

अब चौथे परावर्तमान अशुभ प्रकृतिवर्ग की प्रकृतियो को बतलाते हैं।

परावर्तमान अशुभ प्रकृतिवर्ग

अस्सायथावरदसगनरयदुग विहगगई य अपसत्था ।
पचिदिरिसहचउरसगेयरा असुभघोलणिया ॥८२॥

शब्दार्थ—अस्साय—असातावेदनीय, थावरदसग—स्थावरदशक, नरय-दुग—नरकद्विक, विहगगई—विहायोगति, य—और, अपसत्था—अशुभ, पचि-दिरिसहचउरसगेयरा—पचेन्द्रिय, वज्रऋषभनाराचसहनन और समचतुरस्र-सस्थान से इतर, असुभघोलणिया—परावर्तमान अशुभ प्रकृतियाँ है ।

गाथार्थ—असातावेदनीय, स्थावरदशक (स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दु स्वर, अनादेय, अयश कीर्ति), नरकद्विक (नरकगति, नरकानुपूर्वी), अशुभ विहायोगति, पचेन्द्रिय से इतर आदि की चार जातिया, वज्रऋषभनाराच-सहनन से इतर शेष पॉच सहनन, समचतुरस्रसस्थान से इतर शेप पाच सस्थान ये परावर्तमान अशुभ प्रकृतियॉ है ।

विशेषार्थ—गाथा मे उन प्रकृतियो का सकेत किया गया है जिनका परावर्तमान अशुभ प्रकृति वर्ग मे समावेश होता है । ऐसी प्रकृतियॉ अट्ठाईस है ।

पूर्वाचार्यो ने परावर्तमान प्रकृतियो का घोलनिका यह नामकरण किया है। इसका कारण यह है कि ये प्रकृतियाँ परावर्तनभाव को प्राप्त करके घोलन परिणाम से बधती है ।

इन चार वर्गों मे की प्रकृतियो की परस्पर अनुकृष्टि और तीव्र-मदता समान है । इसीलिये इनके चार वर्ग बनाये है ।

इस प्रकार वर्ग प्ररूपणा करके अब उनमे अनुकृष्टि का विचार प्रारम्भ करते है । उनमे से पहले अशुभ अपरावर्तमान प्रकृतियो की अनुकृष्टि का कथन करते है ।

अशुभ अपरावर्तमान प्रकृतियो की अनुकृष्टि

मोत्तुमसखभाग जहन्न ठिइठाणगाण सेसाणि ।
गच्छति उवरिमाए तदेकदेसेण अन्नाणि ॥८३॥

एव उवरि हुत्ता गंतुणं कंडमेत्त ठिइबंधा ।
पढमठिइठाणाण अणुकड्ढी जाइ परिणिट्ठं ॥८४॥
तदुवरिमआइयासु कमसो बीयाईयाण निट्ठाइ ।
ठिइठाणाणणुकड्ढी आउक्कस्स ठिई जाव ॥८५॥

शब्दार्थ—**मोत्तुमसखभाग**—असख्यातवें भाग को छोडकर, **जहन्न**—जघन्य, **ठिइठाणगाण**—स्थितिस्थानो की, **सेसाणि**—शेष, **गच्छति**—होती है, **उवरिमाए**—ऊपर मे, **तदेकदेसेण**—तदेकदेश, **अन्नाणि**—अन्य ।

एव—इसी प्रकार, **उवरि हुत्ता**—ऊपर की ओर, **गतुण**—जाकर, **कडमेत्त**—कडकमात्र, **ठिइबधा**—स्थितिबधस्थान, **पढमठिइठाणाण**—प्रथम स्थितिस्थानो की, **अणुकड्ढी**—अणुकृष्टि, **जाइ**—होती है, **परिणिट्ठ**—पूर्ण ।

तदुवरिमआइयासु—उससे ऊपर के स्थानो आदि मे, **कमसो**—क्रमश, **बीयाइयाण**—द्वितीय आदि की, **निट्ठाइ**—पूर्ण होती हैं, **ठिइठाणाणणुकड्ढी**—स्थितिस्थानो की अनुकृष्टि, **आउक्कस्स**—उत्कृष्ट स्थिति, **जाव**—यावत्-तक ।

गाथार्थ—जघन्य स्थितिस्थान सम्बन्धी रसबधाध्यवसायो के असख्यातवे भाग को छोडकर शेष सब ऊपर की स्थिति मे जाते है तथा उनका एकदेश और अन्य होता है ।

इस प्रकार ऊपर पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थितिस्थानो के जाने पर प्रथम स्थितिस्थान सम्बन्धी रसबधाध्यवसायो की अनुकृष्टि पूर्ण होती है ।

तत्पश्चात् उसके ऊपर ऊपर के स्थितिस्थानो मे अनुक्रम से द्वितीयादि स्थितिस्थानो की अनुकृष्टि पूर्ण होती है । इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त जानना चाहिये ।

विशेपार्थ—इन तीन गाथाओ मे अपरावर्तमान अशुभ प्रकृतियो की अनुकृष्टि का विचार किया गया है कि '**मोत्तुमसखभाग**' अर्थात् उपघातनाम आदि पचपन अपरावर्तमान अशुभ प्रकृतियो की जघन्य स्थिति बाँधते हुए रसबध के निमित्तभूत जो अध्यवसाय है, उनके प्रारम्भ का असख्यातवा भाग छोडकर शेप सभी रसबंधाध्यवसाय दूसरे स्थितिस्थान मे होते हैं । यानि प्रारम्भ से असख्यातवा भाग

छोडकर शेष रहे जिन अध्यवसायो से जैसा रस जघन्य स्थिति को बाधते हुए बधता था, वैसा रस समयाधिक द्वितीय स्थिति को बाधते हुए भी बधता है। अन्यत्र भी इसी प्रकार से समझना चाहिये। पहले स्थितिस्थान में जो रसबधाध्यवसाय होते है, उनसे दूसरे स्थितिस्थान मे विशेषाधिक होते है। उनसे तीसरे में विशेषाधिक होते है।

इस प्रकार प्रत्येक स्थितिस्थान मे रसबधाध्यवसाय बढते जाते है।

यहाँ अनुकृष्टि में पहले स्थितिस्थान सम्बन्धी रसवधाध्यवसायो का असख्यातवा भाग छोडकर शेष स्थान ऊपर की ओर बढे और वे पहले से अधिक है, उनकी पूर्ति नवीन अध्यवसायो से होती है। यानि पहले स्थितिस्थान मे जो रसबधाध्यवसाय है उनका असख्यातवा भाग छोडकर शेष सभी तथा उनके ही एक देश मे जितने आते है, उतने दूसरे नये रसबधाध्यवसाय दूसरे स्थितिस्थान मे होते है। नये इतने बढना चाहिये कि वे पहले स्थितिस्थानगत रसबधाध्यवसायो से कुल मिलाकर दूसरे स्थितिस्थान मे अधिक हो।

इसको एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते है—मानलो कि पहले स्थान मे सौ रसबधाध्यवसाय है, दूसरे मे एक सौ पाँच तो पहले मे के आदि के पाँच को छोडकर पचानवे की दूसरे स्थान में अनुकृष्टि हुई परन्तु उसमे एक सौ पाँच है, यानि कि दस नये होते हैं। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये।

दूसरा स्थितिस्थान बाँधते हुए जो अनुभाग वधाध्यवसाय है, उनका असख्यातवा भाग छोडकर शेप सभी तीसरा स्थितिस्थान बाधते होते है और दूसरे नये होते है। तीसरा स्थितिस्थान बाधते जो रसबधाध्यवसाय होते हैं, उनके आदि का असख्यातवा भाग छोडकर बाकी के सभी चौथा स्थितिस्थान बाधते होते है और दूसरे नये होते है। इस प्रकार वहा तक कहना चाहिये यावत् पल्योपम के असख्यातवे भाग मे रहे हुए समय प्रमाण स्थितिस्थान होते है।

जघन्य स्थिति को बाधते जो रसवध के अध्यवसाय थे, यहाँ उनकी अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है। अर्थात् जघन्य स्थितिबंध करने

पर जो रसबधाध्यवसाय थे, वे पल्योपम के असख्यातवे भाग के समय प्रमाण स्थितिस्थानो तक पहुँचे। उसके बाद के स्थितिस्थान मे जघन्य स्थिति सम्बन्धी रसबधाध्यवसायो मे का एक भी स्थान नही होता है। इसी प्रकार से प्रत्येक स्थितिस्थान सम्बन्धी रसबधाध्यवसाय का अनुसरण पल्योपम के असख्यातवे भाग के स्थितिस्थानो पर्यन्त ही होता है।

उक्त प्रकार से प्रत्येक स्थितिस्थान सम्बन्धी रसबधाध्यवसायो का असख्यातवा-असख्यातवा भाग छोडकर शेष सभी ऊपर-ऊपर के स्थितिस्थान मे जाते है और प्रत्येक स्थान की अनुकृष्टि के पल्योपम के असख्यातवे भाग के समय पर्यन्त ही होती है।

इस प्रकार जघन्य स्थितिबधभावी रसबधाध्यवसाय की अनुकृष्टि पल्योपम के असख्यातवे भाग के समय प्रमाण स्थितिस्थानो तक हुई। पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थितिस्थानो मे के अतिम स्थान मे पहले स्थान के कितनेक रसबधाध्यवसाय आये, किन्तु उससे ऊपर के स्थान मे नही आते है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि पहला स्थितिस्थान बाधते हुए रसबध के योग्य जिन-जिन अध्यवसायो से जैसा-जैसा रस बधता था वे-वे अध्यवसाय जहाँ तक पहुँचे उनसे वहाँ-वहाँ वैसा-वैसा रसबध होता है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये।

जघन्य स्थितिस्थान के रसबधाध्यवसायो की अनुकृष्टि कडक अर्थात् पल्योपम के असख्यातवे भाग मे जितने समय होते है, उतने स्थान पर्यन्त होती है। दूसरे, तीसरे, आदि स्थितिस्थान सबधी रसबध के अध्यवसायो की अनुकृष्टि कडक के ऊपर-ऊपर के समय पर्यन्त जाती है। इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त जानना चाहिये।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि जघन्यबध करने पर रसबध के हेतुभूत जो अध्यवसाय थे उनका प्रत्येक स्थितिस्थान मे प्रारम्भ से ही असख्यातवा भाग छूटते-छूटते उनकी अनुकृष्टि कडक—पल्योपम के असख्यातवे भाग के समय प्रमाण स्थान पर्यन्त हुई। इसी प्रकार

जघन्य स्थितिस्थान के वाद का दूसरा स्थितिस्थान बाँधने पर जितने रसबधाध्यवसाय होते है, उनमे का असख्यातवा भाग प्रत्येक स्थिति-स्थान मे छूटते-छूटते उनकी अनुकृष्टि कडक प्रमाण स्थान से ऊपर के स्थान मे समाप्त होती है। इसी प्रकार तृतीय स्थितिबध के आरम्भ में रहे हुए रसवधाध्यवसायो की अनुकृष्टि कडक के वाद के दूसरे समय मे समाप्त होती है। इस तरह अनुकृष्टि और उसकी समाप्ति वहा तक कहना चाहिये यावत् पूर्व मे कही गई अपरावर्तमान अशुभ प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति हो।

किसी भी स्थितिस्थान मे विद्यमान रसबधाध्यवसायो की अनुकृष्टि उस स्थान से लेकर कडक यानि पल्योपम के असख्यातवे भाग के समय प्रमाण स्थितिस्थान पर्यन्त ही होती है और क्रमश कम-कम होते-होते वहाँ तक वे अध्यवसाय अनुसरण करते है। किसी भी स्थितिस्थान में के रसवधाध्यवसाय को जघन्य से उत्कृष्ट पर्यन्त स्थापित करना, उनमे प्रारम्भ से ही पल्योपम के असख्यातवे भाग के समय प्रमाण न्यून शेप रसबधाध्यवसाय ऊपर के स्थान मे जाते है, यह समझना चाहिये। जैसे कि असत्कल्पना से पहले स्थान मे एक हजार अध्यवसाय है, उनमे का असख्यातवा भाग प्रमाण यानि एक से दस तक कम होकर ग्यारह से हजार तक के अध्यवसाय ऊपर के स्थान मे जाते है।

इस प्रकार से अपरावर्तमान अशुभ प्रकृतियो की अनुकृष्टि का विचार जानना चाहिये। अव अपरावर्तमान शुभ प्रकृतियो की अनु-कृष्टि का कथन करते है।

अपरावर्तमान शुभ प्रकृतियो की अनुकृष्टि

उवघायाईणेव एसा परघायमाइसु विसेसो।
उक्कोसठिइहितो हेट्ठमुह कीरइ असेसं ॥८६॥

शब्दार्थ—**उवघायाईणेव**—उपघात आदि की इसी प्रकार, **एसा**—यह पूर्व मे कही गई, वह, **परघायमाइसु**—पराघात आदि मे, **विसेसो**—विशेष है,

यहाँ पल्योपम के असख्यातवे भाग के अतिम समय मे उत्कृष्ट स्थितिबध के आरम्भ मे रहे हुए रसबधाध्यवसायो की अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है। फिर उससे नीचे के स्थितिस्थान में समयोन उत्कृष्ट स्थितिबधारभभावी रसबधाध्यवसाय की अनुकृष्टि समाप्त होती है, उसके नीचे के स्थितिस्थान मे दो समयन्यून उत्कृष्ट स्थिति-बधारभभावी रसबधाध्यवसाय की अनुकृष्टि समाप्त होती है। इस प्रकार अनुकृष्टि और समाप्ति वहाँ तक कहना चाहिये, यावत् परा-घात आदि छियालीस अपरावर्तमान शुभ प्रकृतियो की अपनी-अपनी जघन्य स्थिति प्राप्त होती है। अथवा इस प्रकार से पराघात आदि छियालीस प्रकृतियो की अनुकृष्टि और समाप्ति अपनी-अपनी जघन्य स्थिति पर्यन्त कहना चाहिये।

इस प्रकार से अपरावर्तमान अशुभ और शुभ प्रकृतियो की अनु-कृष्टि का विचार करने के पश्चात् अब परावर्तमान शुभ और अशुभ प्रकृतियो की अनुकृष्टि का कथन करते है।

परावर्तमान शुभ-अशुभ प्रकृतियो की अनुकृष्टि—

सप्पडिवक्खाण पुण असायसायाइयाण पगईणं।
ठावेसु ठिइठाणा अतोकोडाइ नियनियगा ॥८७॥
जा पडिवक्खक्कता ठिईओ ताण कमो इमो होइ।
ताणन्नाणिय ठाणा सुद्धठिईणं तु पुव्वकमो ॥८८॥
मोत्तूण नीयमियरासुभाण जो जो जहन्नठिइबधो।
नियपडिवक्खसुभाण ठावेयव्वो जहन्नयरो ॥८९॥

शब्दार्थ—सप्पडिवक्खाण—सप्रतिपक्षा, पुण—फिर, असायसायाइयाण—असाता और साता वेदनीय आदि, पगईण—प्रकृतियो के, ठावेसु—स्थापित करना, ठिइठाणा—स्थितिस्थान, अतोकोडाइ—अन्त कोडाकोडी आदि, निय-नियगा—अपने-अपने।

जा—जो, **पडिवक्खक्कता**—प्रतिपक्ष से आक्रान्त हैं, **ठिईओ**—स्थितिया, **ताण**—उनका, **कमो**—क्रम, **इमो**—यह, **होइ**—होता है, **ताणन्नाणिय**—वही और अन्य, **ठाणा**—स्थान, **सुद्धठिईण**—शुद्ध स्थितियो का, **तु**—और, **पुव्वकमो**—पूर्वोक्त क्रम।

मोत्तूण—छोडकर, **नीय**—नीच गोत्र के, **इयरासुभाण**—इतर अशुभ प्रकृतियो का, **जो-जो**—जो-जो, **जहन्नठिइबधो**—जघन्य स्थितिबध, **नियपडिवक्खसुभाण**—अपनी प्रतिपक्ष शुभ प्रकृतियो का, **ठावेयव्वो**—स्थापित करना चाहिये, **जहन्नयरो**—जघन्यतर।

गाथार्थ—सप्रतिपक्ष असाता और साता वेदनीय आदि प्रकृतियो के अन्त कोडाकोडी आदि अपने-अपने स्थितिस्थान स्थापित कर फिर उनकी अनुकृष्टि का कथन करना चाहिये।

जो स्थितिया प्रतिपक्ष से आक्रात है, उनमे वही और अन्य यह क्रम है और शुद्ध स्थितियो का पूर्वोक्त क्रम है।

नीच गोत्र को छोडकर इतर अशुभ प्रकृतियो का जो-जो जघन्य स्थितिबध होता है, उनसे भी जघन्यतर स्थितिबध उनकी अपनी प्रतिपक्षभूत शुभ प्रकृतियो का स्थापित करना चाहिये।

विशेषार्थ—इन तीन गाथाओ मे परावर्तमान प्रकृतियो की अनुकृष्टि की प्रक्रिया का निर्देश किया है।

परावर्तमान प्रकृतियो की और पूर्वोक्त अपरावर्तमान प्रकृतियो की अनुकृष्टि मे कुछ अन्तर है और वह इस प्रकार कि–प्रतिपक्ष वाली जो प्रकृतियाँ होती है वे सप्रतिपक्षा कहलाती है, जैसे कि साता-असाता आदि। उन परस्पर विरोधी साता-असाता वेदनीय आदि प्रकृतियो के अन्त कोडाकोडी से लेकर स्थितिस्थान स्थापित करना चाहिये। इसका कारण यह है कि अभव्य का जघन्य स्थितिबध अन्त कोडाकोडी प्रमाण है और अभव्य के जघन्य स्थितिबध से लेकर प्राय अनुकृष्टि प्रारभ होती है। इसीलिये यहाँ स्थापना मे अन्त कोडाकोटी आदि स्थान स्थापित करने का सकेत किया है।

इस प्रकार स्थापित करके सातावेदनीय के उत्कृष्ट स्थितिस्थान से प्रारभ कर अधोमुखी क्रम से और असातावेदनीय की अत कोडा-कोडी प्रमाण स्थान से प्रारभ कर ऊर्ध्वमुखी क्रम से अनेक सैकडो सागरोपम प्रमाण स्थितिस्थान परस्पर आक्रात होते है। क्योकि इतने स्थितिस्थान परावर्तमान परिणामो से बधते है, यानि इतने स्थानो मे साता-असाता वेदनीय एक के बाद एक इस क्रम से अदल-बदल कर बधती है। बाकी के सातावेदनीय के नीचे अधोमुख से और असाता के ऊपर ऊर्ध्वमुख से अपनी-अपनी चरम स्थिति पर्यन्त स्थितिस्थान स्थापित करना चाहिये। ये सभी स्थान बाधते हुए प्रति-पक्ष प्रकृतियो के बध का अभाव होने से विशुद्धि और सक्लेश के वश वे अकेले ही बधते रहते है, इसीलिये वे शुद्ध कहलाते है।

इसका तात्पर्य यह है कि छठवे गुणस्थान मे असातावेदनीय की कम से कम जो अन्त कोडाकोडी प्रमाण स्थिति बधती है, वहा से लेकर उत्कृष्ट पन्द्रह कोडाकोडी प्रमाण स्थितिबध पर्यन्त के स्थिति-स्थानो मे साता-असाता वेदनीय अदल-बदल कर बधती रहती है। उतने स्थानो मे साता भी बध सकती है और असाता भी बध सकती हे। इसीलिये वे परस्पर आक्रात स्थिति कहलाती है। साता को दबा-कर असाता बध सकती हे और असाता को दबाकर साता बध सकती है। समयाधिक पन्द्रह कोडाकोडी से लेकर तीस कोडाकोडी प्रमाण के स्थितिबध पर्यन्त अकेली असाता ही बधती है, यानि वह शुद्ध कह-लाती है। उन स्थानो का बध होने पर सातावेदनीय नही बधती है। छठवे गुणस्थान मे असातावेदनीय की अत.कोडाकोडी प्रमाण जो जघन्य स्थिति बधती है, समयन्यून उस अत कोडाकोडी से लेकर साता के जघन्य स्थितिबध पर्यन्त अकेली साता ही बधती है। उन स्थानो मे असातावेदनीय बधती ही नही हे, इसीलिये उसे शुद्ध कहते हे।

अब यह स्पष्ट करते है कि जितनी स्थितिया परस्पर आक्रात है,

तथा जितनी स्थिति शुद्ध बधती है, उनकी अनुकृष्टि मे क्या तारतम्य है ?

छठे गुणस्थान मे असातावेदनीय की जो अत कोडाकोडी प्रमाण जघन्य स्थिति बधती है, वहा से लेकर पन्द्रह कोडाकोडी पर्यन्त साता और असाता वेदनीय की सभी स्थितिया परस्पर आक्रात है। उतने स्थितिस्थानो की अनुकृष्टि आगे कहे जा रहे क्रमानुसार जानना चाहिये तथा जो शुद्ध विरोधी प्रकृतियो से अनाक्रात-स्थितिया हैं उनमे पराघात तथा उपघात आदि मे जो क्रम बतलाया है, तदनुसार जानना चाहिये। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

सातावेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति को बाधने पर रसबध के जो अध्यवसाय होते है, वे सभी समयन्यून उत्कृष्ट स्थिति का वध करते हुए भी होते है तथा और दूसरे नवीन होते हैं। दूसरे नवीन होने का कारण यह कि प्रति स्थितिस्थान मे रसवधाध्यवसाय वढते जाते है। समयन्यून उत्कृष्ट स्थिति के वाधने पर जो रस-वधाध्यवसाय होते हैं वे सभी दो समयन्यून उत्कृष्ट स्थिति वाधते हुए भी होते है तथा अन्य दूसरे नवीन भी होते है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व स्थान मे जो-जो अध्यवसाय होते है, वे सभी उत्तरोत्तर स्थान मे वहा तक अनुसरण करते है कि छठे गुणस्थान मे असाता की जितनी जघन्य स्थिति वधती है, वह स्थितिस्थान प्राप्त हो। इसका कारण यह है कि स्थापना मे वहा तक की स्थितिया परस्पर आक्रात कही गई हैं। क्योकि वे परावर्तमान परिणाम से वधती है।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि जघन्य रसवध के योग्य जितनी असाता की स्थितिया साता के साथ परावर्तन को प्राप्त करके वधती है, उतनी आक्रात स्थितियो मे 'वे और अन्य' अर्थात् पूर्व स्थितिस्थान मे जो रसवधाध्यवसाय है वे और दूसरे नये का क्रम प्रवर्तित होता है।

इसके बाद के शुद्ध स्थानो मे जो क्रम प्रवर्तित होता है, अब उसको स्पष्ट करते है कि असाता की अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबध के तुल्य साता को स्थिति बाँधते हुए जो रसबधाध्यवसाय होते है, उनका असख्यातवा भाग छोडकर शेप सब साता के जघन्य बधस्थान से नीचे के कि जहा केवल सातावेदनीय का ही बध होता है, उस स्थितिस्थान मे होते है और दूसरे नवीन होते हैं। उस स्थान मे जो रसबधाध्यवसाय है, उनका असख्यातवा भाग छोडकर शेप सब उससे नीचे के स्थान मे होते है और दूसरे नवीन होते है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व स्थान मे जो-जो रस बधाध्यवसाय होते है, उनका असख्यातवा-असख्यातवा भाग प्रति स्थितिस्थान मे कम-कम करते हुए वहा तक कहना चाहिये कि पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थितिया जाये।

पल्योपम के असख्यातवे भाग के अतिम समय मे असाता के जघन्य स्थितिबध जितने साता के जघन्य स्थितिबध मे के रसबधाध्यवसाय की अनुकृष्टि समाप्त होती है, उससे नीचे के स्थान मे असाता के जघन्य स्थितिबध तुल्य स्थितिस्थान से नीचे के स्थान के रसबधाध्यवसाय की यानि जिस स्थितिस्थान मे शुद्ध साता ही बधती है, उस स्थान के रसबधाध्यवसाय की अनुकृष्टि समाप्त होती है। इस प्रकार अनुकृष्टि और समाप्ति वहा तक कहना चाहिये कि साता की जघन्य स्थिति प्राप्त हो।

इसी क्रम मे स्थिरनामकर्म आदि परावर्तमान शुभ प्रकृतियो की अनुकृष्टि जानना चाहिये।

अब असातावेदनीय की अनुकृष्टि कहते है। साता के साथ परावर्तमान परिणाम मे छठे गुणस्थान मे असाता की जो जघन्य स्थिति बधती है, उसको बाधते हुए जो रसबधाध्यवसाय होते है, वे सभी समयाधिक स्थिति बाधते हुए होते है तथा अन्य नवीन भी होते है। समयाधिक स्थिति बाधते हुए जो अध्यवसाय होते है, वे सभी दो समयाधिक स्थिति बाधते हुए होते है तथा अन्य दूसरे नवीन भी होते

है। इस प्रकार से पूर्व-पूर्व स्थान मे जिस-जिस स्वरूप वाले रसबधाध्यवसाय होते है, वे ही उत्तरोत्तर स्थान मे अनुसरित होते जाते है, और दूसरे नवीन भी होते है। इस प्रकार वहा तक कहना चाहिये यावत् बहुत से सैकडो सागरोपम प्रमाण स्थितिस्थान होते है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वे और अन्य इस क्रम से छठे गुणस्थान मे बधती जघन्य स्थिति से लेकर पन्द्रह कोडा-कोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति पर्यन्त कहना चाहिये। क्योकि उतनी स्थितिया आक्रात है। साता-वेदनीय के साथ परावर्तमान परिणाम से बधती है।

समयाधिक पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम से लेकर सिर्फ अकेली असाता ही बधती है, इसलिये उसका क्रम उपघातादि के लिये जैसा कहा है, वह है। अन्त कोडाकोडी से लेकर पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थितिस्थान सर्वजघन्य रसबन्ध के भी योग्य होते है। क्योकि साता के साथ परावर्तमान को प्राप्त करके बँधते है। परावर्तमान परिणामी आत्मा मन्द परिणामी होती है जिससे उपर्युक्त स्थितियो मे वर्तमान आत्मा मन्द रस बाध सकती है।

जघन्य रसबध के योग्य स्थितियो का चरम स्थितिबध मे यानि पन्द्रहवी कोडाकोडी के चरम समय मे रसबन्ध के हेतुभूत जो अध्यवसाय होते हैं, उनका असख्यातवा भाग छोडकर शेष सब ऊपर के समयाधिक पन्द्रह कोडाकोडी सागर प्रमाण स्थितिस्थान बाँधते हुए होते है और अन्य नवीन भी होते है। समयाधिक पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम स्थिति बाँधते हुए जो रसबन्धाध्यवसाय है उनका असख्यातवा भाग छोडकर शेप सब दो समयाधिक प्रमाण स्थितिस्थान बाधते हुए होते है और दूसरे नवीन भी होते हैं। इस प्रकार पूर्व-पूर्व स्थितिस्थान सम्बन्धी रस बन्धाध्यवसायो का असख्यातवा-असख्यातवा भाग छोडते-छोडते वहाँ तक कहना चाहिये कि कडक—पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थितिस्थान जाये। यहाँ जघन्य रसबध योग्य चरम स्थिति—पन्द्रहवी कोडाकोडी प्रमाण स्थितिस्थान के रसबन्धाध्यवसाय की अनुकृष्टि समाप्त हुई। इस प्रकार अनुकृष्टि

और समाप्ति असाता की उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त कहना चाहिये।

स्थावरदशक नरकद्विक आदि कुल मिलाकर परावर्तमान सत्ताईस अशुभ प्रकृतियो की अनुकृष्टि इसी प्रकार से कहना चाहिये।

स्थापना मे अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबन्ध पर्यन्त अनुकृष्टि का विचार करने के लिए सकेत किया है। उसके अन्दर जो विशेष है, अब उसको स्पष्ट करते है कि—

'मोत्तूण नीयमियरासुभाण' इस गाथाश मे ग्रहण किया गया नीचगोत्र यह अन्य प्रकृतियो का उपलक्षण सूचक होने से तिर्यचद्विक का भी ग्रहण करना चाहिये। अतएव तिर्यचद्विक और नीच गोत्र को छोडकर शेप असातावेदनीय आदि परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो का जो अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबन्ध स्थापना मे स्थापित किया है, उससे भी अल्प स्थितिवन्ध उनकी अपनी-अपनी प्रतिपक्ष सातावेदनीय आदि शुभ प्रकृतियो की अनुकृष्टि अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबन्ध से अल्प स्थितिवन्ध तक जाती है। क्योकि छठे गुणस्थान मे असातावेदनीय का जो जघन्य स्थितिबन्ध होता है उस जघन्य स्थितिबन्ध से तो साता के साथ परावर्तमान भाव प्राप्त करता है वहाँ से तो 'वह और अन्य' इस क्रम से अनुकृष्टि होती है परन्तु जिस परिणाम से छठे गुणस्थान मे असाता का जघन्य स्थितिबन्ध होता है, उससे भी शुभ परिणाम मे जब अकेली साता का ही बन्ध होता है, वहाँ 'तदेकदेश और अन्य' इस क्रम से अनुकृष्टि होती है। अत अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबन्ध से भी कम स्थितिबन्ध स्थापना मे स्थापित करना चाहिए, यह कहा है।

इस प्रकार अपरावर्तमान अशुभ-शुभ परावर्तमान शुभ-अशुभ इन चारो वर्गो की अनुकृष्टि की प्ररूपणा जानना चाहिये।[1] अब तिर्यचद्विक और नीचगोत्र की अनुकृष्टि का विचार करते है।

---

१ इन चारो वर्गो की अनुकृष्टि को असत्कल्पना द्वारा स्पष्ट करने के प्रारूप परिशिष्ट मे देखिये।

क्योकि इन प्रकृतियो का चारो वर्गो मे से किसी भी वर्ग मे समावेश नही किया गया है तथा उक्त वर्गो की अनुकृष्टि से इन प्रकृतियो की अनुकृष्टि मे तारतम्य है।

तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र की अनुकृष्टि—

पडिवक्खजहन्नयरो तिरिदुगनीयाण सत्तममहीए।
सम्मत्तादीए तओ अणुकड्ढी उभयवग्गेसु ॥९०॥

शब्दार्थ—**पडिवक्खजहन्नयरो**—प्रतिपक्ष प्रकृतियो से भी जघन्यतर, **तिरिदुगनीयाण**—तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र की, **सत्तममहीए**—सातवी नरक-पृथ्वी मे, **सम्मत्तादीए**—सम्यक्त्व उत्पन्न होने के पहले समय मे, **तओ**—उससे, **अणुकड्ढी**—अनुकृष्टि, **उभयवग्गेसु**—दोनो वर्ग की।

गाथार्थ—सातवी नरकपृथ्वी मे सम्यक्त्व उत्पन्न होने के पहले समय मे जो जघन्य स्थितिवन्ध होता है, वहाँ से तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र की अनुकृष्टि प्रारम्भ करना चाहिये और स्थापना मे प्रतिपक्ष प्रकृतियो से भी जघन्यतर स्थितिबन्ध स्थापित करना चाहिये, तत्पश्चात् उभय वर्ग की अनुकृष्टि परावर्तमान शुभाशुभ प्रकृतियो के अनुरूप कहना चाहिये।

विशेषार्थ—गाथा मे तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र की अनुकृष्टि की विधि का निर्देश किया है कि अभव्यप्रायोग्य जो जघन्य स्थितिवन्ध होता है, उससे भी तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र का अल्प स्थितिवन्ध सातवी नरकपृथ्वी के नारक को सम्यक्त्व उत्पन्न करते हुए अनिवृत्ति-करण के चरम समय मे होता है। सातवी नरक-पृथ्वी के नारको को जव तक पहला गुणस्थान होता है, तव तक भव-स्वभाव से तिर्यंच-द्विक और नीचगोत्र ही वधता रहता है, जवकि दूसरे सभी जीव सम्यक्त्व प्राप्त करते हुए शुभ परिणामो से परावर्तमान शुभ प्रकृतियो को ही वाँधते हैं। इसलिए इन तीन प्रकृतियो की अनुकृष्टि की शुरु-आत जिस समय उनको सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, उससे पहले के समय मे जो जघन्य स्थितिवन्ध होता है वहाँ से आरम्भ कर अभव्य-

प्रायोग्य जो जघन्य स्थिति बँधती है, वहाँ तक 'तदेकदेश और अन्य' इस क्रम से अनुकृष्टि का कथन करना चाहिये, उसके बाद से आरम्भ कर मनुष्यद्विक और उच्च गोत्र ये शुभ प्रकृति तथा तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र ये अशुभ प्रकृति इन दोनो वर्गों की अनुकृष्टि शुभाशुभ परावर्तमान प्रकृतियो के वर्ग की तरह कहना चाहिये।

विशदता के साथ जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

मनुष्यगति आदि शुभ प्रकृतियो की अनुकृष्टि का कथन तो पूर्व मे किया जा चुका है। यहाँ तिर्यंचद्विक और नीच गोत्र की अनुकृष्टि को कहते है—सातवी नरकपृथ्वी मे वर्तमान नारक के जिस समय सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, उससे पहले के समय मे तिर्यंचगति की जघन्य स्थिति बाँधते जो रसबन्ध के हेतुभूत अध्यवसाय है उनका असख्यातवा भाग छोडकर शेष सब समयाधिक जघन्य स्थिति बाँधते भी होते है तथा अन्य दूसरे नवीन भी होते है। समयाधिक जघन्य स्थिति बाँधते जो रसबन्धाध्यवसाय होते है, उनका असख्यातवाँ भाग छोडकर शेप सब दो समयाधिक जघन्य स्थिति बाँधते हुए होते हैं तथा अन्य दूसरे भी नवीन होते है। इस प्रकार वहाँ तक कहना चाहिये यावत् पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थितिस्थान हो।

पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थितिस्थानो मे के अतिम स्थितिस्थान मे जघन्य स्थितिबध सम्बन्धी रसबधाध्यवसाय की अनुकृष्टि समाप्त होती है। उसके बाद के स्थितिस्थान मे समयाधिक जघन्य स्थितिबध सबधी अध्यवसायो की अनुकृष्टि समाप्त होती है। उसके अनन्तरवर्ती स्थान मे दो समयाधिक जघन्य स्थितिबध सम्बन्धी अध्यवसायो की अनुकृष्टि समाप्त होती है। इस प्रकार वहाँ तक कहना चाहिये यावत् अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबध प्राप्त हो।

अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबध करने पर जो रसबध के अध्यवसाय होते है, वे सभी समयाधिक अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबध करने पर होते है तथा दूसरे नवीन भी होते है। समयाधिक

अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिवध मे जो अध्यवसाय है, वे सभी दो समयाधिक जघन्य स्थिति बाँधते हुए होते है तथा दूसरे नवीन भी होते है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व स्थान मे जो-जो रस रसवधाध्यवसाय है—वे-वे सभी और दूसरे नवीन ऊपर-ऊपर के स्थितिवध मे होते है, इस तरह सैकडो सागरोपम प्रमाण स्थितिवध पर्यन्त कहना चाहिये। यानि जितने स्थितिस्थान प्रतिपक्ष प्रकृतियो के साथ परावर्तमान परिणाम से वधते है, उतने स्थितिस्थान पर्यन्त कहना चाहिये।

जैसे कि नीचगोत्र दस कोडाकोडी सागर पर्यन्त उच्चगोत्र के साथ परावर्तमान परिणाम से वधता है और तिर्यंचद्विक पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम पर्यन्त मनुष्यद्विक के साथ परावर्तमान परिणाम से वधता है, जिससे वहाँ तक 'वह और अन्य' इस क्रम से अध्यवसायो की अनुकृष्टि कहना चाहिये। तत्पश्चात् यानि शतपृथक्त्व—अनेक सैकडो सागरोपम की चरम स्थिति मे जो रसवध के अध्यवसाय हैं, उनका असख्यातवा भाग छोडकर शेष सभी समयाधिक ऊपर के स्थितिस्थान मे जाते है तथा दूसरे नवीन भी होते है। उस स्थितिस्थान मे जो रसवधाध्यवसाय होते हैं, उनका असख्यातवा भाग छोडकर शेप सभी उससे ऊपर के स्थितिस्थान मे होते है तथा दूसरे नवीन भी होते हैं। इस प्रकार पल्योपम के असख्यातवे भाग के समय प्रमाण स्थितिस्थान पर्यन्त कहना चाहिये।

उस स्थितिस्थान मे शतपृथक्त्व सागरोपम की चरम स्थिति सवधी अध्यवसायो की अनुकृष्टि समाप्त होती है। उसके बाद के स्थितिस्थान मे समयाधिक शतपृथक्त्व सागरोपम सम्बन्धी अध्यवसायो की अनुकृष्टि समाप्त होती है। इस प्रकार वहाँ तक कहना चाहिये कि उन-उन प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थितिस्थान प्राप्त हो।

इसी प्रकार तिर्यचानुपूर्वी और नीचगोत्र की भी अनुकृष्टि समझना चाहिये।[1]

---

१ नीचगोत्रादि की अनुकृष्टि का आशय सुगमता से जानने के लिये स्पष्टीकरण और प्रारूप परिशिष्ट मे देखिये।

अब त्रसचतुष्क की अनुकृष्टि का कथन करते है।

त्रसचतुष्क की अनुकृष्टि एवं कंडक स्वरूप

अट्ठारस कोडीओ परघायकमेण तसचउक्केवि।
कंड निव्वत्तणकंडकं च पल्लस्ससंखसो ॥९१॥

शब्दार्थ—अट्ठारस कोडीओ—अठारह कोडाकोडी तक परघायकमेण—पराघात के क्रम मे, तसचउक्केवि—त्रसचतुष्क की भी, कंड—कंडक, निव्वत्तण कंडक—निर्वर्तन कंडक, च—और, पल्लस्ससंखसो—पल्य का असंख्यातवा भाग।

गाथार्थ—अठारह कोडाकोडी तक पराघात के क्रम से त्रसचतुष्क की अनुकृष्टि कहना चाहिये। पल्य के असंख्यातवे भागगत समयप्रमाण संख्या का कंडक अथवा निर्वर्तन कंडक नाम है।

विशेषार्थ—गाथा मे त्रसचतुष्क की अनुकृष्टि प्ररूपणा करते हुए कंडक—निर्वर्तन कंडक का स्वरूप बतलाया है। पहले त्रसचतुष्क की अनुकृष्टि का निर्देश करते है—

त्रसचतुष्क मे बीस कोडाकोडी सागरोपम के स्थितिस्थान से लेकर नीचे अठारह कोडाकोडी सागरोपम के स्थितिस्थान तक अनुकृष्टि पराघात के समान कहना चाहिये और स्थावर के साथ परावर्तन परिणाम से जिस स्थितिस्थान से बन्ध प्रारम्भ होता है, उस स्थितिस्थान से साता की तरह अनुकृष्टि कहना चाहिये। अर्थात् अठारहवी कोडाकोडी के अन्तिम समय मे साता की तरह अनुकृष्टि कहना चाहिये। जिसका आशय यह है कि त्रसचतुष्क की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है और उसके प्रतिपक्षभूत सूक्ष्मत्रिक की उत्कृष्ट स्थिति अठारह कोडाकोडी सागरोपम की है, जिससे बीस से अठारह कोडाकोडी तक के बादरत्रिक के स्थितिस्थान शुद्ध है। क्योंकि वे प्रतिपक्ष प्रकृति के साथ परावृत्ति मे वर्तते नही है और त्रस की प्रतिपक्षी स्थावर नामकर्म की उत्कृष्ट स्थिति त्रस के समान बीस कोडाकोडी होने पर भी त्रसनामकर्म की बीस से अठारह

कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति ईशान तक के देवो को छोडकर शेष चार गति के जीव यथासभव बाँधते हैं तव स्थावर की अठारह कोडाकोडी से बीस कोडाकोडी तक की स्थिति मात्र ईशान तक के देव ही बाधते हैं, इसलिए त्रस और स्थावर दोनो के वीस से अठारह कोडाकोडी तक के स्थितिस्थान अनाक्रात (शुद्ध) होते हैं और अठारह कोडाकोडी सागरोपम से नीचे के स्थावर नामकर्म की अभव्य-प्रायोग्य जघन्य स्थिति तक के स्थितिस्थान नारक के सिवाय तीन गति के जीव परावर्तन परिणाम से बाँधते हैं। जिससे इतने ही स्थिति-स्थान आक्रात होते है।

अब उक्त कथन के आधार से त्रसनामकर्म की अनुकृष्टि कहते है कि त्रसनामकर्म की उत्कृष्ट स्थिति वाँधते जो अनुभाग वन्ध के अध्यवसायस्थान होते है उनका असख्यातवा भाग छोडकर शेष सभी समयोन उत्कृष्ट स्थिति बॉधते होते हैं तथा दूसरे नवीन भी होते हैं। समयोन उत्कृष्ट स्थिति वाँधते जो रसवन्ध के अध्यवसाय होते हैं, उनका असख्यातवा भाग छोडकर शेष सभी दो समय न्यून उत्कृष्ट स्थिति बाँधते होते है तथा दूसरे नवीन भी होते है। इस प्रकार पल्यो-पम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थितिस्थान पर्यन्त कहना चाहिये।

पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थितिस्थानो मे के इस अन्तिम स्थितिस्थान मे उत्कृष्ट स्थितिस्थान सम्बन्धी रसवधाध्य-वसाय की अनुकृष्टि समाप्त होती है। उसके बाद के स्थितिस्थान मे समयन्यून उत्कृष्ट स्थिति सम्बन्धी रसबधाध्यवसाय की अनुकृष्टि समाप्त होती है। इस प्रकार नीचे-नीचे अनुकृष्टि और समाप्ति वहाँ तक कहना चाहिये यावत् अठारह कोडाकोडी सागरोपम स्थिति शेष रहे। यानि बीसवी कोडाकोडी के अन्तिम समय से आरम्भ कर अठारहवी कोडाकोडी सागरोपम के अन्तिम समय पर्यन्त कहना चाहिये।

अठारहवी कोडाकोडी सागरोपम की चरमस्थिति में जो रस-बन्धाध्यवसाय होते हैं, वे सभी अठारहवी कोडाकोडी सागरोपम की

द्विचरम स्थिति में होते है तथा अन्य नवीन होते है। द्विचरम स्थिति में जो रसबन्धाध्यवसाय होते है, वे सभी त्रिचरम स्थितिस्थान बाँधते होते है तथा अन्य नवीन भी होते है। इस प्रकार वहाँ तक कहना चाहिये यावत् अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभाग वन्ध के विषय-भूत स्थावर नाम-कर्म की स्थिति प्रमाण स्थिति प्राप्त हो। अर्थात् जिस जघन्य स्थितिस्थान पर्यन्त त्रसनामकर्मस्थावरनामकर्म के साथ परावर्तमान भाव से वन्धता है, वह स्थिति आये वहाँ तक 'वह और अन्य' इस क्रम मे अनुकृष्टि कहना चाहिये।

अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थिति बाँधते जो रसवन्ध के अध्यवसाय होते है, उनका असख्यातवा भाग छोडकर शेष सभी उससे नीचे की स्थिति बाँधते कि जहाँ शुद्ध त्रसनामकर्म ही बँधता है वहाँ होते है तथा दूसरे नवीन भी होते है। उस पूर्वोक्त स्थिति बाँधते जो रस-वधाध्यवसाय होते है उनका असख्यातवा भाग छोडकर शेष सब उससे नीचे के स्थितिस्थान मे होते है एव दूसरे नवीन भी होते है। इस प्रकार वहाँ तक कहना चाहिये, यावत् पल्योपम के असख्यातवे भाग गत समय प्रमाण स्थिति स्थान जाये।

यहाँ अन्तिम स्थितिस्थान मे अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थिति-स्थान के यानि जिस स्थितिस्थान से शुद्ध त्रसनामकर्म ही बंधता है उससे पहले के स्थान के रसबधाध्यवसाय की अनुकृष्टि समाप्त होती है। उससे नीचे के स्थितिस्थान मे जिस स्थितिस्थान मे शुद्ध त्रस-नामकर्म बधता है, उस स्थान की अनुकृष्टि समाप्त होती है। इस प्रकार अनुकृष्टि और समाप्ति वहाँ तक कहना चाहिये यावत् जघन्य स्थिति प्राप्त हो।

इसी प्रकार बादर-पर्याप्त और प्रत्येक नामकर्मों की भी अनुकृष्टि जानना चाहिये।[1]

---

१ त्रसचतुष्क की अनुकृष्टि का स्पष्टीकरण और प्रारूप परिशिष्ट मे देखिये।

इस प्रकार से अनुकृष्टि प्ररूपणा करने के पश्चात् अव पूर्व मे प्रयुक्त कडक शब्द और आगे प्रयोग किये जाने वाले निर्वर्तन कडक शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते है—

कडक और निर्वर्तन कडक इन दोनो शब्दो का प्रयोग पल्योपम के असख्यातवे भाग मे वर्तमान समय प्रमाण सख्या के लिये किया जाता है। अर्थात् पल्योपम के असख्यातवें भाग मे रही हुई समय सख्या का अपर नाम कडक अथवा निर्वर्तन कडक है।

इस प्रकार से अनुकृष्टि सम्बन्धी समस्त वक्तव्यता जानना चाहिये। अव इसी से सम्वन्धित तीव्र-मन्दता का विचार करते हैं। अर्थात् अनुकृष्टि का अनुसरण करके किस स्थान मे कितने प्रमाण मे तीव्र और मन्द रस वधता है, उसका कथन करते है। उसका सामान्य लक्षण इस प्रकार है कि सभी अशुभ प्रकृतियो में जघन्य स्थिति से प्रारम्भ कर उत्तरोत्तर स्थिति मे अनुक्रम से अनन्तगुण रस एव शुभ प्रकृतियो मे उत्कृष्ट स्थिति से आरम्भ कर अनुक्रम से नीचे-नीचे के स्थान में अनन्तगुण रस जानना चाहिये। इस प्रकार से तीव्र-मन्दता के सामान्य स्वरूप का निर्देश करने के पश्चात् अब उसके विशेष स्वरूप का कथन करते हैं।

अपरावर्तमान अशुभ शुभ प्रकृतियो की तीव्रमन्दता—

जा निव्वत्तणकड जहन्नठिइपढमठाणगाहितो।
गच्छति उवरिहुत्त अणतगुणणाए सेढीए ॥९२॥
तत्तो पढमठिईए उक्कोस ठाणग अणतगुण।
तत्तो कंडग-उवरिं आ-उक्कस्सं नए एव ॥९३॥
उक्कोसाण कडं अणतगुणणाए तन्नए पच्छा।
उवघायमाइयाणं इयराणुक्कोसगाहितो ॥९४॥

शब्दार्थ—जा निव्वत्तणकड—निर्वर्तन कडक पर्यन्त, जहन्नठिइपढमठाण-गाहितो—जघन्य स्थिति के प्रथम स्थान से, गच्छति—जाता है, उवरिहुत्त—

ऊपर की ओर, अणतगुणणाए सेढीए—अनन्तगुण श्रेणि से ।

तत्तो—उससे, पढमठिईए—प्रथम स्थितिस्थान से, उक्कोस—उत्कृष्ट, ठाणग—स्थान, अणतगुण—अनन्तगुण, तत्तो—उससे, कडग-उवरि—कडक से ऊपर, आ-उक्कस्स—उत्कृष्ट स्थितिस्थान पर्यन्त, नए—जानना चाहिये, एव—इसी प्रकार ।

उक्कोसाणं—उत्कृष्ट स्थितिस्थानो का, कंड—कडक प्रमाण, अणत-गुणणाए—अनन्तगुण रूप मे, तन्नए—वह जानना चाहिये, पच्छा—उत्तरोत्तर, उवघायमाइयाणं—उपघात आदि की, इयराणुक्कोसगाहितो—इतर पराघातादि की उत्कृष्ट स्थितिस्थान मे ।

गाथार्थ—जघन्य स्थिति के प्रथम अनुभागस्थान से लेकर निर्वर्तन कडक पर्यन्त ऊपर-ऊपर के स्थान मे जघन्य रस अनन्त-गुणश्रेणि से जाता है ।

उससे प्रथम स्थितिस्थान मे उत्कृष्ट रसस्थान अनन्तगुण होता है, उससे निर्वर्तन कडक के ऊपर के स्थितिस्थान मे जघन्य रस-बध अनन्तगुण होता है, इसी प्रकार उत्कृष्ट स्थितिस्थान पर्यन्त जानना चाहिये ।

अतिम कडक प्रमाण स्थानो का उत्कृष्ट रस अनुक्त है, उनमे उत्तरोत्तर अनन्तगुण रस अतिम उत्कृष्ट स्थितिस्थान पर्यन्त जानना चाहिये । उपघातादि मे उपर्युक्त प्रमाण और इतर परा-घातादि मे उत्कृष्ट स्थितिस्थान से प्रारभ करके (अधोमुख) ऊपर कहे गये अनुसार कथन करना चाहिये ।

विशेषार्थ—उक्त गाथा त्रय मे अपरावर्तमान अशुभ और शुभ वर्ग की प्रकृतियो की तीव्रमदता जानने का विधिसूत्र कहा है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

उपघातनाम आदि पचपन अशुभ प्रकृतियो मे जघन्य स्थिति-स्थान बाधने पर जो जघन्य रसस्थान बधता है, उससे अनन्तगुण-अनन्तगुण जघन्य रस अनुक्रम से ऊपर-ऊपर के स्थितिस्थान बाधते

वधता है। वह इस प्रकार कि जघन्य स्थितिस्थान वाधने पर जो जघन्य रस वधता है वह अल्प है, उससे दूसरा स्थितिस्थान वाधने पर जो जघन्य रस वधता है वह अनन्तगुण है, उससे भी तीसरा स्थान बाँधते जो जघन्य रस वधता है, वह अनन्तगुण है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व स्थितिस्थान वाधते जो जघन्य रस वधता है, उससे उत्तरोत्तर स्थितिस्थान में अनन्तगुण जघन्य रस वहा तक कहना चाहिये यावत् निर्वर्तन कडक पूर्ण हो।

निर्वर्तन कडक यानि जहाँ जघन्य स्थितिवधभावी रसवधाध्यवसाय की अनुकृष्टि समाप्त होती है। जघन्य स्थितिवध से लेकर पल्योपम के असख्यातवे भाग के समय प्रमाण स्थितिस्थान पर्यन्त जघन्य स्थिति के रसबधाध्यवसाय की अनुकृष्टि होती है, अतएव मूल से लेकर वहा तक के स्थान निर्वर्तन कडक कहलाते हैं। अथवा पल्योपम के असख्यातवें भाग के समय प्रमाण स्थितिस्थानो की सख्या निर्वर्तन कडक कहलाती है।

निर्वर्तन कडक के अतिम स्थितिस्थान मे जो जघन्य रस वधता है, उससे पहली स्थिति में उत्कृष्ट रसबध अनन्तगुण होता है, उससे निर्वर्तन कडक की ऊपर की पहली स्थिति में जघन्य रस अनन्तगुण वधता है, उससे भी दूसरी स्थिति मे उत्कृष्ट रस अनन्तगुण बधता है। उससे कडक के ऊपर की दूसरी स्थिति मे जघन्य रस अनन्तगुण वधता है, उससे तीसरी स्थिति मे उत्कृष्ट रस अनन्तगुण बधता है। इस प्रकार नीचे-नीचे के एक-एक स्थान मे उत्कृष्ट अनन्तगुण रस और कडक के ऊपर-ऊपर के एक-एक स्थान मे जघन्य रस अनन्तगुण वहा तक कहना चाहिये यावत् उत्कृष्ट स्थितिस्थान आये। अर्थात् उत्कृष्ट स्थिति मे जघन्य रसबध अनन्तगुण हो वहा तक उक्त प्रकार से जानना चाहिये।

अतिम कडक प्रमाण स्थितियो में उत्कृष्ट अनुभाग अभी अनुक्त है, जिसे उत्तरोत्तर अनन्तगुण-अनन्तगुण कहना चाहिये। वह इस प्रकार—

उत्कृष्टस्थिति के जघन्यरस से अतिम कंडक की पहली स्थिति में

उत्कृष्ट रस अनन्तगुण है, उससे उसके बाद की दूसरी स्थिति मे उत्कृष्ट रस अनन्तगुण है, उससे भी उसके बाद की तीसरी स्थिति मे उत्कृष्ट रस अनन्तगुण है। इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त अनन्त-गुण रस कहना चाहिये।

इसी प्रकार उपघातादि पचपन अपरावर्तमान अशुभ प्रकृतिवर्ग की प्रकृतियो के लिये जानना चाहिये।

पराघात आदि छियालीस अपरावर्तमान शुभ प्रकृतिवर्ग की तीव्र-मदता का विधान इस प्रकार है—

पराघात आदि छियालीस प्रकृतियो मे उत्कृष्ट स्थितिस्थान से आरम्भ कर अधोमुख पूर्वोक्त क्रम से अनन्तगुणश्रेणि से रस कहना चाहिये। वह इस प्रकार कि उत्कृष्ट स्थिति मे जघन्य अनुभाग अल्प होता है, समयोन उत्कृष्ट स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुण, उससे दो समय न्यून उत्कृष्ट स्थिति मे जघन्य रस अनन्तगुण, इस तरह निर्वर्तन कडक पर्यन्त जघन्य रस अनन्तगुण कहना चाहिये।

कडक के अतिम स्थान के जघन्य रस से उत्कृष्ट स्थिति मे उत्कृष्ट रस अनन्तगुण होता है। उससे कडक के नीचे के पहले स्थान मे जघन्य रस अनन्तगुण होता है, उससे समयोन उत्कृष्ट स्थिति मे उत्कृष्ट रस अनन्त गुण होता है, उससे कडक से नीचे के दूसरे स्थान मे जघन्य रस अनन्तगुण होता है। उससे दो समयन्यून उत्कृष्ट स्थिति मे उत्कृष्ट रस अनन्तगुण होता है। इस प्रकार ऊपर के एक-एक स्थान मे उत्कृष्ट और कडक से नीचे के एक-एक स्थान मे जघन्य रस अनन्तगुण वहा तक कहना चाहिये यावत् जघन्य स्थिति मे जघन्य रस अनन्तगुण हो।

अतिम कडक मात्र स्थितियो मे उत्कृष्ट रस अभी अनुक्त है उसे भी अनन्तगुण क्रम से कहना चाहिये। वह इस प्रकार—जघन्य स्थिति के जघन्य रस से अतिम कडक मात्र स्थिति मे की पहली स्थिति मे उत्कृष्ट रस अनन्तगुण, उससे उसके बाद की स्थिति मे उत्कृष्ट रस

अनन्तगुण, इस प्रकार अनन्त-अनन्त गुण करते हुए कडक की अतिम जघन्य स्थिति मे उत्कृष्ट रस अनन्त गुण कहना चाहिये।

अपरावर्तमान शुभाशुभ प्रकृतियो मे इस प्रकार से तीव्रमदता जानना चाहिये[1]। अव परावर्तमान अशुभ-शुभ प्रकृतिवर्ग आदि की तीव्रमदता का विचार कहते है।

परावर्तमान अशुभ शुभ प्रकृतियो आदि की तीव्रमदता.—

> अस्सायजहन्नठिईठाणेहिं तुल्लयाइ सव्वाण।
> आपडिवक्खक्कतग ठिईणठाणाइ हीणाइ ॥९५॥
> तत्तो अणतगुणणाए जति कडस्स सखियाभागा।
> तत्तो अणतगुणिय जहन्नठिई उक्कस्सं ठाणं ॥९६॥
> एव उक्कस्साण अणतगुणणाए कडक वयइ।
> एक जहन्नठाण जाइ परक्कतठाणाणं ॥९७॥
> उवरिं उवघायसम सायस्सवि नवरि उक्कसठिइओ।
> अतेसुवघायसम मज्झे नीयस्ससायसम ॥९८॥

शब्दार्थ—अस्साय—असाता के, जहन्नठिईठाणेहिं—जघन्य स्थितिस्थान के, तुल्लयाइ—तुल्य, सव्वाण—सबका, आपडिवक्खक्कतग—प्रतिपक्ष से आक्रात, ठिईणठाणाइ—स्थिति के स्थानो का, हीणाइ—हीन, जघन्य।

तत्तो—उसके बाद, अणतगुणणाए—अनन्त गुणाकार, जति—होता है, कडस्स—कडक के, सखियाभागा—सख्यात भाग पर्यन्त, तत्तो—उसके बाद, अणतगुणिय—अनन्तगुण, जहन्नठिई—जघन्यस्थिति, उक्कस्स—उत्कृष्ट, ठाण—स्थान।

एव—इसी प्रकार, उक्कस्साण—उत्कृष्ट स्थानो का, अणतगुणणाए—

---

१ अपरावर्तमान शुभ-अशुभ प्रकृतिवर्ग की तीव्रमन्दता का प्रारूप परिशिष्ट मे देखिये।

अनन्त गुणाकार रूप से, कडक—कडक, वयइ—जाये, एक —एक, जहन्नठाण—जघन्य स्थान, जाइ—होता है, परक्कतठाणाण—प्रतिपक्षाक्रात स्थितिस्थानो का ।

उवरि—ऊपर, उवघायसम—उपघात के समान, सायस्सवि—साता की भी, नवरि—परन्तु, उक्कसठिइओ—उत्कृष्ट स्थिति से, अतेसुवघायसम—अत मे उपघात के समान, मज्झे—मध्य मे, नीयस्ससायसम—नीचगोत्र की असाता के समान ।

गाथार्थ—प्रतिपक्ष से आक्रात सभी स्थितिस्थानो का जघन्य रस असाता के जघन्य स्थितिस्थान तुल्य होता है ।

उसके वाद कडक के सख्यात भाग पर्यन्त अनन्त गुणाकार जघन्य रस होता है, उसके वाद कडक के सख्यात भाग मे के अतिम स्थितिस्थान से जघन्य स्थिति मे उत्कृष्ट रस अनन्तगुण होता हे ।

इसी प्रकार उत्कृष्ट रस वाले स्थानो का अनन्त गुणाकार रूप एक कडक जाये तव तक एक स्थान मे जघन्य रस अनन्तगुण होता है । प्रतिपक्षाक्रात स्थितियो मे तो इस प्रकार होता है और—

ऊपर उपघात के समान जानना चाहिये । साता की भी इसी प्रकार से तीव्रमदता कहना चाहिये, परन्तु वह उत्कृष्ट स्थिति से प्रारम्भ करना चाहिये । नीचगोत्र की आदि और अत के स्थिति-स्थानो मे उपघात के सदृश और मध्य के स्थानो मे असाता के तुल्य जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—इन चार गाथाओ मे परावर्तमान शुभ और अशुभ प्रकृतियो आदि की तीव्रमदता का निर्देश किया हे ।

पहले असाता और साता वेदनीय की तीव्र-मदता को स्पष्ट करते है ।

सातावेदनीय रूप प्रतिपक्ष द्वारा जितने स्थितिस्थान आक्रात है,

उन सबके जघन्य रसबध स्थान असाता की जघन्य स्थिति बाधते जो जघन्य रसबध होता है, उनके तुल्य हैं। इसका तात्पर्य इस प्रकार है—असाता की जघन्य स्थिति बाधते जो जघन्यरस होता है वह अल्प है, समयाधिक जघन्य स्थिति बाधते जघन्य रसबध उतना ही होता है, दो समयाधिक जघन्यस्थिति बाधते भी जघन्यरसबध उतना ही होता है। इस प्रकार जितनी स्थितियाँ प्रतिपक्ष द्वारा आक्रात हैं, उतनी स्थितियो मे पूर्व-पूर्व स्थितिस्थान मे जितना-जितना जघन्य रसबध होता है उतना-उतना उत्तरोत्तर स्थिति-स्थान मे जघन्य रसबध होता है। छठे गुणस्थान मे असाता का जो जघन्य स्थितिबध होता है, वहाँ से लेकर पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम पर्यन्त के स्थान परस्पराक्रात होने से, वहाँ तक के स्थानो मे जघन्य रसबध समान ही होता है।

तत्पश्चात् 'तदेकदेश और अन्य'' इस क्रम से जिस स्थितिस्थान से अनुकृष्टि शुरू होती है, उस स्थान मे पूर्व स्थितिस्थान से जघन्य रसबध अनन्तगुण होता है। वह इस प्रकार—पूर्ण पन्द्रह कोडाकोडी स्थितिबध बाधते जो जघन्य रसबध होता है, उससे समयाधिक पन्द्रह कोडाकोडी बाधने पर अनन्तगुण जघन्य रसबध होता है। इस प्रकार वहाँ तक कहना चाहिये यावत् कडक के सख्यात भाग प्रमाण स्थिति-स्थान जाये और एक भाग शेष रहे। यहाँ तक तो केवल जघन्य अनु-भाग कहा गया है।

अब उत्कृष्ट अनुभाग भी कहते है—कडक के सख्यात भाग प्रमाण स्थितिस्थान मे के अतिम स्थितिस्थान मे जो जघन्य रसबध होता है, उससे जघन्य स्थितिस्थान से लेकर कडक जितने स्थानो मे उत्कृष्ट रसबध अनन्तगुणा जानना चाहिये। जो इस प्रकार कि जघन्य स्थिति-स्थान मे उत्कृष्ट रस अनन्तगुण होता है। उससे समयाधिक जघन्य स्थिति बाधते उत्कृष्ट रस अनन्तगुण होता है। उससे दो समयाधिक जघन्य स्थिति बाधते उत्कृष्ट रस अनन्तगुण होता है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व स्थान से उत्तर-उत्तर स्थान मे अनन्तगुण रस वहा तक कहना चाहिये कि एक कडक जितने स्थान हो। उससे जिस स्थितिस्थान की

अपेक्षा कडक प्रमाण स्थानो मे उत्कृष्ट रस कहा, उससे ऊपर के यानि कडक के शेष सख्यातवे भाग के पहले स्थितिस्थान मे जघन्य रस अनतगुण होता है। उससे शुरुआत के जो कडकप्रमाण स्थितिस्थानो का उत्कृष्ट रस कहा, उससे बाद के स्थितिस्थान मे उत्कृष्ट रस अनन्तगुण, उससे उसके बाद के स्थितिस्थान मे उत्कृष्ट रस अनन्तगुण, इस प्रकार पूर्व-पूर्व स्थितिस्थान से उत्तरोत्तर स्थितिस्थान मे उत्कृष्ट रस अनन्तगुण वहाँ तक कहना चाहिये, यावत् कडक प्रमाण स्थिति-स्थान पूर्ण हो। उससे कडक के शेष सख्यातवे भाग के दूसरे स्थिति-स्थान मे जघन्य रस अनन्तगुण होता है। उससे पूर्व जिन दो कडक प्रमाण स्थानो मे उत्कृष्ट रस कहा, उसके बाद के कडक प्रमाण स्थानो मे पूर्व-पूर्व से उत्तरोत्तर अनन्तगुण उत्कृष्ट रस कहना चाहिये।

इस प्रकार कडक के शेप सख्यातवे भाग के एक-एक स्थितिस्थान मे जघन्य रस और नीचे एक-एक कडक प्रमाण स्थितिस्थानो मे उत्कृष्ट रस अनन्तगुण वहा तक कहना चाहिये यावत् 'वह और अन्य' इस प्रकार की अनुकृष्टि पूर्ण होने के बाद जहा से 'तदेकदेश और अन्य' यह अनुकृष्टि प्रारम्भ होती है। उस जघन्य रसबध के विषयभूत स्थितिस्थान का कडक पूर्ण हाता है और जितनी स्थितिया प्रतिपक्ष से आक्रान्त उत्कृष्ट रस की विषयभूत है, उतनी स्थितिया भी पूर्ण हो। यानि जितने स्थितिस्थान प्रतिपक्ष से आक्रान्त है, उतने स्थितिस्थानो मे उत्कृष्ट रस और जो प्रतिपक्ष से आक्रात नही, उनमे के शुरुआत के एक कडक प्रमाण स्थानो मे जघन्य रस परिपूर्ण हो।

प्रतिपक्ष प्रकृतियो से अनाक्रात स्थितियो मे उपघात की तरह कहना चाहिये। वह इस प्रकार कि शतपृथक्त्व सागरोपम के अतिम कडक के उत्कृष्ट अनुभाग से प्रतिपक्ष से अनाक्रात पूर्वोक्त जघन्य रस के विषयभूत पहले कडक की ऊपर की पहली स्थिति मे जघन्य रस अनन्तगुण, उससे शतपृथक्त्व सागरोपम की ऊपर के पहले कडक की पहली स्थिति मे उत्कृष्ट रस अनन्तगुण, उससे कडक से ऊपर

की दूसरी स्थिति मे जघन्य रस अनन्तगुण, उससे कडक की दूसरी स्थिति मे उत्कृष्ट रस अनन्तगुण, इस प्रकार कडक के अतर से एक-एक स्थान मे उत्कृष्ट और एक-एक स्थितिस्थान मे जघन्य रस अनन्तगुण क्रम से वहा तक कहना चाहिये यावत् असातावेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति मे जघन्य रस अनन्तगुण हो। कडक प्रमाण अतिम स्थितियो मे उत्कृष्ट रस अभी अनुक्त है, वह भी पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर उत्कृष्ट स्थितिस्थान पर्यन्त अनन्तगुण क्रम से कहना चाहिये।

स्थावरदशक और नरकद्विक आदि सत्ताईस प्रकृतियो की तीव्र-मदता इसी प्रकार समझना चाहिये।

अव सातावेदनीय की तीव्र मदता का कथन करते हैं।

सातावेदनीय की तीव्रमदता—

'सायस्सवि' अर्थात् साता की तीव्रमदता असाता की तीव्रमदता के अनुरूप कहना चाहिये किन्तु उसकी शुरुआत उत्कृष्ट स्थिति से करना चाहिये—'नवरि उक्कसठिइओ ।' वह इस प्रकार—साता की उत्कृष्ट स्थिति बाधते जघन्य अनुभाग अल्प, समयोन उत्कृष्ट स्थिति बाधते जघन्य अनुभाग उतना ही बधता है। दो समयन्यून उत्कृष्ट स्थिति बाधने पर भी जघन्य अनुभाग उतना ही बधता है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व से उत्तरोत्तर स्थितिस्थान बाधते उतना ही जघन्य रस का बध वहा तक कहना चाहिये यावत् अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिस्थान आये। जितने स्थितिस्थानो मे असाता के साथ परावर्त-मान भाव से बधता है उतने स्थितिस्थानो मे पूर्व के स्थान मे जितना जघन्य रस बधता है, उतना ही उत्तर-उत्तर के स्थान मे वधता है। इसका कारण यह है कि रसबध के हेतुभूत जो अध्यवसाय पूर्व के स्थान मे हैं, वही उत्तर के स्थान मे भी है।

उससे निचले स्थितिस्थान मे जघन्य रस अनन्तगुण, उससे उसके नीचे के स्थितिस्थान मे जघन्य रस अनन्तगुण, इस प्रकार

अनन्तगुण रस वहा तक कहना चाहिये यावत् कडक के सख्यात भाग जाये और एक भाग शेप रहे। सख्यातभागहीन कडक प्रमाण ये स्थितिया साकार उपयोग से ही वधने वाली होने से 'साकारोपयोग' सज्ञा वाली कहलाती है।

उससे उत्कृष्ट स्थितिस्थान बाधते उत्कृष्ट रस अनन्तगुण बंधता है, उससे समयोन उत्कृष्ट स्थिति बाधते उत्कृष्ट रस अनन्तगुण बधता है, उससे दो समय न्यून उत्कृष्ट स्थिति बाधने पर उत्कृष्ट रस अनन्त-गुण वधता है। इस प्रकार नीचे-नीचे के स्थितिस्थान मे उत्कृष्ट रस अनन्तगुण वहा तक कहना चाहिये यावत् कडक प्रमाण स्थितिस्थान व्यतीत हो। इस कडक के अतिम स्थितिस्थान के उत्कृष्ट रस से नीचे जिस स्थितिस्थान का जघन्य रस कहकर वापस लौटे थे, उससे नीचे के यानि कडक के शेष सख्यातवे भाग के पहले स्थितिस्थान मे जघन्य रस अनन्तगुण कहना चाहिये। उसकी अपेक्षा ऊपर के कडक प्रमाण स्थानो से नीचे के कडक प्रमाण स्थानो मे उत्तरोत्तर अनन्तगुण रस कहना चाहिये। उन कडक प्रमाण स्थानो मे के अतिम स्थान से जिस स्थितिस्थान से ऊपर के दूसरे कडक प्रमाण स्थानो मे उत्तरोत्तर अनन्तगुण रस कहा, उससे नीचे के स्थितिस्थान मे जघन्य रस अनन्तगुण कहना चाहिये। उससे ऊपर के तीसरे कडक प्रमाण स्थानो मे उत्तरोत्तर अनन्तगुण रस कहना चाहिये। इस प्रकार नीचे-नीचे के एक-एक स्थितिस्थान मे जघन्य रस और ऊपर के एक-एक कडक प्रमाण स्थानो मे उत्कृष्ट रस अनन्तगुण के क्रम से वहा तक कहना चाहिये यावत् साकारोपयोग सज्ञा वाले जघन्य रस के विपय-भूत स्थानो का कडक पूर्ण हो और उत्कृष्ट रस के विषयभूत अभव्य-प्रायोग्य जघन्य स्थितिवध तक के सभी स्थितिस्थान समाप्त हो। अर्थात् वहा तक के समस्त स्थानो मे उत्कृष्ट रस कहा जा चुके।

अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिस्थान वाधते जो उत्कृष्ट रस वधता है, उससे साकारोपयोग सज्ञा वाले कडक से नीचे के स्थितिस्थान मे जघन्य रस अनन्तगुण कहना चाहिये, उससे अभव्यप्रायाग्य जघन्य

स्थिति से नीचे के पहले स्थितिस्थान मे उत्कृष्ट रस अनन्तगुण कहना चाहिये, उससे साकारोपयोग सज्ञा वाले कडक के नीचे के दूसरे स्थिति-स्थान मे जघन्य रस अनन्तगुण कहना चाहिये, उससे अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थिति के नीचे के द्वितीय स्थितिस्थान मे उत्कृष्ट रस अनन्त-गुण कहना चाहिये। इस प्रकार ऊपर एक स्थान मे उत्कृष्ट और नीचे एक स्थान में जघन्य रस अनन्तगुण क्रम से वहाँ तक कहना चाहिये, यावत् जघन्य स्थिति प्राप्त हो—साता की जिस कम-से-कम स्थिति पर्यन्त अनुकृष्टि होती हो वह अन्तिम स्थिति प्राप्त हो। कडक प्रमाण अन्तिम स्थितिस्थानो मे उत्कृष्ट रस अभी अनुक्त है वह भी उत्तरोत्तर अतिम जघन्य स्थितिस्थान पर्यन्त अनुक्रम से अनन्तगुण कहना चाहिये।

स्थिरादिपट्क और उच्चगोत्रादि पन्द्रह प्रकृतियो की तीव्रमदता इसी प्रकार कहना चाहिये।

अब नीचगोत्र और उपलक्षण से तिर्यचद्विक तथा त्रसचतुष्क की भी तीव्रमदता कहते है।

नीचगोत्र आदि की तीव्र-मदता

आदि और अत मे नीचगोत्र, तिर्यंचद्विक और त्रसचतुष्क की तीव्रमन्दता उपघात की तरह और मध्य मे असाता की तरह समझना चाहिये—'अतेसुवघायसम मज्झे नीयस्ससायसम।'

उक्त सक्षिप्त कथन का विस्तृत आशय इस प्रकार है—

सम्यक्त्व उत्पन्न करने वाला अनिवृत्तिकरण के चरम समय मे वर्तमान सातवी नरकपृथ्वी के नारक को सर्व जघन्य स्थितिबध होता है। उस समय जो सर्वजघन्य रसबध होता है, वह अल्प उससे समया-धिक दूसरी स्थिति मे अनन्तगुण, उससे समयाधिक तीसरी स्थिति मे अनन्तगुण, इस प्रकार वहाँ तक कहना चाहिये, यावत् निर्वर्तन कडक पूर्ण हो। उससे कडक के अतिम स्थितिस्थान से जघन्यस्थिति मे उत्कृष्ट रस अनन्तगुण उससे निर्वर्तन कडक की ऊपर की पहली स्थिति मे

जघन्य रस अनन्तगुण, उससे समयाधिक जघन्य स्थिति मे उत्कृष्ट रस अनन्तगुण, उससे निर्वर्तन कडक की ऊपर की दूसरी स्थिति मे जघन्य रस अनन्तगुण, इस प्रकार कडक से ऊपर की स्थितियो मे जघन्य रस और जघन्य स्थिति से ऊपर की स्थितियो मे उत्कृष्ट रस अनुक्रम से अनन्तगुण वहा तक कहना चाहिये, यावत् अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबध के नीचे का स्थितिस्थान प्राप्त हो। अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबध की नीचे की कडक प्रमाण स्थितियो मे उत्कृष्ट रस अनुक्त है, जो आगे कहा जायेगा।

अभव्यप्रायोग्य जघन्य रस के विषयभूत जघन्य स्थिति से नीचे के स्थितिस्थान से अभव्यप्रायोग्य जघन्य रस की विषयभूत पहली स्थिति मे—जघन्य स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुण होता है। उससे बाद की दूसरी स्थिति मे जघन्य अनुभाग उतना ही होता है, तीसरी स्थिति मे जघन्य अनुभाग उतना ही होता है। इस प्रकार वहा तक कहना चाहिये यावत् शतपृथक्त्व सागरोपम प्रमाण स्थितिया जाये। जहा तक उच्चगोत्र के साथ परावर्तन भाव से बधता है तथा 'वह और अन्य' इस क्रम से अनुकृष्टि होती है, वहाँ तक पूर्व-पूर्व स्थान मे जघन्य रस जितना बधता है, उतना ही उत्तर-उत्तर स्थान मे बधता है, ऐसा समझना चाहिये।

अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबध से लेकर दस कोडाकोडी सागरोपम पर्यन्त उच्च नीच गोत्र परावर्तन भाव से बधते है। इसलिये दस कोडाकोडी सागरोपम रूप अन्तिम स्थितिस्थान पर्यन्त उससे पूर्व-पूर्व के स्थान मे जो जघन्य रसबध होता है, वही उत्तर-उत्तर स्थान मे होता है, ऐसा कहना चाहिये। ये सभी स्थितिस्थान परावर्तन परिणाम से बधने वाले होने से उनका पूर्व पुरुषो ने 'परावर्तमान जघन्यानुभागबधप्रायोग्य' यह नामकरण किया है।

इससे ऊपर की पहली स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुण, उससे दूसरी स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुण, तीसरी स्थिति मे

जघन्य अनुभाग अनन्तगुण, इस प्रकार वहाँ तक कहना चाहिये, यावत् कडक के सख्यात भाग जाये और एक भाग शेप रहे। उससे अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबध के नीचे के एक कडक प्रमाण जिन स्थानो मे उत्कृष्ट रस अनुक्त है उन स्थानो मे अनुक्रम से उत्कृष्ट रस अनन्तगुण कहना चाहिए। उससे उपर्युक्त अभव्य-प्रायोग्य जघन्य स्थितिबध के नीचे के कडक मे जिस स्थिति-स्थान से अनुक्रम से अनन्तगुण उत्कृष्ट रस कहा, उसके बाद के अर्थात् जिस स्थितिस्थान का जघन्य रस कहना रोक दिया था, उसके बाद के यानि कडक के शेष सख्यातवे भाग के पहले स्थितिस्थान मे जघन्य रस अनन्तगुण, उससे अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबध से लेकर एक कडक प्रमाण स्थानो मे उत्कृष्ट अनुभाग अनुक्रम से अनन्तगुण कहना चाहिये। उससे अभव्य-प्रायोग्य जघन्य स्थितिबध से लेकर कडक प्रमाण स्थानो मे जिस स्थितिस्थान से उत्कृष्ट रस अनुक्रम से अनन्तगुण कहा था, उससे ऊपर के एक स्थितिस्थान मे जघन्य रस अनन्तगुण कहना चाहिये। उससे अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबध से लेकर कडक के ऊपर के कडक प्रमाण स्थानो मे अनुक्रम से उत्कृष्ट रस अनन्तगुण कहना चाहिये।

इस प्रकार एक स्थितिस्थान मे जघन्य अनुभाग और कडक प्रमाण स्थितिस्थान मे उत्कृष्ट अनुभाग वहाँ तक कहना चाहिए, यावत् अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबध की विषयभूत अन्तिम स्थिति आये। अर्थात् जिस स्थितिस्थान तक उच्च गोत्र के साथ परावर्तन भाव से बधता है, वह अन्तिम स्थितिस्थान आये। उससे जिस स्थितिस्थान मे अन्तिम जघन्य अनुभाग कहा था, उससे ऊपर के यानि उच्च गोत्र के साथ अनाक्रात स्थानो मे के शुरुआत से कडक प्रमाण स्थान के ऊपर के पहले स्थितिस्थान मे जघन्य अनुभाग अनन्त-गुण, उससे अनाक्रात स्थानो मे के पहले स्थान मे उत्कृष्ट रस अनन्त-गुण, उससे अनाक्रात स्थानो मे के दूसरे कडक के दूसरे स्थितिस्थान

में जघन्य रस अनन्तगुण, उससे अनाक्रात स्थानो मे के पहले कडक के दूसरे स्थान में उत्कृष्ट रस अनन्तगुण इस प्रकार एक स्थितिस्थान में जघन्य अनुभाग और एक स्थितिस्थान में उत्कृष्ट अनुभाग कहते हुए वहा तक जाना चाहिये यावत् उत्कृष्ट स्थितिस्थान में जघन्य अनुभाग अनन्तगुण हो। कडकप्रमाण अतिम स्थितिस्थानो में उत्कृष्ट अनुभाग अनुक्त है उसे भी अनुक्रम से उत्कृष्ट स्थितिस्थान पर्यन्त अनन्तगुण कहना चाहिये।

इस प्रकार से तिर्यंचद्विक की तीव्रमदता जानना चाहिये। अब त्रसनामकर्म की तीव्रमदता कहते है।

त्रसनाम को तीव्रमदता

त्रसनामकर्म की तीव्रमदता उसकी उत्कृष्ट स्थिति से प्रारम्भ कर नीचगोत्र के अनुसार कहना चाहिये। वह इस प्रकार कि त्रसनामकर्म की उत्कृष्ट स्थिति बाधने पर जघन्य अनुभागबध अल्प उससे समयोन उत्कृष्ट स्थिति बाधने पर जघन्य अनुभाग अनन्तगुण, उससे दो समयन्यून उत्कृष्ट स्थिति बाधने पर जघन्य अनुभाग अनन्तगुण इस प्रकार नीचे-नीचे के स्थान मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुण वहा तक कहना चाहिये यावत् कडक प्रमाण स्थितिस्थान जाये। उससे उत्कृष्ट स्थितिस्थान बाधने पर उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण, उससे कडक के नीचे की पहली स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुण, उससे समयोन उत्कृष्ट स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण, उससे कडक की नीचे की दूसरी स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुण, उससे दो समयन्यून उत्कृष्ट स्थितिस्थान मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण, इस प्रकार एक स्थिति मे जघन्य और एक स्थिति मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण वहा तक कहना चाहिये यावत् अठारहवे कोडाकोडी सागरोपम की ऊपर की स्थिति-उत्कृष्ट स्थिति से नीचे उतरते और उस उत्कृष्ट स्थिति को अतिम गिनते उन्नीसवी कोडाकोडी सागरोपम की पहली स्थिति आये। अठारहवी कोडाकोडी सागरोपम की ऊपर की एक कडक प्रमाण

स्थितियो मे उत्कृष्ट अनुभाग अनुक्त है, शेप समस्त स्थानो में जघन्य और उत्कृष्ट अनुभाग कहा जा चुका है। शेष रहे एक कडक प्रमाण स्थितियो मे उत्कृष्ट रस वाद मे कहा जायेगा।

उन्नीसवी कोडाकोडी सागरोपम की पहली स्थिति से अठारहवी कोडाकोडी की अतिम उत्कृष्ट स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुण, उससे समयन्यून स्थिति मे जघन्य अनुभाग उतना ही, उससे दो समय न्यून स्थिति में जघन्य अनुभाग उतना ही, इस प्रकार नीचे-नीचे के स्थितिस्थान मे जघन्य अनुभाग उतना ही वहा तक कहना चाहिये यावत् अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबन्ध प्राप्त हो। जितने स्थिति-स्थान स्थावरनामकर्म के साथ परावर्तमान भाव से बधते हैं, उनमें का उत्कृष्ट स्थिति से नीचे उतरते अतिम स्थान आता है।

उससे नीचे की पहली स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुण, उससे उसकी नीचे की स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुण, इस प्रकार जघन्य अनुभाग अनन्तगुण वहाँ तक कहना चाहिये, यावत् कडक के सख्यात भाग प्रमाण स्थितिस्थान जाये और एक भाग शेष रहे।

उससे अठारह कोडाकोडी से ऊपर के उन्नीसवी कोडाकोडी के अन्तिम कडक प्रमाण जिन स्थानो मे उत्कृष्ट रस अनुक्त है, उनमें अनुक्रम से अनन्तगुण रस कहना चाहिये। यानि अठारहवी कोडा-कोडी से ऊपर के कडक प्रमाण स्थितिस्थानो मे के अतिम स्थितिस्थान में उत्कृष्ट रस अनन्तगुण, उससे द्विचरमस्थिति में उत्कृष्ट रस अनन्त-गुण, इस तरह पीछे-पीछे के स्थितिस्थान में उत्कृष्ट अनन्तगुण रस वहाँ तक कहना चाहिये, यावत् कडक प्रमाण स्थान पूर्ण हो। अना-क्रात एक कडक प्रमाण स्थानो में जो उत्कृष्ट रस अनुक्त था, वह कह दिया गया है।

उससे अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबध के नीचे के कडक के सख्यातभाग प्रमाण जिन स्थानो में जघन्य रस कहा था, उससे नीचे के स्थान मे जघन्य रस अनन्तगुण, उससे अठारहवी कोडाकोडी

सागरोपम के अंतिम स्थितिस्थान से लेकर एक कडक प्रमाण स्थानो मे उत्कृष्ट रस अनुक्रम से अनन्तगुण कहना चाहिये। उससे नीचे जिस स्थितिस्थान मे जघन्य रस कहा है, उससे नीचे के स्थितिस्थान मे जघन्य रस अनन्तगुण, इस प्रकार अनुक्रम से एक कडक प्रमाण स्थतिस्थानो में उत्कृष्ट रस अनन्तगुण और एक स्थितिस्थान में जघन्य-रस अनन्तगुण कहते हुए वहाँ तक जाना चाहिये यावत् ऊपर के स्थावरनामकर्म के साथ परावर्तनभाव से बधते अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिवध तक के उत्कृष्ट रस के विपयभूत समस्त स्थितिस्थान पूर्ण हो और नीचे जघन्य रस के विपयभूत एक-एक कडक प्रमाण स्थिति-स्थान पूर्ण हो।

तत्पश्चात् अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिस्थान से कडक प्रमाण स्थान के नीचे के दूसरे कडक के पहले स्थितिस्थान में जघन्य अनन्तगुण रस, उससे अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबध के नीचे के पहले स्थितिस्थान मे उत्कृष्ट रस अनन्तगुण, उससे दूसरे कडक के दूसरे स्थितिस्थान मे जघन्य रस अनन्तगुण, उससे अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिवध के नीचे के दूसरे स्थितिस्थान मे उत्कृष्ट रसवध अनन्तगुण कहना चाहिये। इस प्रकार अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थिति-वध के नीचे-नीचे के एक-एक स्थान मे उत्कृष्ट रस और अभव्य-प्रायोग्य जघन्य स्थिति के नीचे के कडक प्रमाण स्थानो के नीचे-नीचे के एक-एक स्थितिस्थान मे अनुक्रम से जघन्य रसवध अनन्तगुण वहाँ तक कहना चाहिये, यावत् त्रसनामकर्म का जघन्य स्थितिवध हो। अंतिम कडक प्रमाण स्थितिस्थानो मे उत्कृष्ट रस अभी अनुक्त है, वह भी अनुक्रम से अनन्तगुण कहना चाहिये।

इसी प्रकार वादर, पर्याप्त और प्रत्येक नामकर्म की तीव्रमदता भी समझना चाहिये।[1]

---

१ सरलता से इनकी तीव्रमदता समझने के लिये प्रारूप और स्पष्टीकरण परिशिष्ट मे देखिये।

इस प्रकार अनुभागबध की सविस्तार प्ररूपणा समाप्त हुई। अब प्रसग प्राप्त स्थितिबध का वर्णन करते है।

स्थितिबध प्ररूपणा—

स्थितिबध प्ररूपणा के चार अधिकार हैं—१ स्थितिस्थान प्ररूपणा, २ निषेक प्ररूपणा, ३ अबाधा कडक प्ररूपणा और ४ अल्प बहुत्व प्ररूपणा। इन चारो मे से एक समय मे एक साथ जितनी स्थिति बधे, उसे स्थितिस्थान कहते है। कुल कितने स्थितिस्थान होते है और एकेन्द्रियादि को कितने-कितने स्थितिस्थान होते है वह पहले बधविधि नामक पाचवे अध्ययन की गाथा ५६ 'ठिइठाणाइ एगेंदियाण थोवाइ होंति सव्वाण' में कहा जा चुका है। अत यहाँ किस जीव को किससे अल्पाधिक स्थितिबध होता है, उसका अल्पबहुत्व कहते हैं।

स्थितिबंध का अल्पबहुत्व—

सजय बादरसुहुमग पज्जअपज्जाण हीणमुक्कोसो।
एवं विगलासन्निसु सजय उक्कोसगो बधो ॥६६॥
देस दुग विरय चउरो सन्निपञ्चिन्दियस्स चउरो य।
सखेज्जगुणा कमसो सञ्जय उक्कोजगाहितो ॥१००॥

शब्दार्थ—**सजय**—सयत, **बादरसुहुमग**—बादर, सूक्ष्म, **पज्जअपज्जाण**—पर्याप्त, अपर्याप्त, **हीणमुक्कोसो**—जघन्य और उत्कृष्ट, **एव**—इसी प्रकार, **विगलासन्निसु**—विकलेन्द्रिय और असज्ञी का, **सजय**—सयत, **उक्कोसगो**—उत्कृष्ट, **बधो**—स्थितिबध।

देस—देसविरत, **दुग**—द्विक, **अविरय**—अविरत, **चउरो**—चार का, **सन्निपंञ्चिदियस्स**—सज्ञी पचेन्द्रिय का, **चउरो**—चार, **य**—और, **सखेज्जगुणा**—सख्यात गुण, **कमसो**—अनुक्रम से, **सञ्जय**—सयत, **उक्कोजगाहितो**—उत्कृष्ट से।

गाथार्थ—(सूक्ष्मसपराय) सयत का स्थितिबध सबसे अल्प है, उससे बादर सूक्ष्म के पर्याप्त-अपर्याप्त का जघन्य, उत्कृष्ट स्थितिबध, इसी प्रकार विकलेन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय का भी जानना

चाहिये फिर सयत का उत्कृष्ट बध फिर देशविरत का दोनो, अविरत चारो, सज्ञीपचेन्द्रिय के चारो का क्रमश सयत के उत्कृष्ट स्थितिबध से सख्यातगुण जानना चाहिए ।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओ मे कौन किससे अधिक स्थितिबध करता है इसका अल्पबहुत्व बतलाया है—

सूक्ष्मसपरायगुणस्थानवर्ती सयत के अतीव अल्पकषाय होने से तज्जन्य अत्यल्प स्थितिबध होता है। अतएव उस सयत का स्थितिबध सबसे अल्प है ।

उससे बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य स्थितिबध असख्यातगुण है, उससे सूक्ष्म पर्याप्त एकेन्द्रिय का जघन्य स्थितिबध विशेषाधिक है, उससे बादर अपर्याप्त का जघन्य स्थितिबध विशेषाधिक है, उससे सूक्ष्म अपर्याप्त का जघन्य स्थितिबध विशेषाधिक है, उससे सूक्ष्म पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबध विशेषाधिक है, उससे बादर अपर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबध विशेषाधिक है, उससे सूक्ष्म पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबध विशेषाधिक है और उससे बादर पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबध विशेषाधिक है ।

इसी प्रकार पर्याप्त-अपर्याप्त विकलेन्द्रियो और असज्ञी पचेन्द्रिय का जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबध अनुक्रम से अधिक-अधिक जानना चाहिये। वह इस प्रकार—बादर पर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबध से पर्याप्त द्वीन्द्रिय का जघन्य स्थितिबध सख्यातगुण है, उससे अपर्याप्त द्वीन्द्रिय का जघन्य स्थितिबध विशेषाधिक है, उससे अपर्याप्त द्वीन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबध विशेषाधिक है, उससे पर्याप्त द्वीन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबध विशेषाधिक है ।

उससे पर्याप्त त्रीन्द्रिय का जघन्य स्थितिबध विशेषाधिक है, उससे अपर्याप्त त्रीन्द्रिय का जघन्य स्थितिबध विशेषाधिक है, उससे अपर्याप्त त्रीन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबध विशेषाधिक है, उससे पर्याप्त त्रीन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबध विशेषाधिक है ।

उससे पर्याप्त चतुरिन्द्रिय का जघन्य स्थितिबध विशेषाधिक है, उससे अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय का जघन्य स्थितिबध विशेषाधिक है, उससे अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबध विशेषाधिक है, उससे पर्याप्त चतुरिन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबध विशेषाधिक है।

उससे पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय का जघन्य स्थितिबध सख्यातगुण है, उससे अपर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय का जघन्य स्थितिबध विशेषाधिक है, उससे अपर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबध विशेपधिक है, उससे पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबध विशेषाधिक है।

उससे छठे गुणस्थान मे सक्लिष्ट परिणामो से उत्कृष्ट स्थिति बाधने वाले साधु का उत्कृष्ट स्थितिबध सख्यातगुण है, उससे देशविरतिगुणस्थान वाले का जघन्य स्थितिबध सख्यातगुण है, उससे उसी का उत्कृष्ट स्थितिबध सख्यातगुण है, उससे चतुर्थ गुणस्थान वाले पर्याप्तको का जघन्य स्थितिबध सख्यातगुण, उनसे उन्ही के अपर्याप्तको का जघन्य स्थितिबध सख्यातगुण, उनसे उन्ही के अपर्याप्तको का उत्कृष्ट स्थितिबध सख्यातगुण, उनसे उन्ही के पर्याप्तको का उत्कृष्ट स्थितिबध सख्यातगुण है।

उनसे सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तको का जघन्य स्थितिबध सख्यातगुण, उनसे सज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्तको का जघन्य स्थितिबध सख्यातगुण और उनसे सज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्तको का उत्कृष्ट स्थितिबध सख्यातगुण है।

अपर्याप्त सज्ञी के उत्कृष्ट स्थितिबध से पर्याप्त सज्ञी का उत्कृष्ट स्थितिबध सख्यातगुण है और वह बीस, तीस या सत्तर आदि कोडाकोडी सागरोपम रूप समझना चाहिये।

सयत के उत्कृष्ट स्थितिबध से लेकर अपर्याप्त सज्ञी के उत्कृष्ट स्थितिबध तक के समस्त स्थितिबध अन्त कोडाकोडी के अन्तर्गत ही है और सयत के उत्कृष्ट स्थितिबध से न्यून स्थितिबध अन्त कोडा-

कोडी के अन्तर्गत है और नही भी है। इसका कारण यह है कि आठवे गुणस्थान तक का बध अत कोडाकोडी के अतर्गत है और नौवे गुणस्थान के पहले ही समय मे एक करोड सागरोपम प्रमाण बध होने से वह बध अत कोडाकोडी के अन्तर्गत नही है।

सूक्ष्मसपरायगुणस्थानवर्ती सयत के अत्यन्त अल्पकषायजन्य बारह मुहूर्त, आठ मुहूर्त या अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितिबध होने से उसे सबसे अल्प बध बतलाया है।

इस प्रकार से स्थितिबध के अल्प-बहुत्व की प्ररूपणा जानना चाहिये। सुगमता से बोध कराने के लिये उक्त कथन का दर्शक प्रारूप पृष्ठ २१४-२१५ पर देखिये।

निषेक प्ररूपणा तथा अबाधा कडक प्ररूपणा क्रमश पाचवे बधविधिद्वार की 'मोत्तुमवाहा समया ' गाथा ५० द्वारा तथा 'उक्कोसगठिइ बधा ' गाथा ५३ द्वारा की जा चुकी है। अत वहा से देख लेना चाहिये। अब अल्प-बहुत्व प्ररूपणा करते हैं।

अल्प-बहुत्व प्ररूपणा—

> **थोवा जहन्नबाहा उक्कोसाबाहठाणकंडाणि।**
> **उक्कोसिया अबाहा नाणापएसंतरा तत्तो ॥१०१॥**
>
> **एग पएसविवर अबाहाकंडगस्स ठाणाणि।**
> **हीणठिइ ठिइट्ठाणा उक्कोसट्ठिइ तओ अहिया ॥१०२॥**

शब्दार्थ—थोवा—स्तोक, अल्प, जहन्नबाहा—जघन्य अबाधा, उक्कोसाबाहठाणकडाणि—उत्कृष्ट अबाधास्थान, कडकस्थान, उक्कोसिया—उत्कृष्ट, अबाहा—अबाधा, नाणापएसतरा—नाना प्रदेशान्तर, तत्तो—उससे, एग पएसविवर—एक प्रदेश का अतर, अबाहाकंडगस्स—अबाधा कडक के, ठाणाणि—स्थान, हीणठिइ—जघन्यस्थिति, ठिइट्ठाणा—स्थितिस्थान, उक्कोसट्ठिइ—उत्कृष्टस्थिति, तओ—उससे, अहिया—अधिक।

गाथार्थ—जघन्य अबाधा सबसे अल्प है, उससे उत्कृष्ट अबाधास्थान, कडकस्थान, उत्कृष्ट अबाधा नाना प्रदेशान्तर, एक

उससे पर्याप्त चतुरिन्द्रिय का जघन्य स्थितिवध विशेषाधिक है, उससे अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय का जघन्य स्थितिवध विशेषाधिक है, उससे अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिवध विशेषाधिक है, उससे पर्याप्त चतुरिन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिवध विशेषाधिक है।

उससे पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय का जघन्य स्थितिवध सख्यातगुण है, उससे अपर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय का जघन्य स्थितिवध विशेषाधिक है, उससे अपर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिवध विशेषधिक है, उससे पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिवध विशेषाधिक है।

उससे छठे गुणस्थान मे सक्लिष्ट परिणामो से उत्कृष्ट स्थिति बाधने वाले साधु का उत्कृष्ट स्थितिबध सख्यातगुण है, उससे देशविरतिगुणस्थान वाले का जघन्य स्थितिबध सख्यातगुण है, उससे उसी का उत्कृष्ट स्थितिवध सख्यातगुण है, उससे चतुर्थ गुणस्थान वाले पर्याप्तको का जघन्य स्थितिबध सख्यातगुण, उनसे उन्ही के अपर्याप्तको का जघन्य स्थितिबध सख्यातगुण, उनसे उन्ही के अपर्याप्तको का उत्कृष्ट स्थितिबध सख्यातगुण, उनसे उन्ही के पर्याप्तको का उत्कृष्ट स्थितिबध सख्यातगुण है।

उनसे सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तको का जघन्य स्थितिबध सख्यातगुण, उनसे सज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्तको का जघन्य स्थितिबध सख्यातगुण और उनसे सज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्तको का उत्कृष्ट स्थितिबध सख्यातगुण है।

अपर्याप्त सज्ञी के उत्कृष्ट स्थितिबध से पर्याप्त सज्ञी का उत्कृष्ट स्थितिबध सख्यातगुण है और वह बीस, तीस या सत्तर आदि कोडाकोडी सागरोपम रूप समझना चाहिये।

सयत के उत्कृष्ट स्थितिबध से लेकर अपर्याप्त सज्ञी के उत्कृष्ट स्थितिवध तक के समस्त स्थितिवध अन्त कोडाकोडी के अन्तर्गत ही है और सयत के उत्कृष्ट स्थितिबध से न्यून स्थितिबध अन्त कोडा-

कोडी के अन्तर्गत है और नही भी है। इसका कारण यह है कि आठवे गुणस्थान तक का बध अत कोडाकोडी के अतर्गत है और नौवे गुण-स्थान के पहले ही समय में एक करोड सागरोपम प्रमाण बध होने से वह बध अत कोडाकोडी के अन्तर्गत नही है।

सूक्ष्मसपरायगुणस्थानवर्ती सयत के अत्यन्त अल्पकषायजन्य बारह मुहूर्त, आठ मुहूर्त या अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितिबध होने से उसे सबसे अल्प बध बतलाया है।

इस प्रकार से स्थितिबध के अल्प-बहुत्व की प्ररूपणा जानना चाहिये। सुगमता से बोध कराने के लिये उक्त कथन का दर्शक प्रारूप पृष्ठ २१४-२१५ पर देखिये।

निषेक प्ररूपणा तथा अबाधा कडक प्ररूपणा क्रमश पाचवे बध-विधिद्वार की 'मोत्तुमबाहा समया ' गाथा ५० द्वारा तथा 'उक्को-सगठिइ बधा ' गाथा ५३ द्वारा की जा चुकी है। अत वहा से देख लेना चाहिये। अब अल्प-बहुत्व प्ररूपणा करते है।

अल्प-बहुत्व प्ररूपणा—

थोवा जहन्नबाहा उक्कोसाबाहठाणकंडाणि।
उक्कोसिया अबाहा नाणापएसंतरा तत्तो ॥१०१॥

एग पएसविवर अबाहाकंडगस्स ठाणाणि।
हीणठिइ ठिइट्ठाणा उक्कोसट्ठिइ तओ अहिया ॥१०२॥

शब्दार्थ—**थोवा**—स्तोक, अल्प, **जहन्नबाहा**—जघन्य अबाधा, **उक्कोसा-बाहठाणकडाणि**—उत्कृष्ट अबाधास्थान, कडकस्थान, **उक्कोसिया**—उत्कृष्ट, **अबाहा**—अबाधा, **नाणापएसतरा**—नाना प्रदेशान्तर, **तत्तो**—उससे, **एग पएस-विवर**—एक प्रदेश का अतर, **अबाहाकडगस्स**—अबाधा कडक के, **ठाणाणि**—स्थान, **हीणठिइ**—जघन्यस्थिति, **ठिइट्ठाणा**—स्थितिस्थान, **उक्कोसट्ठिइ**—उत्कृष्टस्थिति, **तओ**—उससे, **अहिया**—अधिक।

गाथार्थ—जघन्य अबाधा सबसे अल्प है, उससे उत्कृष्ट अबाधा-स्थान, कडकस्थान, उत्कृष्ट अबाधा नाना प्रदेशान्तर, एक

क्रम	किसका	कौनसा	कितना
१	सूक्ष्मसपराय यति	जघन्य	अल्प
२	पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय	,,	असख्यातगुण
३	पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय	,	विशेषाधिक
४	अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय	,,	,,
५	अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय	,,	,,
६	अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय	उत्कृष्ट	,,
७	अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय	,,	,,
८	पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय	,,	,,
९	पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय	,,	,,
१०.	पर्याप्त द्वी.न्द्रिय	जघन्य	सख्यातगुण
११	अपर्याप्त द्वीन्द्रिय	,,	विशेषाधिक
१२.	अपर्याप्त द्वीन्द्रिय	उत्कृष्ट	,,
१३	पर्याप्त द्वीन्द्रिय	,,	,,
१४	पर्याप्त त्रीन्द्रिय	जघन्य	,,
१५	अपर्याप्त त्रीन्द्रिय	,,	,,
१६	अपर्याप्त त्रीन्द्रिय	उत्कृष्ट	,,
१७	पर्याप्त त्रीन्द्रिय	,,	,,
१८	पर्याप्त चतुरिन्द्रिय	जघन्य	,,

क्रम	किसका	कौनसा	कितना
१९	अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय	जघन्य	विशेषाधिक
२०	अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय	उत्कृष्ट	"
२१	पर्याप्त चतुरिन्द्रिय	"	"
२२	पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय	जघन्य	सख्यातगुण
२३	अपर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय	"	विशेषाधिक
२४	अपर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय	उत्कृष्ट	"
२५	पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय	"	"
२६	(सयत) मुनि	"	सख्यातगुण
२७	देशविरत	जघन्य	"
२८	देशविरत	उत्कृष्ट	"
२९.	चतुर्थगुणस्थानवर्ती पर्याप्त	जघन्य	"
३०	चतुर्थगुणस्थानवर्ती अपर्याप्त	"	"
३१	चतुर्थगुणस्थानवर्ती अपर्याप्त	उत्कृष्ट	"
३२	चतुर्थगुणस्थानवर्ती पर्याप्त	"	"
३३	पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय	जघन्य	"
३४	अपर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय	"	"
३५	अपर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय	उत्कृष्ट	"
३६	पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय	"	"

प्रदेशान्तर अबाधा कडकस्थान, जघन्यस्थिति, स्थितिस्थान और उत्कृष्ट स्थिति अधिक है ।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओ में जघन्य अबाधा से लेकर उत्कृष्ट स्थिति तक के अल्पबहुत्व का कथन किया है। जिसका विशदता के साथ स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पर्याप्त-अपर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो मे आयुवर्जित शेष ज्ञानावरण आदि सात कर्मो की जघन्य अबाधा स्तोक अल्प है—'थोवा-जहन्नबाहा', क्योकि वह अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है, उससे अबाधास्थान और कडकस्थान असख्यातगुण हैं, किन्तु परस्पर दोनो समान—तुल्य हैं। दोनो के समान होने का कारण यह है जघन्य अबाधा से लेकर उत्कृष्ट अबाधा के चरम समय पर्यन्त जितने समय है, उतने अबाधा के स्थान है। वे इस प्रकार—एक समय मे एक साथ जितनी स्थिति बधे और जितनी अबाधा हो, उसे अबाधास्थान कहते हैं जैसे कि जघन्य स्थितिबध हो तब अन्तर्मुहूर्त प्रमाण जघन्य अबाधा होती है, यह पहला अबाधास्थान है, समयाधिक जघन्य अबाधा यह दूसरा अबाधास्थान, दो समयाधिक जघन्य अबाधा यह तीसरा अबाधास्थान इस प्रकार उत्कृष्ट स्थितिबध मे उत्कृष्ट तीन हजार या सात हजार आदि वर्ष प्रमाण अतिम अबाधास्थान है । अन्तर्मुहूर्तन्यून सात हजार वर्ष के जितने समय होते हैं, उतने अधिक से अधिक अबाधास्थान होते है ।

कडक भी उतने ही होते है। क्योकि उत्कृष्ट अबाधा मे से जैसे-जैसे समय कम होता जाता है, वैसे-वैसे उत्कृष्ट स्थितिबध मे से पल्योपम के असख्यातवे भाग जितना स्थितिबध भी कम होता जाता है। इस प्रकार कम होते-होते एक बाजू जघन्य स्थितिबध आता है, और दूसरी बाजू जघन्य अबाधास्थान होता है। इसीलिये जितने अबाधास्थान है, उतने कडकस्थान भी है ।

उनसे उत्कृष्ट अबाधा विशेषाधिक है। क्योकि जघन्य अबाधा का भी उसमे समावेश हो जाता है ।

उससे दलिको की निषेकरचना मे द्विगुणहानि रूप जो अन्तर है वे असख्यातगुण है। इसका कारण यह है कि वे पल्योपम के पहले वर्गमूल के असख्यातवे भाग के समय प्रमाण है।

उनसे निषेकरचना मे जो द्विगुणहानि होती है, उसके एक अतर के जो निषेकस्थान है, वे असख्यातगुण है, क्योकि वे पल्योपम के असख्यातवर्गमूल के जितने समय होते है, उतने है।

उनसे अबाधास्थान और कडकस्थान का जोड असख्यातगुण है। क्योकि उनमे अबाधास्थान तो पहले कहे जा चुके है और कडकस्थान भी उतने ही हैं यह भी पहले कहा जा चुका है। इन दोनो के समुदित स्थान एक अतर के निपेकस्थानो से असख्यातगुणे है।[1]

---

१ स्वोपज्ञ वृत्ति मे भी इसी प्रकार कहा है—'**अबाधा च कण्डकानि च अबाधा कडक समाहारो द्वन्द्वः तस्य स्थानानितयोर्द्वयोरपि स्थान सख्येति भावः** अर्थात् अबाधा और कडक इन दोनो की स्थान सख्या असख्यातगुण है। परन्तु यहा प्रश्न होता है कि अबाधास्थान और कडकस्थान ये प्रत्येक अन्तर्मुहूर्तन्यून सात हजार वर्ष के समय प्रमाण है और इन दोनो का योग करने पर दुगने होते है। परन्तु यहाँ उन एक-एक स्थानो से उत्कृष्ट अबाधा विशेषाधिक कही है और उसके बाद कुल द्विगुण हानिस्थान और एक द्विगुण हानि के अन्तर के निषेकस्थान एक-एक से असख्यातगुण बताकर इन दोनो स्थानो के समूह को असख्यागुण कहा है, वह कैसे घटित हो, यह समझ मे नही आया है। इसी स्थान मे कर्मप्रकृति बधनकरण गाथा ८६ मे 'अर्धेन कंडक' कहा है और दोनो टीकाकार आचार्यो ने उसका अर्थ—'जघन्य अबाधाहीन उत्कृष्ट अबाधा द्वारा जघन्य स्थिति हीन उत्कृष्ट स्थिति को भाग देने पर जो आये अर्थात् एक समय रूप अबाधा की हानि-वृद्धि मे जो पल्योपम के असख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिबध की हानिवृद्धि होती है, उतना पल्योपम का असख्यातवा भाग इस प्रकार कहा है और वह 'अर्धेन कडक' इससे पूर्व कहे द्विगुण हानि के एक अतर के निषेकस्थानो की अपेक्षा असख्यातगुण सम्भव हो सकते है। विशेष स्पष्टीकरण करने का विद्वज्जनो से निवेदन है।

उनसे जघन्य स्थितिवध असख्यातगुण है। क्योकि वह अत कोडा-कोडी सागरोपम प्रमाण है। श्रेणि पर नहीं चढे सज्ञी पचेन्द्रिय जघन्य भी अत कोडा-कोडी सागरोपम प्रमाण ही स्थितिबध करते है।

उससे स्थितिस्थान सख्यातगुण हैं। उसमे ज्ञानावरण, दर्शना-वरण, वेदनीय और अतराय कर्म के कुछ अधिक उनतीसगुने हैं। मिथ्यात्वमोहनीय के कुछ अधिक उनहत्तरगुने हैं और नाम व गोत्र कर्म के कुछ अधिक उन्नीस गुने हैं।

उनसे उत्कृष्ट स्थितिबध विशेषाधिक है। क्योकि जघन्य स्थिति और अबाधा का भी उसके अदर समावेश हो जाता है।

सात कर्मो सम्बन्धी उक्त अल्पबहुत्व का सुगमता से बोध कराने वाला प्रारूप पृष्ठ २१९ पर देखिये।

अब आयुकर्म सबधी अल्पबहुत्व कहते है—

आउसु जहन्नबाहा जहन्नबधो अबाहठाणाणि।
उक्कोसबाह नाणंतराणि एगतर तत्तो ॥१०३॥
ठिइबधट्ठाणाइ उक्कोसठिई तओ वि अब्भहिया।
सन्निसु अप्पाबहुय दसट्ठभेय इमं भणियं ॥१०४॥

शब्दार्थ—आउसु—आयुकर्म मे, जहन्नबाहा—जघन्य अबाधा, जहन्न बधो—जघन्य स्थितिबध, अबाहठाणाणि—अबाधास्थान, उक्कोसबाह—उत्कृष्ट अबाधा, नाणतराणि—नाना अतर, एगतरं—एक अतर, तत्तो—उसके बाद, ठिइबधट्ठाणाइ—स्थितिबधस्थान, उक्कोसठिई—उत्कृष्ट स्थिति, तओवि—उससे भी, अब्भहिया—अधिक, सन्निसु—सज्ञी जीवो मे, अप्पाबहुय—अल्प-बहुत्व, दसट्ठभेय—दस और आठ भेद, इम—यह, भणियं—कहे हैं।

गाथार्थ—आयुकर्म मे जघन्य अबाधा, उससे जघन्य स्थिति-बध, अबाधास्थान, उत्कृष्ट अबाधा, नाना अतर, एक अतर, स्थितिबधस्थान और उससे भी उत्कृष्ट स्थिति विशेषाधिक है।

पर्याप्त-अपर्याप्त सज्ञी का सात कर्म संबंधी अल्प-बहुत्व

१	जघन्य अबाधा	अल्प	अन्तर्मुहूर्त
२	अबाधास्थान	असख्यातगुण	जघन्य अबाधारहित उत्कृष्ट अबाधा के समय प्रमाण
३	कडक स्थान	परस्पर तुल्य	जघन्य अबाधारूप
४	उत्कृष्ट अबाधा	विशेपाधिक	अतर्मुहूर्त के समय से अधिक तीन हजार आदि वर्ष के समय प्रमाण
५	निषेक के द्विगुण हानि के स्थान	असख्यातगुण	पल्य के प्रथम वर्ग-मूल के असख्यातवें भाग के समय प्रमाण
६	द्विगुण हानि के एक अतर के स्थान	असख्यातगुण	पल्यो के असख्याते वर्गमूल के समय प्रमाण
७	अबाधास्थान कडकस्थान[1]		
८	जघन्य स्थितिबध	असख्यातगुण	अत कोडाकोडी साग-रोपम प्रमाण (श्रेणी विना के जीव की अपेक्षा)
९	सर्वस्थितिस्थान	सख्यातगुण	जघन्य स्थितिबध न्यून उत्कृष्ट स्थिति-बध के समय प्रमाण
१०	उत्कृष्ट स्थितिबध	विशेषाधिक	अपने-अपने सपूर्ण उत्कृष्ट स्थितिबध प्रमाण

१ टिप्पण को पढकर स्वय विचार कर लेना चाहिये।

इस प्रकार से सज्ञी जीवो मे यह दस और आठ भेद का अल्प-बहुत्व कहा है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओ मे पर्याप्त-अपर्याप्त, सज्ञी-असज्ञी, पचेन्द्रियो के आयुकर्म सबन्धी आठ प्रकारो के अल्प-बहुत्व का निरूपण किया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय और पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय इन दोनो के आयु की जघन्य अबाधा अल्प है। क्योकि वह क्षुल्लक भव के तीसरे भाग से अत्यन्त छोटे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

उससे क्षुल्लक भव रूप होने से जघन्य स्थितिबध सख्यातगुण है।

उससे अबाधास्थान सख्यातगुण है क्योकि वे जघन्य अबाधा-रहित पूर्व कोटि के तीसरे भाग प्रमाण है।

उनसे उत्कृष्ट अबाधा विशेषाधिक है। क्योकि उसमे जघन्य अबाधा का भी समावेश हो जाने से उत्कृष्ट अबाधा को विशेषाधिक जानना चाहिये।

उससे दलिको की निषेक रचना मे द्विगुण हानि के स्थान असख्यात-गुणे हैं। क्योकि वे पल्योपम के प्रथम वर्गमूल के असख्यातवे भाग मे रहे हुए समय प्रमाण हैं।

उनसे द्विगुण हानि के एक अतर के स्थितिस्थान असख्यातगुणे है। क्योकि वे पल्योपम के असख्याते वर्गमूल मे रहे हुए समय प्रमाण है।

उनसे कुल स्थितिबधस्थान असख्यात गुणे हैं।

उनसे उत्कृष्ट स्थिति विशेषाधिक है। क्योकि उसमे जघन्यस्थिति और अबाधा का समावेश हो जाता है।

इस प्रकार से पर्याप्त सज्ञी-असज्ञी पचेन्द्रिय में आयु-कर्म के आठ भेदो का अल्प-बहुत्व है तथा 'सन्निसु' यह पद बहुवचनात्मक होने से आयुकर्म के अल्प-बहुत्व मे असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त का भी ग्रहण कर लेना चाहिए।

उक्त कथन का सुगमता से बोध कराने वाला प्रारूप इस प्रकार है—

पर्याप्त सज्ञी-असंज्ञी पंचेन्द्रिय का आयुकर्म में अल्प-बहुत्व

क्रम	नाम	प्रकार	विशेष
१	जघन्य अबाधा	अल्प	अन्तर्मुहूर्त
२	जघन्य स्थितिबध	सख्यातगुण	जघन्य अबाधासहित क्षुल्लकभव प्रमाण
३	अबाधास्थान	,,	जघन्य अबाधारहित पूर्वकोटि के तीसरे भाग के समय प्रमाण
४	उत्कृष्ट अबाधा	विशेषाधिक	पूर्वकोटि के तीसरे भाग प्रमाण
५	निषेक के द्विगुण हानि स्थान	असख्यातगुण	पल्योपम के प्रथम वर्गमूल के असख्य भाग के समय प्रमाण
६	द्विगुण हानि के एक अतर के स्थान	,,	पल्योपम के असख्याता वर्गमूल के समय प्रमाण
७	सर्वस्थितिस्थान	,,	अबाधारूप अन्तर्मुहूर्त अधिक क्षुल्लकभवन्यून पूर्वकोटि के तीसरे भाग अधिक असज्ञी के पल्य का असख्यातवा भाग और सज्ञी के तेतीस सागरोपम के समय प्रमाण
८	उत्कृष्ट स्थितिवध	विशेषाधिक	पूर्वकोटि के १/३ भाग अधिक ३३ सागर सज्ञी का तथा पूर्व-कोटि का १/३ भाग अधिक पल्य का असख्यात भाग असज्ञी का

इस अल्प-बहुत्व के अनुसार दूसरे जीव-भेदो मे भी आगमानुसार अल्प-बहुत्व जान लेना चाहिये। वह इस प्रकार—

अपर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय, अपर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय और पर्याप्त अपर्याप्त बादर, सूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय इन प्रत्येक मे आयुकर्म की जघन्य अबाधा अल्प है।

उससे जघन्य स्थितिबध क्षुल्लक भवरूप होते से सख्यातगुण है।

उससे अबाधास्थान सख्यातगुण है।

उससे उत्कृष्ट अबाधा विशेषाधिक है।

उससे भी स्थितिबधस्थान सख्यातगुण हैं। क्योकि वे जघन्य स्थिति न्यून पूर्व कोटि प्रमाण है।

उनसे उत्कृष्ट स्थितिबध विशेषाधिक है। उसमे जघन्य स्थिति और अबाधा का भी समावेश हो जाता है।

उक्त कथन का दर्शक प्रारूप इस प्रकार है—

पर्याप्त सज्ञी-असज्ञी पचेन्द्रिय के सिवाय शेष जीव-भेदो मे आयुकर्म का अल्प-बहुत्व

क्रम	नाम	अल्प-बहुत्व	विशेष
१	जघन्य अबाधा	अल्प	अन्तर्मुहूर्त
२	जघन्य स्थितिबध	सख्यातगुण	जघन्य अबाधासहित क्षुल्लक भव
३	अबाधा स्थान	,,	जघन्य अबाधान्यून स्वआयु के तीसरे भाग प्रमाण
४	उत्कृष्ट अबाधा	विशेषाधिक	स्वआयु के तीसरे भाग प्रमाण
५	स्थितिबधस्थान	सख्यातगुण	स्वआयु के तीसरे भाग अधिक जघन्य स्थिति न्यून पूर्वकोटि के समय प्रमाण
६	उत्कृष्ट स्थितिबध	विशेषाधिक	स्वआयु के तीसरे भाग अधिक पूर्वकोटि वर्ष

आयुकर्म के अतिरिक्त शेप सात कर्मो मे पर्याप्त-अपर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, सूक्ष्म-वादर एकेन्द्रिय मे प्रत्येक के अवाधास्थान और कडक अल्प है किन्तु परस्पर दोनो समान है क्योकि वे आवलिका के असख्यातवे भाग मे रहे हुए समय प्रमाण है। उनसे जघन्य अवाधा असख्यातगुण है। क्योक वह अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। उससे उत्कृष्ट अवाधा विशेषाधिक है। क्योकि उसमे जघन्य अवाधा का भी समावेश हो जाता है। उससे दलिको की निपेक रचना मे द्विगुणहानि स्थान असख्यातगुण है। उनसे द्विगुणहानि के एक अतर के स्थितिस्थान असख्यातगुण है। उनसे अवाधास्थान+कडकस्थान का कुल योग असख्यातगुण है। उनसे स्थितिस्थान असख्यातगुण है। क्योकि वे एकेन्द्रिय और शेप द्वीन्द्रिय आदि जीवो की अपेक्षा अनुक्रम से पल्योपम के असख्यातवे तथा पल्योपम के सख्यातवे भाग मे रहे हुए समय प्रमाण हैं। उनसे जघन्य स्थितिवध असख्यातगुण है। क्योकि वे एकेन्द्रिय मे पल्योपम के असख्यातवे भाग न्यून सागरोपमादि प्रमाण है और द्वीन्द्रियादि जीवो मे पल्योपम के सख्यातवे भाग न्यून पच्चीस, पचास आदि सागरोपमादि प्रमाण हैं। उनसे उत्कृष्ट स्थितिवध विशेषाधिक है। इसका कारण यह है कि एकेन्द्रियो के अपने जघन्य स्थितिवध से पल्योपम के असख्यातवे भाग अधिक और शेप जीवो के पल्योपम के सख्यातवे भाग अधिक है उक्त कथन का दर्शक प्रारूप पृष्ठ २२४ पर देखिये।

इस प्रकार अल्पवहुत्व का प्रमाण जानना चाहिये।

अव स्थितिवध के हेतुभूत अध्यवसाय स्थानो का विचार करते है। उनके विचार के तीन द्वार है—

१ स्थितिसमुदाहार,   २ प्रकृतिसमुदाहार,
३ जीवसमुदाहार।

समुदाहार का तात्पर्य है, प्रतिपादन करना। अतएव प्रत्येक स्थितिस्थान मे उसके वध मे हेतुभूत अध्यवसायो का जो प्रतिपादन

पर्याप्त-अपर्याप्त सज्ञी सिवाय १२ जीवभेदो मे ७ कर्मों का अल्पबहुत्व

क्रम	नाम	अल्पबहुत्व	विशेष
१ २	अबाधास्थान कडकस्थान	अल्प (परस्पर-तुल्य)	आवलिका के असख्यातवें भाग मे रहे समय प्रमाण
३	जघन्य अबाधा	असख्यातगुण	अन्तर्मुहूर्त
४	उत्कृष्ट अबाधा	विशेषाधिक	जघन्य अबाधा रूप अन्तर्मुहूर्त से वृहत्तर अन्तमुहूर्त
५	निषेक के द्विगुण हानि के स्थान	असख्यातगुण	पल्योपम प्रथम वर्गमूल के असख्यातवें भाग मे रहे हुए समय प्रमाण
६	एक द्विगुण हानि के अतर के स्थान	,,	पल्योपम के असख्याता वर्गमूल के समय प्रमाण
७	अबाधास्थान+कडक-स्थान	,,	
८.	स्थितिस्थान		एके मे पल्यो के असख्या-तवें भाग के समय प्रमाण, शेष मे पल्य के सख्यातवें भाग के समय प्रमाण
९	जघन्य स्थितिबध	,,	एके मे पल्य के असख्या भाग न्यून $\frac{1}{7}$ आदि साग-रोपम प्रमाण, शेष मे पल्य के सख्यातवें भाग न्यून $\frac{25}{7}$, $\frac{50}{7}$, $\frac{100}{7}$, $\frac{1000}{7}$ आदि सागरोपम प्रमाण
१०	उत्कृष्ट स्थितिबध	विशेषाधिक	एके मे $\frac{1}{7}$ सागरोपमादि प्रमाण, शेष मे $\frac{25}{7}$, $\frac{50}{7}$ $\frac{100}{7}$, $\frac{1000}{7}$ सागरोपम आदि।

उसे स्थितिसमुदाहार कहते है। उसके भी तीन अनुयोग द्वार इस प्रकार है—१ प्रगणना—अध्यवसायो की गणना करना, २ अनुकृष्टि, ३ तीव्रमदता । उसमे से पहले प्रगणना प्ररूपणा का विचार करते हैं।

प्रगणना प्ररूपणा

ठिइठाणे ठिइठाणे अज्झवसाया असखलोगसमा।
कमसो विसेसअहिया सत्तण्हाउस्ससखगुणा ॥१०५॥

पल्लासखसमाओ गतूण ठिईओ होति ते दुगुणा।
सत्तण्हज्झवसाया गुणगारा ते असखेज्जा ॥१०६॥

शब्दार्थ—ठिइठाणे ठिइठाणे—स्थितिस्थान-स्थितिस्थान मे, अज्झवसाया—अध्यवसाय, असखलोगसमा—असख्यात लोकाकाश प्रमाण, कमसो—अनुक्रम से, विसेसअहिया—विशेषाधिक, सत्तण्हाउस्ससखगुणा—सात कर्मो के तथा आयु के असख्यातगुणे।

पल्लासखसमाओ—पल्योपम के असख्यातवें भाग के बराबर, गतूण—जाने पर, ठिइओ—स्थितिस्थान, होति—होते हैं, ते—वे, दुगुणा—दुगुने, सत्तण्हज्झवसाया—सात कर्मो के अध्यवसाय, गुणागारा—गुणाकार, ते—वे, असखेज्जा—असख्यात।

गाथार्थ—स्थितिस्थान-स्थितिस्थान मे (प्रत्येक स्थितिस्थान मे) उनके बध के हेतुभूत अध्यवसाय असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते है। सात कर्मों के वे अनुक्रम से विशेषाधिक है और आयु कर्म के असख्यातगुणे है।

सात कर्मों मे पल्योपम के असख्यातवें भाग जितने स्थितिस्थान उलाघने पर वे दुगुने होते है। ऐसे द्विगुण वृद्धिस्थान असख्यात है।

विशेषार्थ—एक समय मे एक साथ जितनी स्थिति बधे, उसे स्थितिस्थान कहते है। जैसे कि जघन्य स्थिति यह पहला स्थितिस्थान, समयाधिक जघन्य स्थिति यह दूसरा स्थितिस्थान, इस प्रकार

जघन्य स्थिति से लेकर उत्कृष्ट स्थिति तक के जितने समय हो, उसमे जघन्य स्थिति का एक स्थितिस्थान मिलाने पर उतने प्रत्येक कर्म के स्थितिस्थान होते है। एक-एक स्थितिस्थान बाधने पर उसके बध मे हेतुभूत कषायोदयजन्य अध्यवसाय अनेक जीवो की अपेक्षा असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते हैं। पूर्व मे भी **'ठिइठाणे-ठिइठाणे कसाय-उदया असखलोगसमा'** इस गाथा मे भी इसी वात का सकेत किया है। परन्तु वहा कषायोदय स्थान मे रसबध के हेतुभूत अध्यवसायो का विचार किया है और यहा स्थितिस्थान के ही हेतुभूत अध्यवसायो का मुख्यतया विचार किया है।

इन अध्यवसायो का अनन्तरोपनिधा और परपरोपनिधा इस प्रकार दो रीति से विचार हो सकता है। अतएव पहले अनन्तरोपनिधा से उनका विचार करते है—

आयु के सिवाय सात कर्मों के दूसरे आदि स्थितिस्थान वाधने पर उनके बध मे हेतुभूत अध्यवसाय अनुक्रम से अधिक-अधिक होते हैं और आयु मे अनुक्रम से असख्यात-असख्यात गुणे होते है। वे इस प्रकार—ज्ञानावरणकर्म की जघन्य स्थिति बाधने पर उस स्थितिबध मे हेतुभूत कषायोदयजन्य आत्म-परिणामो की सख्या अनेक जीवो की अपेक्षा असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होती है और वह उसके बाद के स्थितिस्थान की अपेक्षा अल्प है। उतने अध्यवसायो से एक ही स्थितिस्थान बधता है। उससे समयाधिक दूसरे स्थितिस्थान को वाधने पर विशेपाधिक अध्यवसाय होते हैं। उससे तीसरा स्थिति-स्थान वाधने पर विशेपाधिक होते हैं। इस प्रकार पूर्व-पूर्व स्थिति-स्थान मे उनके बध मे हेतुभूत जो अध्यवसाय हैं उनसे उत्तर-उत्तर के स्थिति-स्थान मे विशेषाधिक-विशेषाधिक उत्कृष्ट स्थितिस्थान पर्यन्त कहना चाहिये।

इसी प्रकार दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, नाम, गोत्र और अतराय कर्म के सवध मे भी जानना चाहिये।

आयुकर्म की जघन्य स्थिति बाधने पर अनेक जीवो की अपेक्षा

उसके बध मे हेतुभूत असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण कषायोदयजन्य अध्यवसाय होते है। जो उत्तरवर्ती स्थितिबध की अपेक्षा अल्प है। उससे दूसरी समयाधिक जघन्य स्थिति बाधने पर असख्यातगुण है, उससे तीसरी स्थितिस्थान बाधने पर असख्यातगुण है। इस प्रकार वहा तक कहना चाहिये, यावत् उत्कृष्ट स्थितिस्थान प्राप्त हो।

आयुकर्म के सिवाय शेष सात कर्मो मे पूर्व-पूर्व स्थान से उत्तर-उत्तर के स्थान मे थोडे-थोडे बढते है और आयुकर्म मे पूर्व-पूर्व स्थान से उत्तर-उत्तर के स्थान मे असख्यातगुण-असख्यातगुण वृद्धि होती है।

इस प्रकार अनन्तरोपनिधा से अध्यवसायो की वृद्धि की प्ररूपणा जानना चाहिये। अव परपरोपनिधा से विचार करते हैं—

आयु के सिवाय शेप सात कर्मो की जघन्य स्थिति बाधने पर स्थितिबध मे हेतुभूत जो कपायोदयजन्य अध्यवसाय है, उनकी अपेक्षा जघन्य स्थिति से आरभ कर पल्योपम के असख्यातवे भाग मे रहे हुए समय प्रमाण स्थितिस्थानो को उलाघने के बाद जो स्थिति-स्थान प्राप्त होता है, उसमे दुगुने अध्यवसाय होते है, वहा से पुन उतने ही स्थितिस्थानो को उलाघने के बाद जो स्थितिस्थान प्राप्त होता है, उसमे दुगुने अध्यवसाय होते है। इस प्रकार द्विगुणवृद्धि वहा तक कहना चाहिये यावत् उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त हो।

इस प्रकार जो द्विगुणवृद्धि स्थान होते है, वे असख्यात है। उनके असख्यात होने का स्पष्टीकरण यह है कि एक अगुल प्रमाण क्षेत्र मे रहे हुए आकाश प्रदेशो के पहले वगमूल के कुल मिलाकर जितने छेदनक (अर्ध-अर्धभाग) हैं, उन छेदनको के असख्यातवें भाग मे जितने छेदनक होते है उनकी जितने आकाश प्रदेश प्रमाण सख्या हो, उतने द्विगुणवृद्धिस्थान होते हे। द्विगुणवृद्धिस्थान अल्प है और द्विगुण-वृद्धिस्थान के बीच के एक-एक अतर के स्थितिस्थान असख्यात-गुण है।

इस प्रकार प्रगणना का आशय जानना चाहिये।

अब अनुकृष्टि कहते हैं। किन्तु स्थितिबध में हेतुभूत अध्यवसायो की अनुकृष्टि नही होती है। क्योकि प्रत्येक स्थितिस्थान मे उसके बध मे हेतुभूत नवीन ही अध्यवसाय होते है। जैसे कि ज्ञानावरण की जघन्य स्थिति वाधने के जो अध्यवसाय है, उनमे का एक भी अध्यवसाय समयाधिक जघन्य स्थिति बाधने पर नही होता है। किन्तु सभी नवीन ही, दूसरे ही होते है। दो समयाधिक जघन्य स्थिति बाधने पर भी अन्य ही होते है। इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त कहना चाहिये। इसी प्रकार सभी कर्मों के सबध मे जानना चाहिये।

अब तीव्रमदता के कथन करने का अवसर है। परन्तु उसे आगे कहेगे।

इस प्रकार स्थितिसमुदाहार—स्थितिस्थानो मे अध्यवसायो का प्रतिपादन किया। अब प्रकृतिसमुदाहार का कथन करते हैं।

प्रकृतिसमुदाहार—प्रत्येक कर्म के बध मे हेतुभूत कितने अध्यवसाय हैं ? इस कथन को प्रकृति समुदाहार कहते हैं। उसके विचार के दो द्वार हैं—१ प्रमाणानुगम—सख्या का विचार और २ अल्पबहुत्व। इनमे से पहले प्रमाणानुगम का विचार करते है कि ज्ञानावरण आदि सभी कर्मो के समस्त स्थितिस्थानको के अध्यवसायो की कुल सख्या असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण है।

अव अल्पवहुत्व का कथन करते हैं—

ठिइदीहाए कमसो असखगुणणाए होंति पगईण।
अज्झवसाया आउगनामट्ठमदुविहमोहाण ॥१०७॥

शब्दार्थ—ठिइदीहाए—स्थिति की दीर्घता के अनुसार, कमसो—क्रमश, असखगुणणाए—असख्यातगुणे, होंति—होते हैं, पगईण—प्रकृतियो के, अज्झवसाया—अध्यवसाय, आउगनामट्ठम—आयु, नाम और आठवें अतराय, दुविह मोहाण—दोनो प्रकार मोहनीय के।

गाथार्थ—कर्म प्रकृतियो की दीर्घ स्थिति के अनुसार असख्यात-

गुणे अध्यवसाय होते है। आयु, नाम, अतराय, दोनो प्रकार के मोहनीय—चारित्रमोहनीय और दर्शनमोहनीय के क्रमश असख्यातगुणे अध्यवसाय होते हैं।

विशेषार्थ—जिस कर्मप्रकृति की जिस अनुक्रम से दीर्घ स्थिति है, उसी क्रम से उनके असख्यातगुणे अध्यवसाय होते है। वे इस प्रकार—आयु कर्म के बध में हेतुभूत स्थितिबध के अध्यवसाय अल्प है। उससे नाम कर्म के और उसके तुल्य स्थिति होने से गोत्र कर्म के असख्यात-गुणे है।[1]

शका—आयु कर्म मे पूर्व-पूर्व से उत्तरोत्तर प्रत्येक स्थितिस्थान मे तद्बध हेतुभूत असख्यात-असख्यातगुणे अध्यवसाय होते जाते है और नाम तथा गोत्र कर्म के प्रत्येक स्थितिस्थान मे विशेषाधिक-विशेषाधिक होते है, तो फिर आयुकर्म के अध्यवसायो से नाम और गोत्र कर्म के अध्यवसाय असख्यातगुणे कैसे होते है ? आयु कर्म के स्थितिस्थानो से नाम और गोत्र कर्म के स्थितिस्थान अधिक होने से कदाचित् विशेषाधिक हो सकते है।

समाधान—आयुकर्म की जघन्य स्थिति बाधने पर तद्बध हेतुभूत अध्यवसाय अल्पल्प है और नाम तथा गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति बाधने पर तद्बध हेतुभूत अध्यवसाय अत्यधिक है एव आयुकर्म से नाम और गोत्र कर्म के स्थितिस्थान भी बहुत अधिक है। अतएव आयुकर्म के प्रत्येक स्थितिस्थान मे असख्यातगुण के क्रम से अध्यव-सायों के बढने पर भी और नाम व गोत्र कर्म में प्रत्येक स्थितिस्थान मे विशेषाधिक-विशेषाधिक होने पर भी कुल मिलाकर आयु कर्म के स्थितिबधाध्यवसायो से नाम और गोत्र कर्म के स्थितिबधाध्यवसाय असख्यातगुणे ही होते है। इसलिये कोई दोष नही है।

---

१ यद्यपि गाथा मे गोत्र कर्म का उल्लेख नही है। किन्तु नाम कर्म के ग्रहण से ही समान स्थिति होने से गोत्र कर्म का ग्रहण किया है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समान स्थिति वाले कर्मो का ग्रहण कर लेना चाहिये।

स्थिति-समुदाहार की तीव्रमंदता

सव्वजहन्नस्स रसादणतगुणिओ य तस्स उक्कोसो।
ठिइबधे ठिइबधे अज्झवसाओ जहाकमसो ॥१०८॥

शब्दार्थ—सव्वजहन्नस्स—सर्व जघन्य के, रसाद्—रस से, अणतगुणिओ—अनन्त गुणित, य—और, तस्स—उसी का, उक्कोसो—उत्कृष्ट, ठिइबधे-ठिइबधे—स्थितिवध-स्थितिवध मे (प्रत्येक स्थितिबध मे), अज्झवसाओ—अध्यवसाय, जहाकमसो—अनुक्रम से।

गाथार्थ—सर्वजघन्य स्थितिवध के सर्व जघन्य रस से उसी का उत्कृष्ट रस अनन्तगुण होता है। इस प्रकार प्रत्येक स्थितिस्थान में अनुक्रम से अनन्तगुण कहना चाहिये।

विशेषार्थ—सबसे अल्प स्थितिबध करने पर स्थितिबध के हेतुभूत जो जघन्य अध्यवसाय है, उनका सक्लेश रूप अथवा विशुद्धि रूप रस—स्वभाव, सामर्थ्य—अल्प है। उससे उसी स्थितिबध के हेतुभूत उत्कृष्ट अध्यवसाय अनन्तगुण सामर्थ्य वाले होते है। तात्पर्य यह है कि जघन्य अध्यवसाय से उत्कृष्ट अध्यवसाय उतना तीव्र है। इस प्रकार प्रत्येक स्थितिवध में स्थितिवध के हेतुभूत जघन्य उत्कृष्ट अध्यवसाय उक्त प्रकार से अनन्तगुण तीव्र कहना चाहिये।

वह इस प्रकार—ज्ञानावरण की जघन्य स्थिति बाधने पर स्थितिबध का हेतुभूत जघन्य अध्यवसाय मद प्रभाव वाला है, उसी से उसी जघन्य स्थिति को बाँधने पर स्थितिवध में हेतुभूत उत्कृष्ट अध्यवसाय अनन्तगुण सामर्थ्य वाला है, उससे समयाधिक जघन्य स्थिति बाधने पर स्थितिबध मे हेतुभूत जघन्य अध्यवसाय अनन्तगुण सामर्थ्य वाला है, उससे उसी समयाधिक जघन्य स्थितिवध में हेतुभूत कषायोदयजन्य उत्कृष्ट अध्यवसाय अनन्तगुण सामर्थ्य वाला है। इस प्रकार प्रत्येक स्थितिस्थान में जघन्य, उत्कृष्ट स्थिति-बधाध्यवसायस्थान को अनन्तगुण कहना चाहिये यावत् उत्कृष्ट स्थितिबध मे हेतुभूत अतिम सर्वोत्कृष्ट कषायोदयजन्य अध्यवसाय अनन्तगुण सामर्थ्य वाला हो।

यहा स्थितिबध के अध्यवसायो की अनुकृष्टि नही होती है। क्योकि पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय मे नवीन ही कषायोदय-जन्य अध्यवसाय होते है। इसी से एक ही स्थितिबध मे भी जघन्य से उत्कृष्ट स्थितिबधाध्यवसायस्थान अनन्तगुण सामर्थ्य वाला कहा जाता है।

इस प्रकार स्थितिसमुदाहार का वर्णन समाप्त हुआ और उसके साथ ही प्रकृतिसमुदाहार का कथन भी किया गया जानना चाहिये।

अब जीवसमुदाहार का वर्णन करते है।

जीवसमुदाहार

धुवपगई बधता चउठाणाई सुभाण इयराण।
दो ठाणगाइ तिविह सट्ठाणजहन्नगाईसु ॥१०९॥

शब्दार्थ—**धुवपगई**—ध्रुवबधिनी प्रकृतिया, **बधता**—बाधते हुए, **चउठाणाई**—चतु स्थानकादि, **सुभाण**—शुभ, **इयराण**—इतर (अशुभ), **दो ठाणगाइ**—द्विस्थानकादि, **तिविह**—तीन प्रकार का, **सट्ठाण**—स्वयोग्य, **जहन्नगाईसु**—जघन्यादि स्थिति मे।

गाथार्थ—ध्रुवबधिनी प्रकृतिया बाधते हुए शुभ प्रकृतियो का चतु स्थानकादि तीन प्रकार का और अशुभ प्रकृतियो का द्विस्थानकादि तीन प्रकार का रस बाधता है। इस प्रकार रस का बध स्वयोग्य जघन्यादि स्थिति बाधने पर होता है।

विशेषार्थ—ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणनवक, मिथ्यात्वमोहनीय, सोलह कपाय, भय जुगुप्सा, तैजस, कार्मण, वर्ण, गध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण और अतरायपचक रूप सैतालीस ध्रुवबधिनी प्रकृतियो को बाधते हुए परावर्तमान सातावेदनीय, देवद्विक, मनुष्यद्विक, पचेन्द्रियजाति, वैक्रियद्विक औदारिकद्विक-आहारकद्विक, समचतुरस्र सस्थान, वज्रऋषभनाराचसहनन, पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, त्रसदशक, प्रशस्तविहायोगति, तीर्थंकरनाम, नरकायु के बिना शेष तीन आयु और उच्चगोत्र रूप

चौतीस पुण्यप्रकृतियो का चतु स्थानक, त्रिस्थानक और द्विस्थानक रसबध करता है।

उन्ही पूर्वोक्त ध्रुवबधिनी प्रकृतियो को बाधते हुए यदि परावर्तमान असातावेदनीय, वेदत्रिक, हास्य, रति, शोक, अरति, नरकत्रिक, तिर्यंचद्विक, पचेन्द्रियजाति बिना शेष चार जाति, प्रथम सहनन और सस्थान के बिना शेष पाच सस्थान और सहनन, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावरदशक और नीचगोत्र रूप उनचालीस पाप प्रकृतियो को बाधे तो उनका द्विस्थानक, त्रिस्थानक और चतु स्थानक रसबध करता है।

इस प्रकार ध्रुवबधिनी प्रकृतियो को बाधते हुए परावर्तमान पुण्य और पाप प्रकृतियो का जो रसबध कहा है वह स्वयोग्य जघन्य या उत्कृष्ट स्थिति बाधते हुए होता है, यह समझना चाहिये।

उक्त सक्षिप्त कथन का विशेष विचार इस प्रकार है—ध्रुवबधिनी प्रकृतियो की जघन्य स्थिति बाँधते हुए जो परावर्तमान शुभ प्रकृतियाँ बधती है उनका चतु स्थानक रसबध करता है और जो परावर्तमान अशुभ प्रकृतिया बधती है उनका द्विस्थानक रसबध करता है। क्योकि तीन आयु के बिना किन्ही भी प्रकृतियो का जघन्य स्थितिबध प्रशस्त परिणामो से होता है और प्रशस्त परिणाम होने से पुण्य प्रकृतियो का चतु स्थानक और पाप प्रकृतियो का द्विस्थानक रसबध होता है।

जैसे-जैसे परिणामो की मलिनता होती जाती है वैसे-वैसे स्थितिबध अधिकाधिक होता जाता है, तब पुण्य प्रकृतियो मे रसबध मद-मद और पाप प्रकृतियो मे रसबध अधिक-अधिक होता जाता है। जब उत्कृष्ट स्थितिबध करता है तब पाप प्रकृतियो का चतु स्थानक रसबध और पुण्य प्रकृतियो का तथास्वभाव से द्विस्थानक रसबध होता है। इस प्रकार स्थितिबध जैसे-जैसे कम होता है वैसे-वैसे पुण्य प्रकृतियो के रस की वृद्धि और पाप प्रकृतियो के रस की हानि होती जाती है।

इस क्रम से स्थितिबध के अनुसार रसबध किस रीति से बढता है, अब इसको बताते है—ध्रुवबधिनी प्रकृतियो की अजघन्य स्थिति

बाधते हुए परावर्तमान शुभ प्रकृतियो का अथवा अशुभ प्रकृतियो का त्रिस्थानक रसबध करता है। यहा दोनो का समान रसबध होता है, यह नही समझना चाहिये, परन्तु जब अप्रत्याख्यानावरणकषाय मद हो तब पुण्य का तीव्र त्रिस्थानक और पाप का मद त्रिस्थानक रसबध होता है और जैसे-जैसे वह कषाय तीव्र होती जाती है, वैसे-वैसे पुण्य का मद-मद त्रिस्थानक और पाप का तीव्र-तीव्र त्रिस्थानक रसबध होता जाता है। त्रिस्थानक रसबध के असख्य प्रकार होने से यह घटित हो सकता है। ध्रुवबधिनी प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति बाधते हुए परावर्तमान पुण्य प्रकृतियो का द्विस्थानक रसबध और अशुभ प्रकृतियो का चतुस्थानक रसबध करता है। यहाँ भी जैसे-जैसे कषाय का बल बढता जाता है, वैसे-वैसे स्थितिबध अधिक, पुण्य का रस मद और पाप का तीव्र रसबध होता है। इसी कारण पुण्य प्रकृतियो का चतुस्थानकादि त्रिविध रसबध और पाप प्रकृतियो का द्विस्थानकादि त्रिविध रसबध कहा है।

इसका कारण यह है कि जब पुण्यप्रकृतियो का चतुस्थानक रसबध होता हो तब परिणाम अतिशय निर्मल होते है, उस समय स्थितिबध जघन्य होता है और पाप प्रकृतियो का एकस्थानक या द्विस्थानक रसबध होता है। जब पुण्य प्रकृतियो का त्रिस्थानक रसबध होता है, तब शुभ परिणामो की मदता के कारण स्थितिबध अजघन्य—मध्यम होता है और पाप प्रकृतियो का त्रिस्थानक रसबध होता है और जब पुण्य प्रकृतियो का द्विस्थानक रसबध होता है, तब परिणाम की क्लिष्टता होने से स्थितिबध उत्कृष्ट होता है तथा पाप प्रकृतियो का चतुस्थान रसबध होता है।

स्थितिबध और रसबध का आधार कषाय है। जैसे-जैसे कषाय तीव्र वैसे-वैसे स्थितिबध अधिक, पुण्य मे रस मद और पाप मे तीव्र रसबध होता है। इस नियम के अनुसार जब अनन्तानुबधी कषाय तीव्र रूप मे हो तब स्थितिबध उत्कृष्ट, पाप प्रकृतियो मे रस तीव्र चतुस्थानक और पुण्य मे रस मद तथास्वभाव से द्विस्थानक होता है।

जैसे-जैसे वह कषाय घटती जाती है, वैसे-वैसे पाप मे रस मद, पुण्य मे अधिक और स्थितिबध कम होता जाता है।

अप्रत्याख्यानावरणकपाय तीव्र रूप मे हो तब स्थितिबध मध्यम, पुण्य मे त्रिस्थानक और पाप मे भी त्रिस्थानक रसबध होता है, वह कपाय जैसे-जैसे घटती जाती है, वैसे-वैसे पुण्य प्रकृतियो के रस मे वृद्धि और पाप के रस मे हानि होती जाती है।

प्रत्याख्यानावरणकषाय जब तीव्र रूप मे हो तब स्थितिबध पूर्व की अपेक्षा कम, पुण्य का चतु स्थानक रसबध और पाप का द्विस्थानक रसबध होता है। वह भी कषाय के घटने से कम होता जाता है। सज्वलन कषाय जब तीव्र रूप मे हो तब स्थितिबध पूर्व से भी कम पुण्य का चतु स्थानक रसबध परन्तु पूर्व से बहुत अधिक और पाप का द्विस्थानक रसबध होता है। उसकी शक्ति भी जैसे-जैसे घटती जाती है वैसे-वैसे पुण्य का चतु स्थानक रस बढता जाता है और पाप का द्विस्थानक या एकस्थानक रसबध होता है और दसवे गुणस्थान के अत समय मे कपाय अत्यन्त मद होने से पुण्य का अत्यन्त उत्कृष्ट और पाप का अत्यन्त हीन रसबध होता है।

इस प्रकार कपाय की तीव्रमदता पर स्थिति—रसबध की तीव्रमदता निर्भर है।

अब ध्रुवबधिनी प्रकृतियो की जघन्य स्थिति बाधते हुए पुण्य प्रकृतियो का चतु स्थानकादि और पाप प्रकृतियो का द्विस्थानकादि रस बध करनेवाले जीवो का अनन्तरोपनिधा से अल्पबहुत्व कहते है।

चउदुठाणाइ सुभासुभाण बधे जहन्नध्रुवठिइसु।
थोवा विसेसअहिया पुहुत्तपरओ विसेसूणा ॥११०॥

शब्दार्थ—**चउदुठाणाइ**—चतु स्थानक, द्विस्थानक, **सुभासुभाण**—शुभ और अशुभ प्रकृतियो के, **बधे जहन्नध्रुवठिइसु**—ध्रुवप्रकृतियो की जघन्य स्थितिबध मे, **थोवा**—स्तोक, **विसेसअहिया**—विशेषाधिक, **पुहुत्तपरओ**—शत पृथक्त्व सागरोपम से परे, **विसेसूणा**—विशेष न्यून (अल्प-अल्प)।

गाथार्थ—शुभ और अशुभ प्रकृतियो का क्रमश चतु स्थानक और द्विस्थानक रसबध होता हो तव ध्र ुवप्रकृतियो की जघन्य स्थिति के बधक जीव स्तोक-अल्प होते हैं, तत्पश्चात् आगे-आगे की स्थिति वाधने वाले जीव क्रमश विशेषाधिक-विशेपाधिक होते हैं और फिर शतपृथक्त्व सागरोपम से परे के स्थानो में विशेष हीन-हीन (अल्प-अल्प) होते है।

विशेषार्थ—परावर्तमान शुभ प्रकृतियो के चतु स्थानक और परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो के द्विस्थानक रस को बाधते हुए जो जीव ध्र ुवबधिनी प्रकृतियो की जघन्य स्थिति बाधते हैं, वे स्तोक अल्प है। इसके बाद की दूसरी स्थिति जो बाधते हैं, विशेषाधिक है, तीसरी स्थिति बाधने वाले विशेषाधिक हैं, इस प्रकार उत्तरोत्तर वहाँ तक कहना चाहिये यावत् सैकडो सागरोपमपृथक्त्व प्रमाण स्थितिया व्यतीत हो।

यहाँ पृथक्त्व शब्द वहुत्ववाची होने से तात्पर्य इस प्रकार है—

अनेक सैकडो सागरोपम प्रमाण स्थितिया जाये, वहाँ तक अनुक्रम से एक-एक स्थितिस्थान मे विशेषाधिक-विशेषाधिक जीव कहना चाहिये, उसके बाद से विशेषहीन-विशेषहीन कहना और वह भी एक-एक स्थितिस्थान मे विशेषहीन-विशेषहीन अनेक सैकडो साग-रोपम तक कहना चाहिये।

परावर्तमान शुभ और अशुभ प्रकृतियो का त्रिस्थानक रस वाधने पर उस समय जितनी स्थिति वध सके उतनी ध्र ुवबधिनी प्रकृतियो की जघन्य स्थिति वाधने वाले जीव अल्प हैं, उसके बाद की दूसरी स्थिति वाधने वाले विशेपाधिक है, तीसरी स्थिति बाधने वाले विशे-पाधिक है। इस प्रकार उत्तरोत्तर विशेषाधिक-विशेपाधिक वहाँ तक कहना चाहिये, यावत् वहुत से सैकडो सागरोपम प्रमाण स्थितिया जाये। इसके अनन्तर एक-एक स्थितिस्थान विशेपहीन-विशेपहीन कहना चाहिये, वह भी सैकडो सागरोपम प्रमाण स्थितिस्थान पर्यन्त कहना चाहिये।

परावर्तमान शुभ प्रकृतियो का द्विस्थानक रस और परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो का चतुःस्थानक रस बाँधते हुए ध्रुवबधिनी प्रकृतियो की स्वभूमिका के अनुसार जघन्य स्थिति को बाधने वाले यानि उस समय जितनी स्थिति बध सके उतनी स्थिति बाधने वाले जीव अल्प है, उसके बाद की दूसरी स्थिति बाधने वाले विशेषाधिक है, उसके बाद की तीसरी स्थिति बाधने वाले विशेषाधिक है। इस प्रकार वहाँ तक कहना चाहिये यावत् अनेक सैकडो सागरोपम प्रमाण स्थितिया जाये। उसके बाद की स्थिति बाधने वाले जीव उत्तरोत्तर हीन-हीन है। वे भी उत्तरोत्तर स्थितियो मे विशेषहीन-विशेषहीन सैकडो साग-रोपम प्रमाण स्थितिस्थानो पर्यन्त कहना चाहिये।

इस प्रकार अनन्तरोपनिधा से विचार किया। अब इसी बात का परपरोपनिधा द्वारा विचार करते है—

पल्लासखियमूला गतु दुगुणा हवति अद्धा य।
नाणा गुणहाणीणं असखगुणमेगगुणविवर ॥१११॥

शब्दार्थ—**पल्लासखियमूला**—पल्योपम के असख्याते वर्गमूलो, **गतु**—उलाघने के बाद, **दुगुणा**—दुगुने, **हवति**—होते हैं, **अद्धा**—अर्ध, **य**—और, **नाणा**—अनेक, **गुणहाणीण**—गुणहानि के स्थान, **असखगुण**—असख्यातगुणे, **एगगुणविवर**—एक गुण वृद्ध या गुणहीन के अन्तर के स्थान।

गाथार्थ—पल्योपम के असख्याते वर्गमूलो को उलाघने बाद प्राप्त स्थान मे दुगुने-दुगुने जीव सागरोपम शतपृथक्त्व पर्यन्त होते है। उसके बाद उतने ही स्थानो को उलाघने पर अर्ध होते है। गुण वृद्धि और गुण हानि के स्थान अल्प है और गुण वृद्ध या गुणहीन के अतर के स्थान असख्यातगुणे हैं।

विशेषार्थ—परावर्तमान शुभ प्रकृतियो का चतुःस्थानक और अशुभ प्रकृतियो का द्विस्थानक रस बाधते हुए जो जीव ध्रुवबधिनी प्रकृतियो की जघन्य स्थिति बाधते है, उनकी अपेक्षा उस जघन्य स्थिति से लेकर पल्योपम के असख्याते वर्गमूल मे जितने समय होते

हैं, उतने स्थितिस्थानो को उलाघने के बाद जो स्थितिस्थान आत
है उसके बधक जीव दुगुने होते है, फिर वहा से उतने स्थितिस्थान
को उलाघने के बाद जो स्थितिस्थान आता है, उसके बाधने वा
जीव दुगुने होते है। इस प्रकार उतने-उतने स्थितिस्थानो को उलाघ
के बाद प्राप्त होने वाले स्थानो को बाधने वाले जीव दुगुने-दुगुने वह
तक कहना चाहिये यावत् सैकडो सागरोपम प्रमाण स्थितिस्था
जायें। उसके बाद के स्थितिस्थान से लेकर पल्योपम के असख्या
वर्गमूल प्रमाण स्थितिस्थानो को उलाघने के बाद जो स्थितिस्था
प्राप्त होता है, उसमें द्विगुणवृद्धि के अतिम स्थान की अपेक्षा आधे जी
होते है, वहा से फिर उतने स्थितिस्थानो को उलाघने के बाद ज
स्थितिस्थान प्राप्त होता है, उसके बाधने वाले जीव आधे होते हैं
इस प्रकार वहा तक कहना चाहिये यावत् अनेक सैकडो सागरोप
प्रमाण स्थितिस्थान जाये।

सब मिलाकर ये द्विगुणवृद्धि और द्विगुणहानि के स्थान पल्योप
के प्रथम वर्गमूल के असख्यातवे भाग के समय प्रमाण हैं।

जिन स्थानो मे द्विगुणवृद्ध या द्विगुणहीन जीव होते हैं, वे स्था
उसके बाद के स्थान की अपेक्षा अल्प है। क्योकि वे पल्योपम के प्रथ
वर्गमूल के असख्यातवें भाग के समय प्रमाण हैं, उनसे द्विगुणवृद्ध य
द्विगुणहीन एक अतर मे असख्यातगुणे स्थितिस्थान है। क्योकि
पल्योपम के असख्याते वर्गमूल के समय प्रमाण हैं।

इस प्रकार परावर्तमान शुभ या अशुभ प्रकृतियो का त्रिस्थानक
रस बाधने वाले तथा परावर्तमान शुभ प्रकृतियो का द्विस्थानक औ
परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो का चतु स्थानक रस बाधने वाले जीव
के विषय मे भी अल्पबहुत्व कहना चाहिये।

यहा शुभ अथवा अशुभ परावर्तमान प्रकृतियो के रसबध के विषय
मे अनाकारोपयोग में द्विस्थानक रस का बध होता है, ऐसा समझना
चाहिये। यह स्थिति अनुकृष्टि समझने पर समझ मे आ सकती है।

'वह और अन्य' इस प्रकार जहा तक अध्यवसायो की अनुकृष्टि होती है, उसमे से जिस अध्यवसाय द्वारा द्विस्थानक रस वधता है, वह अनाकारोपयोग द्वारा वध सकता है।

अव समस्त स्थितिस्थानो का अल्पवहुत्व कहते है—

चउठाणाई जवमज्झ हिट्ठउवरिं सुभाण ठिइवधा।
सखेज्जगुणा ठिइठाणगाई असुभाण मीसा य ॥११२॥

शब्दार्थ—**चउठाणाई**—चतु स्थानकादि, **जवमज्झ**—यव मध्य, **हिट्ठउवरिं**—नीचे और ऊपर के, **सुभाण**—शुभ प्रकृतियो का, **ठिइबंध**—स्थितिवध, **सखेज्जगुणा**—सख्यातगुण, **ठिइठाणगाई**—स्थितिस्थान, **असुभाण**—अशुभ प्रकृतियो का, **मीसा**—मिश्र, **य**—और।

गाथार्थ—चतु स्थानकादि रस योग्य स्थितिस्थानको के यवमध्य से नीचे और ऊपर के स्थितिस्थान अनुक्रम से सख्यातगुण हैं। शुभ-अशुभ प्रकृतियो का जघन्य स्थितिवध क्रमश सख्यातगुण और विशेपाधिक है और उससे अशुभ प्रकृतियो के द्विस्थानकादि रसयोग्य स्थितिस्थानो के यवमध्य से नीचे-ऊपर के स्थितिस्थान और मिश्र स्थितिस्थान सख्यातगुण हैं।

विशेषार्थ—गाथा में समस्त स्थितिस्थानो आदि का अल्पवहुत्व वताया है—

जितने और जिन स्थितिस्थानो को वाधता हुआ जीव चतु स्थानक रसवध करता है, उनका जो यवमध्य वह चतु स्थानक रसयवमध्य कहलाता है। इसी प्रकार त्रिस्थानक रसयवमध्य और द्विस्थानक रसयवमध्य के लिये भी समझना चाहिये।

परावर्तमान पुण्य प्रकृतियो के चतु स्थानक रसयवमध्य से नीचे के स्थिति-स्थान अल्प है, उनसे चतु स्थानक रसयवमध्य से ऊपर के स्थितिस्थान सख्यातगुण हैं, उनसे परावर्तमान शुभ प्रकृतियो के त्रिस्थानक रसयवमध्य से नीचे के स्थितिस्थान सख्यातगुण है,

उनसे त्रिस्थानक रसयवमध्य से ऊपर के स्थितिस्थान सख्यातगुण हैं, उनसे परावर्तमान पुण्य प्रकृतियो के द्विस्थानक रसयवमध्य से नीचे के एकान्त साकारोपयोग द्वारा बधने वाले स्थितिस्थान सख्यातगुण हैं, उनसे द्विस्थानक रसयवमध्य से नीचे के परन्तु एकान्त साकारोपयोग द्वारा जो स्थितिस्थान बधते है, उनसे ऊपर के साकार और अनाकार इस तरह मिश्र उपयोग द्वारा बधने वाले स्थितिस्थान सख्यातगुण है, उनसे भी द्विस्थानक रसयवमध्य से ऊपर के मिश्र स्थितिस्थान सख्यातगुण है, उनसे भी परावर्तमान पुण्य प्रकृतियो का जघन्य स्थितिबध सख्यातगुण है।

उससे परावर्तमान अशुभप्रकृतियो का जघन्य स्थितिबध विशेषाधिक है, उससे भी परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो के द्विस्थानक रसयवमध्य के नीचे के एकान्त साकारोपयोग द्वारा बधने वाले स्थितिस्थान सख्यातगुण हैं, उनसे भी द्विस्थानक रसयवमध्य के नीचे के परन्तु एकान्त साकारोपयोग द्वारा जो बधते है, उनके ऊपर के मिश्र-साकार और अनाकार इस तरह दोनो उपयोग द्वारा बधने वाले स्थितिस्थान सख्यातगुण हैं, उनसे भी उन्ही परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो के द्विस्थानक रसयवमध्य के ऊपर के मिश्र स्थितिस्थान सख्यातगुण हैं, उनसे उपर के एकान्त साकारोपयोगयोग्य स्थितिस्थान सख्यातगुण है, उनसे भी उन्ही परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो के त्रिस्थानक रसयवमध्य के नीचे के स्थितिस्थान सख्यातगुण हैं, उनसे त्रिस्थानक रसयवमध्य के ऊपर के स्थितिस्थान सख्यातगुण हैं, उनसे परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो के चतु स्थानक रसयवमध्य के नीचे के स्थितिस्थान सख्यातगुण है।

उनसे भी चतु स्थानक रसयवमध्य के ऊपर की डायस्थिति[1]

---

१ जिस स्थितिस्थान से अपवर्तनाकरण द्वारा उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त हो उतनी स्थिति डायस्थिति कहलाती है।

सख्यातगुणी है, उससे भी अन्त कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति-सख्यातगुणी है, उससे भी परावर्तमान पुण्य प्रकृतियो के द्विस्थानक रसयवमध्य के ऊपर के जो मिश्र स्थितिस्थान है, उनके ऊपर के एकान्त साकारोपयोग योग्य स्थितिस्थान सख्यातगुण है, उनसे भी परावर्तमान पुण्य प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थितिबध विशेषाधिक है।

उससे भी परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो की बद्धडायस्थिति[1] विशेषाधिक है, उससे भी परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थितिबध विशेषाधिक है।

इस प्रकार से स्थितिस्थानो का अल्पबहुत्व बतलाने के बाद गाथा का अर्थ किस प्रकार करना चाहिये, इसको स्पष्ट करते है—चतुःस्थानकादि परावर्तमान शुभ प्रकृतियो के चतु स्थानक, त्रिस्थानक और द्विस्थानक रस वाले प्रत्येक के यवमध्य से नीचे के और ऊपर के स्थितिस्थान अनुक्रम से सख्यातगुण है और गाथा के अत मे रहा हुआ च शब्द अनुक्त अर्थ का समुच्चय करने वाला होने से द्विस्थानक रस यवमध्य के नीचे-ऊपर के मिश्र स्थितिस्थान सख्यातगुण कहना चाहिये तथा शुभ-अशुभ प्रकृतियो का जघन्य स्थितिबध अनुक्रम से सख्यातगुण और विशेषाधिक कहना चाहिये। उनसे परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो के द्विस्थानक, त्रिस्थानक और चतु स्थानक रस वाले प्रत्येक के स्थितिस्थान के यवमध्य से नीचे के और ऊपर के स्थितिस्थान सख्यातगुण है और द्विस्थानक रस यवमध्य के नीचे, ऊपर के मिश्र स्थितिस्थान भी सख्यातगुण हैं। 'च' शब्द अनुक्त का समुच्चायक

---

१ जिस स्थितिस्थान को बांधकर जीव मडूकप्लुति न्याय से टाप—फाला छलांग मारकर उत्कृष्ट स्थिति बांधे वहां से लेकर वहां तक की स्थिति को बद्धडायस्थिति कहते हैं। अन्त कोटाकोटी सागरोपम प्रमाण स्थितिबंध करके पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय जीव अनन्तर समय में उत्कृष्ट स्थितिबंध कर सकता है, अतएव अन्त कोटाकोटी सागरोपम न्यून संपूर्ण कर्मस्थिति प्रमाण स्थिति बद्धडायस्थिति कहलाती है।

होने से डायस्थिति एव अन्त कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति क्रम से सख्यातगुण है।

उससे परावर्तमान पुण्य प्रकृतियो के द्विस्थानक रस यवमध्य के ऊपर के एकान्त साकारोपयोग योग्य स्थितिस्थान सख्यातगुण है। उनसे परावर्तमान पुण्य प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थितिवध परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो की बद्धडायस्थिति और परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थितिबध अनुक्रम से विशेषाधिक है। इसी वात को स्पप्ट करने के लिये सभी स्थानो का अल्पवहुत्व विस्तार से पूर्व में कहा गया है।

अव इस विपय मे जीवो का अल्पवहुत्व कहते हैं—परावर्तमान पुण्य प्रकृतियो का चतु स्थानक रस वाधने वाले जीव अल्प हैं, उनसे त्रिस्थानक रस बाधने वाले जीव सख्यातगुण है, उनसे भी द्विस्थानक रस वाधने वाले जीव सख्यातगुण हैं, उनसे परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो का द्विस्थानक रस बाधने वाले जीव सख्यातगुण है, उनसे भी चतु स्थानक रस बाँधने वाले सख्यातगुण है और उनसे भी त्रिस्थानक रस वाधने वाले जीव विशेपाधिक है।

इस प्रकार बधनकरण का विवेचन समाप्त हुआ।

परिशिष्ट (१)

बंधनकरण प्ररूपणा अधिकार की मूलगाथाएँ

नमिऊण सुयहराण वोच्छ करणाणि बंधणाईणि ।
संकमकरण बहुसो अइदेसिय उदय संत ज ॥१॥

आवरणदेससव्वक्खयेण दुहेह वीरियं होइ ।
अभिसंधिय अणभिसंधिय अकसाय सलेसि उभयपि ॥२॥

होइ कसाइवि पढम इयरमलेसीवि ज सलेस तु ।
गहण परिणामफंदणरूव त जोगओ तिविह ॥३॥

जोगो विरियं थामो उच्छाहपरक्कमो तहा चेट्ठा ।
सत्ति सामत्थ चिय जोगस्स हवति पज्जाया ॥४॥

पन्नाए अविभाग जहन्नविरियस्स वीरिय छिन्न ।
एक्केक्कस्स पएसस्स असख लोगप्पएससम ॥५॥

सव्वप्प वीरिएहिं जीवपएसेहिं वग्गणा पढमा ।
बीयाइ वग्गणाओ रूवुत्तरिया असखाओ ॥६॥

ताओ फड्डगमेग अओपर नत्थि रूववुड्ढीए ।
जाव असखालोगा पुव्वविहाणेण तो फड्डा ॥७॥

सेढी असखभागिय फड्डेहिं जहन्नय हवइ ठाण ।
अगुल असखभागुत्तराइ भूओ असखाइ ॥८॥

सेढि असखियभाग गतु गतु हवति दुगुणाइं ।
फड्डाइ ठाणेसु पलियासखसगुणकारा ॥९॥

वड्ढति व हायति व चउहा जीवस्स जोगठाणाइ ।
आवलिअसखभागतमुहुत्तमसखगुणहाणी ॥१०॥

जोगट्ठाणठिईओ चउसमयादट्ठ दोण्णि जा तत्तो ।
अट्ठगुभय ठिइयाओ जहा परम सख गुणियाण ॥११॥

सुहुमेयराइयाण जहन्नउक्कोस पज्जपज्जाण ।
आसज्ज असखगुणाणि होति इह जोगठाणाणि ॥१२॥

जोगणुरूव जीवा परिणामतीह गिण्हिउ दलिय ।
भासाणुप्पाणमणोचिय च अवलबए दव्व ।१३॥

एगपएसाइ अणतजाओ होऊण होति उरलस्स ।
अज्जोगतरियाओ उ वग्गणाओ अणताओ ॥१४॥

ओरालविउव्वाहार तेयभासाणुपाणमणकम्मे ।
अह दव्व वग्गणाण कमो विवज्जासओ खित्ते ॥१५॥

कम्मोवरिं धुवेयर सुन्ना पत्तेय सुन्न बादरगा ।
सुन्ना सुहुमे सुन्ना महक्खधो सगुणनामाओ ॥१६॥

सिद्धाणतसेण अहव्व अभव्वेहणतगुणिएहिं ।
जुत्ता जहन्न जोग्गा ओरलाइण भवे जेट्ठा ॥१७॥

पचरस पच वन्नेहिं परिणया अटठ्फास दो गधा ।
जावाहरग जोग्गा चउफासाविसेसिया उवरिं ॥१८॥

अविभागाईनेहेण जुत्तया ताव पोग्गला अत्थि ।
सव्वजियाणत गुणेण जाव नेहेण सजुत्ता ॥१९॥

जे एगनेह जुत्ता ते वहवो तेहिं वग्गणा पढमा ।
जे दुगनेहाइजुया असखभागूण ते कमसो ॥२०॥

इय एरिस हाणीए जति अणता उ वग्गणा कमसो ।
सखसूणा तत्तो सखगुणूणा तओ कमसो ॥२१॥

तत्तो असखगुणूणा अणतगुणऊणियावि तत्तोवि ।
गतुमसखा लोगा अद्धद्धा पोग्गला भूय ॥२२॥

पढमहाणीए एव बीयाए सखवग्गणा गतु ।
अद्ध उवरित्थाओ हाणीओ होति जा जीए ।।२३।।

थोवाओ वग्गणाओ पढमहाणीय उवरिमासु कमा ।
होति अणतगुणाओ अणतभागो पएसाण ।।२४।।

पचण्ह सरीराण परमाणूण मईए अविभागो ।
कप्पियगाणेगसो गुणाणु भावाणु वा होज्जा ।।२५।।

जे सव्वजहन्नगुणा जोग्गा तणुबधणस्स परमाणु ।
तेवि उ सखासखा गुणपलिभागे अइक्कता ।।२६।।

सव्वजियाणतगुणेण जे उ नेहेण पोग्गला जुत्ता ।
ते वग्गणा उ पढमा बधणनामस्स जोग्गाओ ।।२७।।

अविभागुत्तरियाओ सिद्धाणमणतभाग तुल्लाओ ।
ताओ फड्डगमेग अणतविवराइ इय भूय ।।२८।।

जइम इच्छसि फड्ड तत्तिय सखाए वग्गणा पढमा ।
गुणिया तस्साइल्ला रूवुत्तरियाओ अण्णाओ ।।२९।।

अभवाणतगुणाइ फड्डाइ अतरा उ रूवूणा ।
दोण्णतर वुड्ढिओ परपरा होति सव्वाओ ।।३०।।

पढमाउ अणतेहि सरीरठाण तु होई फड्डेहि ।
तयणतभागवुड्ढी कडकमित्ता भवे ठाणा ।।३१।।

एक असखभागुत्तरेण पुण णतभागवुड्ढिए ।
कडकमेत्ता ठाणा असखभागुत्तार भूय ।।३२।।

एव असखभागुत्तराणि ठाणाणि कडमेत्ताणि ।
सखेज्जभागवुड्ढ पुण अन्न उट्ठए ठाण ।।३३।।

अमुयतो तह पुव्वुत्तराइ एयपिनेसु जा कड ।
इय एय विहाणेण छव्विहवुड्ढी उ ठाणेसु ।।३४।।

अस्सखलोग तुल्ला अणतगुणरसजुया य इय ठाणा ।
कडति एत्थ भन्नइ अगुलभागो असखेज्जो ।।३५।।

होई पओगो जोगो तटठ्ाणविवड्ढणाए जो उ रसो ।
परिवड्ढेइ जीवे पओगफड्ड तय वेति ॥३६॥

अविभागवग्गफड्डगअतरठाणाइ एत्थ जह पुव्वि ।
ठाणाइवग्गणाओ अणतगुणणाए गच्छति ॥३७॥

तिण्हपि फड्डगाण जहन्नउक्कोसगा कमा ठविउ ।
नेयाणतगुणाओ वग्गणा णेहफड्डाओ ॥३८॥

अणुभागविसेसाओ मूलुत्तरपगइभेयकरण तु ।
तुल्लस्सावि दलस्सा पगइओ गोणनामाओ ॥३९॥

ठिइबधु दलस्स ठिई पएसबधो पएसगहण ज ।
ताण रसो अणुभागो तस्समुदाओ पगइबधो ॥४०॥

मूलुत्तरपगईण पुव्व दलभागसभवो वुत्तो ।
रसभेएण इत्तो मोहावरणाण निसुणेह ॥४१॥

सव्वुक्कोसरसो जो मूलविभागस्सणतिमो भागो ।
सव्वघाईण दिज्जइ सो इयरो देसघाईण ॥४२॥

उक्कोसरसस्सद्ध मिच्छे अद्ध तु इयरघाईण ।
सजलणनोकसाया सेस अद्धद्धय लेति ॥४३॥

जीवस्सज्झवसाया सुभासुभासखलोकपरिमाणा ।
सव्वजीयाणतगुणा एक्केक्के होति भावाणू ॥४४॥

एकज्झवसायमज्जियस्स दलियस्स किं रसो तुल्लो ।
नहु होति णतभेया साहिज्जते निसामेह ॥४५॥

सव्वप्परसे गेण्हइ जे वहवे तेहिं वग्गणा पढमा ।
अविभागुत्तरिएहिं अन्नाओ विसेसहीणेहिं ॥४६॥

दव्वेहि वग्गणाओ सिद्धाणमणतभाग तुल्लाओ ।
एय पढम फड्ड अओ पर नत्थि रूवहिया ॥४७॥

सव्वजियाणतगुणे पलिभागे लघिउ पुणो अन्ना ।
एव भवति फड्डा सिद्धाणमणतभागसमा ॥४८॥

एय पढम ठाण एवमसखेज्ज लोगठाणाण ।
समवग्गणाणि फड्डाणि तेसि तुल्लाणि विवराणि ।।४६।।

ठाणाण परिवुड्ढी छट्ठाणकमेण त गय पुव्वि ।
भागो गुणो य कीरइ जहोत्तर एत्थ ठाणाण ।।५०।।

छट्ठाणगअवसाणे अन्न छट्ठाणय पुणो अन्न ।
एवमसखालोगा छट्ठाणाण मुणेयव्वा ।।५१।।

सव्वासि वुड्ढीण कडगमेत्ता अणतरा वुड्ढी ।
एगतराउ वुड्ढी वग्गो कडस्स कड च ।।५२।।

कड कडस्स घणो वग्गो दुगुणो दुगतराए उ ।
कडस्स वग्गवग्गो घण वग्गा तिगुणिया कड ।।५३।।

अडकड वग्गवग्गा वग्गा चत्तारि छग्घणा कड ।
चउ अतर वुड्ढीए हेट्ठट्ठाण परूवणया ।।५४।।

परिणामपच्चएण एसा नेहस्स छव्विहा वुड्ढी ।
हाणी व कुणति जिया आवलिभाग असखज्ज ।।५५।।

अतमुहुत्त चरिमा उ दोवि समय तु पुण जहन्नेण ।
जवमज्झविहाणेण एत्थ विगप्पा बहुठिइया ।।५६।।

सुहुमगणि पविसता चिट्ठता तेसि कायठिइकालो ।
कमसो असखगुणिया तत्तो अणुभागठाणाइ ।।५७।।

कलिबारतेयकडजुम्मसन्निया होति रासिणो कमसो ।
एगाइ सेसगा चउहियमि कडजुम्म इह सव्वे ।।५८।।

सव्वत्थोवा ठाणा अणतगुणणाए जे उ गच्छति ।
तत्तो असखगुणिया णतरवुड्ढीए जहा जेट्ठा ।।५६।।

होति परपरवुड्ढीए थोवगाणतभाग वुड्ढा जे ।
अस्सखसखगुणिया एक्क दो दो असखगुणा ।।६०।।

एगट्ठाणपमाण अतरठाणा निरतरा ठाणा ।
कालो वुड्ढी जवमज्झ फासणा अप्पबहु दारा ।।६१।।

एक्केक्कमि असखा तसेयराणतया सपाउग्गे ।
एगाइ जाव आवलि असखभागो तसा ठाणे ॥६२॥

तसजुत्तठाणविवरेसु सुन्नया होंति एक्कमाईया ।
जाव असंखा लोगा निरन्तरा थावरा ठाणा ॥६३॥

दोआइ जाव आवलिअसखभागो निरतर तसेहिं ।
नाणाजीएहि ठाण असुन्नय आवलि असख ॥६४॥

जवमज्झमि वहवो विसेसहीणाउ उभयओ कमसो ।
गतुमसखा लोगा अद्धद्धा उभयओ जीवा ॥६५॥

आवलिअसखभाग तसेसु हाणीण होइ परिमाण ।
हाणि दुगतरठाणा थावरहाणी असखगुणा ॥६६॥

जवमज्झे ठाणाइ असखभागो उ सेसठाणाण ।
हेट्ठमि होंति थोवा उवरिम्मि असखगुणियाणि ॥६७॥

दुगचउरट्ठतिसमइग सेसा य असखगुणणया कमसो ।
काले ईए पुट्ठा जिएण ठाणा भमतेण ॥६८॥

तत्तो विसेसअहिय जवमज्झा उवरिमाइ ठाणाइ ।
तत्तो कडगहेट्ठा तत्तोवि हु सव्वठाणाइ ॥६९॥

फासण कालप्पवहू जह तह जीवाण भणसु ठाणेसु ।
अणुभागवधठाणा अज्झवसाया व एगट्ठा ॥७०॥

ठिइठाणे ठिइठाणे कसायउदया असखलोगसमा ।
एक्केक्कसायउदये एव अणुभागठाणाइ ॥७१॥

थोवाणुभागठाणा जहन्नठिइपढमवधहेउम्मि ।
तत्तो विसेसअहिया जा चरमाए चरमहेउ ॥७२॥

गतुमसखालोगा पढमाहिंतो भवति दुगुणाणि ।
आवलि असखभागो दुगुणठाणाण सवग्गो ॥७३॥

असुभपगईणमेव इयराणुक्कोसगम्मि ठिइवधे ।
सव्वुक्कोसगहेऊ उ होइ एव च्चिय असेस ॥७४॥

थोवाणुभागठाणा जहन्नठिइबध असुभपगईण ।
समयवुड्ढीए किचाहियाइ सुहियाण विवरीय ।।७५।।

पलियासखियमेत्ता ठिइठाणा गतु गतु दुगुणाइ ।
आवलिअसखमेत्ता गुणा गुणतरमसखगुण ।।७६।।

सव्वजहन्नठिईए सव्वाण वि आउगाण थोवाणि ।
ठाणाणि उत्तरासु असखगुणणाए सेढीए ।।७७।।

गठीदेसे सन्नी अभव्वजीवस्स जो ठिईबधो ।
ठिइवुड्ढीए तस्स उ बधा अणुकड्ढिओ तत्तो ।।७८।।

वग्गे-वग्गे अणुकड्ढी तिव्वमदत्तणाइ तुल्लाइ ।
उवघायघाइपगडी कुवन्ननवग असुभवग्गो ।।७९।।

परघायबधणतणु अग सुवन्नाइ तित्थनिम्माण ।
अगुरुलघूसासतिग सघाय छयाल सुभवग्गो ।।८०।।

साय थिराइ उच्च सुरमणु दो-दो पणिदि चउरस ।
रिसह पसत्थविहगई सोलस परियत्तसुभवग्गो ।।८१।।

अस्सायथावरदसगनरयदुग विहगगई य अपसत्था ।
पचिदिरिसहचउरसगेयरा असुभघोलणिया ।।८२।।

मोत्तुमसखभाग जहन्न ठिइठाणगाण सेसाणि ।
गच्छति उवरिमाए तदेकदेसेण अन्नाणि ।।८३।।

एव उवरि हुत्ता गतुण कडमेत्त ठिइबधा ।
पढमठिइठाणाण अणुकड्ढी जाइ परिणिट्ठ ।।८४।।

तदुवरिमआइयासु कमसो बीयाईयाण निटठाइ ।
ठिइठाणाणणुकड्ढी आउक्कस्स ठिई जाव ।।८५।।

उवघायाईणेव एसा परघायमाइसु विसेसो ।
उक्कोसठिईहिंतो हेट्ठमुह कीरइ असेस ।।८६।।

सप्पडिवक्खाण पुण असायसायाइयाण पगईण ।
ठावेसु ठिइठाणा अतोकोडाइ नियनियगा ।।८७।।

जा पडिवक्खक्कता ठिईओ ताण कमो इमो होइ।
ताणन्नाणिय ठाणा सुद्धठिईण तु पुव्वकमो ॥८८॥

मोत्तूण नीयमियरासुभाण जो जो जहन्नठिइबधो।
नियपडिवक्खसुभाण ठावेयव्वो जहन्नयरो ॥८९॥

पडिवक्खजहन्नयरो तिरिदुगनीयाण सत्तममहीए।
सम्मत्तादीए तओ अणुकड्ढी उभयवग्गेसु ॥९०॥

अट्ठारस कोडीओ परघायकमेण तसचउक्केवि।
कड निव्वत्तणकडक च पल्लस्ससखसो ॥९१॥

जा निव्वत्तणकड जहन्नठिइपढमठाणगाहिंतो।
गच्छति उवरिहुत्त अणतगुणणाए सेढीए ॥९२॥

तत्तो पढमठिईए उक्कोस ठाणग अणतगुण।
तत्तो कडग-उवरिं आ-उक्कस्स नए एव ॥९३॥

उक्कोसाण कड अणतगुणणाए तन्नए पच्छा।
उवघायमाइयाण इयराणुक्कोसगाहिंतो ॥९४॥

अस्सायजहन्नठिईठाणेंहि तुल्लयाइ सव्वाण।
आपडिवक्खक्कतग ठिईणठाणाइ हीणाइ ॥९५॥

तत्तो अणतगुणणाए जति कडस्स सखियाभागा।
तत्तो अणतगुणिय जहन्नठिई उक्कस्स ठाण ॥९६॥

एव उक्कस्साण अणतगुणणाए कडक वयइ।
एक जहन्नठाण जाइ परक्कतठाणाण ॥९७॥

उवरिं उवघायसम सायस्सवि नवरि उक्कसठिइओ।
अतेसुवघायसम मज्झे नीयस्ससायसम ॥९८॥

सजय वादरसुहुमग पज्जअपज्जाण हीणमुक्कोसो।
एव विगलासन्निसु सजय उक्कोसगो बधो ॥९९॥

देस दुग विरय चउरो सन्निपञ्चिन्दियस्स चउरो य।
सखेज्जगुणा कमसो सञ्जय उक्कोजगाहिंतो ॥१००॥

थोवा जहन्नबाहा उक्कोसाबाहठाणकंडाणि ।
उक्कोसिया अबाहा नाणापएसंतरा तत्तो ॥१०१॥

एग पएसविवरं अबाहाकंडगस्स ठाणाणि ।
हीणठिइ ठिइट्ठाणा उक्कोसटि्ठइ तओ अहिया ॥१०२॥

आउसु जहन्नबाहा जहन्नबंधो अबाहठाणाणि ।
उक्कोसबाह नाणंतराणि एगंतर तत्तो ॥१०३॥

ठिइबंधट्ठाणाइं उक्कोसठिई तओ वि अब्भहिया ।
सन्निसु अप्पाबहुयं दसट्ठभेयं इमं भणियं ॥१०४॥

ठिइठाणे ठिइठाणे अज्झवसाया असंखलोगसमा ।
कमसो विसेसअहिया सत्तण्हाउस्सऽसंखगुणा ॥१०५॥

पल्लासंखसमाओ गंतूण ठिईओ होंति ते दुगुणा ।
सत्तण्हज्झवसाया गुणगारा ते असंखेज्जा ॥१०६॥

ठिइदीहाए कमसो असंखगुणणाए होंति पगईणं ।
अज्झवसाया आउगनामट्ठमदुविहमोहाणं ॥१०७॥

सव्वजहन्नस्स रसाइणंतगुणिओ य तस्स उक्कोसो ।
ठिइबंधे ठिइबंधे अज्झवसाओ जहाकमसो ॥१०८॥

धुवपगई बंधंता चउठाणाई सुभाण इयराणं ।
दो ठाणगाइ तिविहं सट्ठाणजहन्नगाईसु ॥१०९॥

चउदुठाणाइ सुभासुभाण बंधे जहन्नधुवठिइसु ।
थोवा विसेसअहिया पुहुत्तपरओ विसेसूणा ॥११०॥

पल्लासंखियमूला गंतु दुगुणा हवंति अद्धा य ।
नाणा गुणहाणीणं असंखगुणमेगगुणविवरं ॥१११॥

चउठाणाई जवमज्झ हिट्ठउवरिं सुभाण ठिइबंधा ।
संखेज्जगुणा ठिइठाणगाई असुभाण मीसा य ॥११२॥

परिशिष्ट : २

बंधनकरण : गाथा-अकाराद्यनुक्रम

परिशिष्ट ३

वीर्य शक्ति का स्पष्टीकरण एवं भेद-प्रभेद-दर्शक प्रारूप

वीर्य शक्ति भी ज्ञान, दर्शन आदि अनन्त गुणो की तरह जीव का शाश्वत अविनाभावी गुण है। जीव कैसी भी अविकसित दशा मे हो लेकिन उसमे यथायोग्य वीर्य शक्ति अवश्य ही पायी जाती है।

जीव दो प्रकार के है—ससारी और मुक्त। मुक्त जीवो मे वीर्य शक्ति समान होती है। किसी प्रकार की हीनाधिकता नही होती है। जबकि ससारी जीव विविध प्रकार के होने से उनकी वीर्य शक्ति मे भिन्नता होती है। ससारी जीवो की वीर्य शक्ति का ही अपर नाम योग है। इसका कारण यह है कि ससारी जीव की वीर्य शक्ति की अभिव्यक्ति मन, वचन और काय के योग—साधन, माध्यम से होती है। इसीलिये इसे योग कहते हैं।

अथवा जीव दो प्रकार के हैं—अलेश्य और सलेश्य। अलेश्य (लेश्यारहित) जीवो की वीर्य शक्ति समस्त कर्मो के क्षय हो जाने से क्षायिक कहलाती है। नि शेष रूप से कर्मक्षय होने के कारण वह वीर्य शक्ति कर्मबध का कारण नही बनती है। इसलिये अलेश्य जीवो का कोई भेद नही है और न उनकी वीर्य शक्ति मे तरतमताजनित अन्तर है। किन्तु सलेश्य (लेश्या सहित) जीवो की वीर्य शक्ति कर्मबध का कारण होने से यहाँ उनकी वीय शक्ति का विस्तार से विचार करते हैं।

सलेश्य जीवो मे कार्यभेद एव स्वामिभेद की अपेक्षा वीर्य के दो प्रकार हो जाते हैं। कार्यभेद की अपेक्षा वाला वीर्यप्रकार एक जीव को एक समय मे अनेक प्रकार का होता है तथा स्वामिभेद की अपेक्षा वाला प्रकार एक जीव को एक समय मे एक प्रकार का और अनेक जीवो की अपेक्षा अनेक प्रकार का है।

सलेश्य जीवो के दो भेद है—छद्मस्थ और केवली। अत वीर्य उत्पत्ति के भी दो रूप हैं—वीर्यान्तरायकर्म के देशक्षयरूप और सर्वक्षयरूप। देशक्षय से प्रगट होने वाले वीर्य को क्षायोपशमिक और सर्वक्षयजन्य वीर्य को क्षायिक कहते हैं। देशक्षय से छद्मस्थो मे और सर्वक्षय से केवलियो मे वीर्य प्रगट होना है। जिसमे सलेश्य वीर्य के दो भेद हैं—छाद्मस्थिक सलेश्य वीर्य और कैवलिक सलेश्य वीर्य।

केवली जीव अकषायी होते हैं। अतएव उनका अवान्तर कोई भेद नही होता है। उनमे कषायरहित मन-वचन-काय परिस्पन्दन रूप वीर्य शक्ति होती है।

छाद्मस्थिक जीव दो प्रकार के हैं—अकषायी सलेश्य और सकषायी सलेश्य। कषायो का दसवें सूक्ष्मसपराय गुणस्थान मे विच्छेद हो जाने से छाद्मस्थिक अकषायी सलेश्य वीर्य ग्यारहवें और बारहवें (उपशातमोह, क्षीणमोह) गुणस्थानवर्ती जीवो मे और छाद्मस्थिक सकषायी सलेश्य वीर्य दसवें गुणस्थान तक के जीवो मे पाया जाता है।

सलेश्य जीवों की प्रवृत्ति दो रूपों मे होती है—एक तो दौडना, चलना, खाना आदि निश्चित कार्य करने रूप प्रयत्नपूर्वक और दूसरी बिना प्रयत्न के स्वयमेव होती रहती है। प्रयत्नपूर्वक होने वाली प्रवृत्ति को अभिसधिज और बिना प्रयत्न के स्वयमेव सहज रूप से होने वाली प्रवृत्ति को अनभिसधिज कहते हैं।

वीर्य शक्ति के उक्त स्पष्टीकरण एव भेदों को सरलता से इस प्रकार जाना जा सकता है—
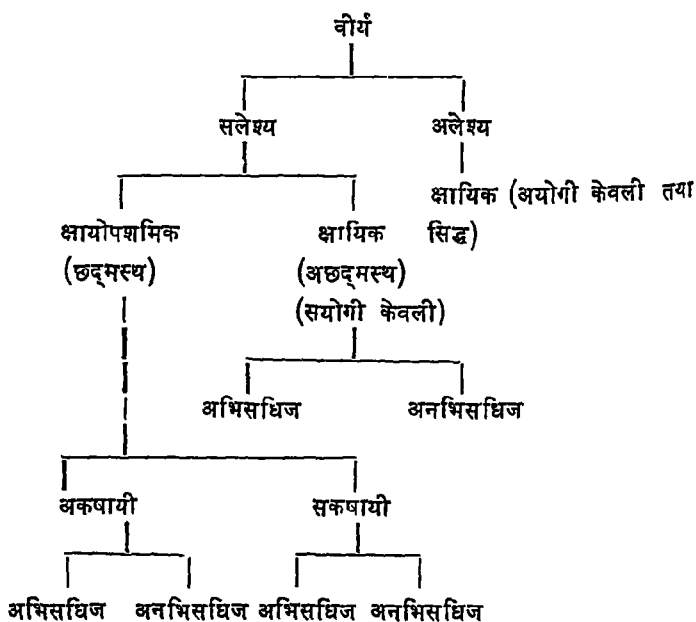
चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय मे और सिद्धो का अकारण वीर्य होता है।

□□

परिशिष्ट ४

योग विचारणा के प्रमुख अधिकारों का स्पष्टीकरण

सलेश्य जीव का वीर्य—योग कर्मबंध का कारण है। ग्रन्थकार आचार्य ने इसकी प्ररूपणा निम्नलिखित दस अधिकारो द्वारा की है—

१ अविभाग प्ररूपणा, २ वर्गणा प्ररूपणा ३ स्पर्धक प्ररूपणा, ४ अन्तर प्ररूपणा, ५ स्थान प्ररूपणा, ६ अनन्तरोपनिधा प्ररूपणा, ७ परपरोपनिधा प्ररूपणा ८ वृद्धि (हानि) प्ररूपणा, ९ काल प्ररूपणा, १० जीवाल्पबहुत्व प्ररूपणा।

इनमे से स्थान प्ररूपणा, काल प्ररूपणा और जीवाल्पबहुत्व प्ररूपणा को स्पष्ट करते हैं। शेष प्ररूपणाएँ सुगम होने से उनको यथाप्रसग ग्रन्थ से जान लेना चाहिये।

स्थान प्ररूपणा

श्रेणी के असख्यातवें भाग प्रमाण स्पर्धको का एक योगस्थान होता है और ऐसे ये सभी योगस्थान भी श्रेणी के असख्यातवें भागगत प्रदेश प्रमाण होते हैं।

योगस्थान के तीन भेद हैं—उपपाद योगस्थान, एकान्तानुवृद्धि योग-स्थान, परिणाम योगस्थान। भव धारण करने के पहले समय मे रहने वाले

जीव के उपपाद योगस्थान होता है। अर्थात् भव के प्रथम समय मे सभव योग, उपपाद योगम्थान है। भव धारण करने के दूसरे समय से लेकर एक समय कम शरीरपर्याप्ति के अन्तर्मुहूर्त तक एकान्तानुवृद्धि योगस्थान होता है, जो समय-समय असख्यातगुण अविभाग प्रतिच्छेदो की वृद्धिरूप है और शरीरपर्याप्ति के पूर्ण होने के समय से लेकर भवान्त समय तक होने वाले योग को परिणाम योगस्थान कहते है। ये शरीर पर्याप्ति के पूर्ण होने के समय से लेकर आयु के अन्त समय तक सपूर्ण समयो मे उत्कृष्ट भी और जघन्य भी सभव है।

ऐसे लब्ध्यपर्याप्तक जीव के भी जिसकी शरीरपर्याप्ति पूर्ण नही होती, अपनी आयु के अन्त के त्रिभाग के प्रथम समय से लेकर अन्त समय तक स्थिति के सब भेदो मे उत्कृष्ट और जघन्य दोनो प्रकार के परिणाम योगस्थान जानना चाहिये।

असत्कल्पना से योगस्थानो का प्रारूप आगे दिया जा रहा है।

समय प्ररूपणा

पर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव के जघन्य योगस्थान पर्यन्त सर्व योग-स्थान से सज्ञी पचेन्द्रिय के उत्कृष्ट योगस्थान पर्यन्त सर्व योगस्थानो को स्थापित किया जाये तो कितने ही (श्रेणि के असख्यातवें भाग प्रमाण) योग-स्थान उत्कृष्ट से चार समय की स्थिति वाले होते है। उससे आगे उतने ही योगस्थान उत्कृष्ट से पाच समय की, उससे आगे उतने योगस्थान छह समय की, उससे आगे उतने योगस्थान सात समय की, उससे आगे उतने योगस्थान आठ समय की स्थिति वाले होते हैं। उससे आगे उतने-उतने योगस्थान प्रतिलोम क्रम मे क्रमश सात, छह, पाच, चार, तीन, दो, समय की स्थिति वाले होते है।

इन सभी योगस्थानो की जघन्य स्थिति एक समय की होती है। इस प्रकार जघन्य से लेकर सर्वोत्कृष्ट योगस्थान तक के सब योगस्थानो के बारह विभाग इस प्रकार हो जाते हैं—

क्रम	विभाग नाम	योगस्थान की संख्या	समय स्थिति उ०	ज०
१	एक सामयिक श्रेणी के असख्यात भाग प्रमाण		१	१
२	चतु ,,	,,	४	१
३	पच ,,	,,	५	१
४	षट् ,,	,,	६	१
५	सप्त ,,	,,	७	१
६	अप्ट ,,	,,	८	१
७	सप्त ,,	,,	७	१
८	षट् ,,	,,	६	१
९	पच्च ,,	,,	५	१
१०	चतु. ,,	,,	४	१
११	त्रि ,,	,,	३	१
१२	द्वि ,,	,,	२	१

समय की अपेक्षा ये वारह विभागात्मक योगस्थान यवाकृतिरूप होते हैं।
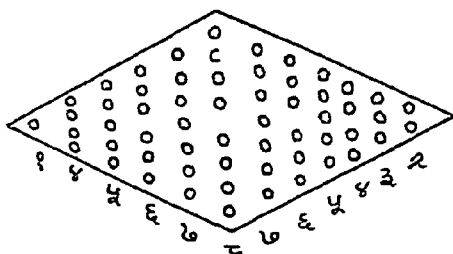
इन वारह विभागात्मक योगस्थानो के यवाकृतिरूप होने का कारण

यह है कि जघन्य योग के अनन्तर जैसे-जैसे वीर्य वृद्धि होती है, वैसे-वैसे चार, पाच, छह, सात और आठ समय की तथा उसके बाद अवरोह क्रम से सात, छह, पाच, चार, तीन, दो समय तक की स्थिति होती है। इस कारण जैसे यव (जौ) का मध्य भाग मोटा होता है, वैसे ही योगरूप इस यव का मध्य विभाग आठ समय जितनी अधिक स्थिति वाला है और यव की दोनो बाजुएँ जैसे हीन-हीन होती हैं वैसे ही योगरूप यव के अष्ट समयात्मक मध्य विभाग से सप्त सामयिक आदि उभयपार्श्ववर्ती विभाग हीन-हीन स्थिति वाले हैं।

इस प्रकार से समयाधिक्य की अपेक्षा योगस्थानो को यवरूप स्थिति मे जानना चाहिये।

लेकिन निरन्तर प्रवर्तने की अपेक्षा इन योगस्थानो की हीनाधिकता डमरूक के आकार जैसी होती है। अर्थात् जैसे डमरूक का मध्य भाग सकडा होता है, उसी प्रकार इस योगरूप डमरूक के मध्य भाग रूप अष्ट सामयिक योगस्थान अल्प (श्रेणी के असख्यातवें भाग प्रमाण) हैं और डमरूक के पूर्वोत्तर दोनो भाग क्रमश चौडे होते जाते है, उसी प्रकार इस

योगस्थान रूप डमरूक के पूर्वोत्तर पार्श्व रूप सप्तसामयिक आदि वाले स्थान क्रमशः असंख्यातगुणे-असंख्यातगुणे अधिक-अधिक हैं। यह क्रम उभय पार्श्ववर्ती चतुःसामयिक योगस्थान तक समझना चाहिये और चतुःसामयिक से उत्तर पार्श्ववर्ती त्रिसामयिक और द्विसामयिक अनुक्रम से असंख्यातगुणे, असंख्यातगुणे हैं। जिसका दर्शक प्रारूप इस प्रकार है--

xxxxx0000xxxx	द्विसामयिक योगस्थान
xxx00000 xxx	त्रि " " "
xxx00 00xxx	चतु " " "
xx000000xx	पञ्च " " "
xx0000xx	षट् " " "
xx000xx	सप्त " " "
← 000	अष्ट सामयिक योग स्थान
xx000xx	सप्त " "
x x000xx	षट् " "
x xx00000xxx	पञ्च " "
xxxx0000000xxxx	चतु " " "
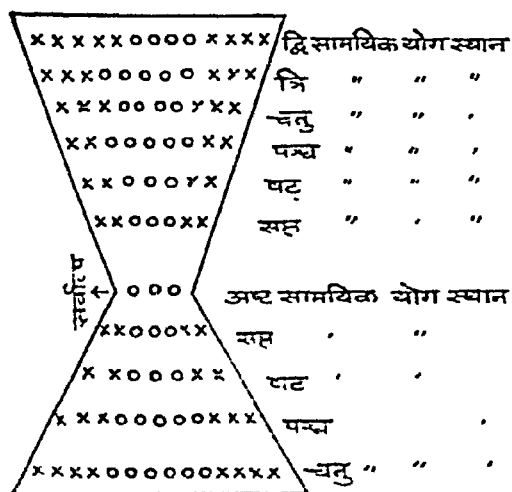
इन वृद्धि और हानि मे से असख्यगुण वृद्धि और असख्यगुण हानि इन दोनो का उत्कृष्ट काल अन्तमूहूर्त है और शेष तीन वृद्धियो और हानियो का उत्कृष्ट काल आवलिका का असख्यातवा भाग प्रमाण है ।

यह स्पष्टीकरण वृद्धि प्ररूपणा की अपेक्षा जानना चाहिये ।

जीवाल्पबहुत्व प्ररूपणा

योगस्थानो मे विद्यमान जीवो के जघन्य, उत्कृष्ट योग के अल्पबहुत्व का रूप इस प्रकार जानना चाहिये—

क्रम		जीव भेद	योग प्रकार	प्रमाण	
१	लब्धि अप	सूक्ष्म निगोद एके॰	जघन्ययोग	सर्वस्तोक	उससे
२	,,	बादर एकेन्द्रिय	,,	असख्यगुण	,,
३	,,	द्वीन्द्रिय	,,	,,	,,
४	,,	त्रीन्द्रिय	,,	,,	,,
५	,,	चतुरिन्द्रिय	,,	,,	,,
६	,,	असज्ञी पचेन्द्रिय	,,	,,	,,
७	,,	सज्ञी पचेन्द्रिय	,,	,,	,,
८	,,	सूक्ष्म (निगोद) एके	उत्कृष्ट योग	,,	,,
९	,,	बादर एकेन्द्रिय	,,	,,	,,
१०	पर्याप्त	सूक्ष्म एकेन्द्रिय	जघन्य योग	,,	,,
११	,,	बादर एकेन्द्रिय	,,	,,	,,
१२	,,	सूक्ष्म (निगोद) एके	उत्कृष्ट योग	,,	,,
१३	,,	बादर एकेन्द्रिय	,,	,,	,,
१४	लब्धि अप	द्वीन्द्रिय	,,	,,	,,
१५	,,	त्रीन्द्रिय	,,	,,	,,
१६	,,	चतुरिन्द्रिय	,,	,,	,,
१७	,,	असज्ञी पचेन्द्रिय	,,	,,	,,
१८	,,	सज्ञी पचेन्द्रिय	,,	,,	,,
१९	पर्याप्त	द्वीन्द्रिय	जघन्ययोग	,,	,,

परिशिष्ट ५

असत्कल्पना से योगस्थानो का स्पष्टीकरण एवं प्रारूप

प्रत्येक जीव के आत्मप्रदेश असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण है। कर्मजन्य शरीर से जीव अपने देह प्रमाण दिखता है, लेकिन सहरण-विसर्पण (सकोच-विस्तार) गुण की अपेक्षा देह प्रमाण होने पर भी लोकाकाश के बराबर हो सकता है। जैसे कि दीप को बडे कमरे मे रखें तो उस सारे कमरे मे उसका प्रकाश व्याप्त हो जाता है और घडे मे रखें तो उतने क्षेत्र प्रमाण मे उसका प्रकाश व्याप्त रहता है। यही स्थिति जीव के असख्यात प्रदेशो को लोकाकाश मे व्याप्त होने और देह प्रमाण होने की समझ लेना चाहिये। प्रस्तुत मे असत्कल्पना से उन आत्म-प्रदेशो की सख्या १२००० प्रदेश मान लें।

प्रत्येक आत्म-प्रदेश पर जघन्य से असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण वीर्याविभाग होते है और उत्कृष्ट से भी। जिनको कल्पना से जघन्य एक करोड और उत्कृष्ट अनेक करोड मान लिया जाये।

जघन्य वीर्याविभाग वाले आत्मप्रदेश वर्गीकृत लोक के असख्यात भागवर्ती असख्यात प्रतरगत प्रदेश राशि प्रमाण होते हैं। कल्पना से उन जघन्य वीर्याविभाग वाले आत्मप्रदेशो का घनीकृत लोक के असख्येय भागवर्ती असख्येय प्रतरगत प्रदेश राशि का प्रमाण ७०० मान लें।

श्रेणी के असख्यातवें भाग प्रमाण वर्गणाओं का एक स्पर्धक होता है। यहाँ असत्कल्पना से चार वर्गणाओ का एक स्पर्धक मानना चाहिये।

श्रेणी के असख्यातवे भाग प्रमाण स्पर्धको का एक योगस्थान होता है, जो सबसे जघन्य है। परन्तु कल्पना से प्रथम योगस्थान ६३ स्पर्धको का समझ लेना चाहिये। अधिक-अधिक वीर्य वाले योगस्थानो मे स्पर्धक अगुल के असख्यातवे भाग प्रमाण बढते-बढते हुए जानना चाहिये। क्योकि अधिक-अधिक वीर्य वाले आत्म-प्रदेश हीन-हीन होते जाते है, किन्तु उनमे वर्गणाएँ और स्पर्धक अधिक-अधिक होते है। यहाँ कल्पना से जो योग-स्थान बताये जा रहे हैं, उनमे एक-एक स्पर्धक की वृद्धि अगुल के असख्यातवें भाग प्रमाण समझना चाहिये।

प्रथम योगस्थान के अन्तिम स्पर्धक की अन्तिम वर्गणा मे जितने वीर्या-विभाग हैं उससे द्वितीय योगस्थान के प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा मे असख्यातगुणे हैं। यहाँ कल्पना से जिन्हे लगभग तिगुने समझ लेना चाहिये।

उक्त स्पष्टीकरणो से युक्त योगस्थानो का प्रारूप इस प्रकार जानना चाहिये।

प्रथम योगस्थान

प्रथम स्पर्धक

१ करोड १	वीर्याविभाग वाले	७००	आत्म-प्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
१ करोड २	,,	६७०	,,	द्वितीय वर्गणा
१ करोड ३	,,	६३०	,,	तृतीय वर्गणा
१ करोड ४	,,	६००	,,	चतुर्थ वर्गणा
		२६००		

इस प्रकार प्रथम स्पर्धक मे २६०० आत्म-प्रदेशो की चार वर्गणाएँ।

द्वितीय स्पर्धक

२ करोड १	वीर्याविभाग वाले	५८५	आत्म-प्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
२ करोड २	,,	५७५	,,	द्वितीय वर्गणा
२ करोड ३	,,	५६५	,,	तृतीय वर्गणा
२ करोड ४	,,	५५५	,,	चतुर्थ वर्गणा
		२२८०		

इस प्रकार द्वितीय स्पर्धक मे २२८० आत्म-प्रदेशो की चार वर्गणाएँ।

तृतीय स्पर्धक

३ करोड	१ वीर्याविभाग वाले	५२०	आत्म-प्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
३ करोड	२ ,,	५१०	,,	द्वितीय वर्गणा
३ करोड	३ ,,	५००	,,	तृतीय वर्गणा
३ करोड	४ ,,	४९०	,,	चतुर्थ वगणा
		२०२०		

इस प्रकार तृतीय स्पर्धक मे २०२० आत्म-प्रदेशो की चार वर्गणाएँ।

चतुर्थ स्पर्धक

४ करोड	१ वीर्याविभाग वाले	४८०	आत्म-प्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
४ करोड	२ ,,	४७०	,,	द्वितीय वर्गणा
४ करोड	३ ,,	४६०	,,	तृतीय वगणा
४ करोड	४ ,,	४५०	,,	चतुर्थ वगणा
		१८६०		

इस प्रकार चतुर्थ स्पर्धक मे १८६० आत्म-प्रदेशो की चार वगणाएँ।

पाचवाँ स्पर्धक

५ करोड	१ वीर्याविभाग वाले	४४०	आत्म-प्रदेशो की	प्रथम वगणा
५ करोड	२ ,,	४३०	,,	द्वितीय वर्गणा
५ करोड	३ ,,	४२०	,,	तृतीय वर्गणा
५ करोड	४ ,,	४१०	,,	चतुर्थ वर्गणा
		१७००		

इस प्रकार पाचवें स्पर्धक मे १७०० आत्म-प्रदेशो की चार वगणाएँ।

छठा स्पर्धक

६ करोड १ वीर्याविभाग वाले	४००	आत्म-प्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
६ करोड २	,,	३६०	,,	द्वितीय वर्गणा
६ करोड ३	,,	३८०	,,	तृतीय वर्गणा
६ करोड ४	,,	३७०	,,	चतुर्थ वर्गणा

१५४०

इस प्रकार छठे स्पर्धक मे १५४० आत्म-प्रदेशो की चार वर्गणाएँ।

द्वितीय योगस्थान

प्रथम स्पर्धक

१८ करोड १	वीर्याविभाग वाले	५८५	आत्म-प्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
१८ करोड २	,,	५७५	,,	द्वितीय वर्गणा
१८ करोड ३	,,	५६५	,,	तृतीय वर्गणा
१८ करोड ४	,,	५५५	,,	चतुर्थ वर्गणा

२२८०

इस प्रकार प्रथम स्पर्धक मे २२८० आत्म-प्रदेशो की चार वर्गणाएँ।

द्वितीय स्पर्धक

१६ करोड १	वीर्याविभाग वाले	५२०	आत्म-प्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
१६ करोड २	,,	५१०	,,	द्वितीय वर्गणा
१६ करोड ३	,,	५००	,,	तृतीय वर्गणा
१६ करोड ४	,,	४६०	,,	चतुर्थ वर्गणा

२०२०

इस प्रकार द्वितीय स्पर्धक मे २०२० आत्म-प्रदेशो की चार वर्गणाएँ।

तृतीय स्पर्धक

२० करोड	१ वीर्याविभाग वाले	४८०	आत्म-प्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
२० करोड	२ ,,	४७०	,,	द्वितीय वर्गणा
२० करोड	३ ,,	४६०	,,	तृतीय वर्गणा
२० करोड	४ ,,	४५०	,,	चतुर्थ वर्गणा
		१८६०		

इस प्रकार तृतीय स्पर्धक मे १८६० आत्म-प्रदेशो की चार वर्गणाएँ।

चतुर्थ स्पर्धक

२१ करोड	१ वीर्याविभाग वाले	४४०	आत्म-प्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
२१ करोड	२ ,,	४३०	,,	द्वितीय वर्गणा
२१ करोड	३ ,,	४२०	,,	तृतीय वर्गणा
२१ करोड	४ ,,	४१०	,,	चतुर्थ वर्गणा
		१७००		

इस प्रकार चतुर्थ स्पर्धक मे १७०० आत्म-प्रदेशो की चार वर्गणाएँ।

पाचवा स्पर्धक

२२ करोड	१ वीर्याविभाग वाले	४००	आत्म-प्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
२२ करोड	२ ,,	३९०	,,	द्वितीय वर्गणा
२२ करोड	३ ,,	३८०	,,	तृतीय वर्गणा
२२ करोड	४ ,,	३७०	,,	चतुर्थ वर्गणा
		१५४०		

इस प्रकार पांचवें स्पर्धक मे १५४० आत्म-प्रदेशो की चार वर्गणाएँ।

छठा स्पर्धक

२३ करोड	१ वीर्याविभाग वाले	३६०	आत्म-प्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
२३ करोड	२ ,,	३५०	,,	द्वितीय वर्गणा
२३ करोड	३ ,,	३४०	,,	तृतीय वर्गणा
२३ करोड	४ ,,	३३०	,,	चतुर्थ वर्गणा
		१३८०		

इस प्रकार छठे स्पर्धक मे १३८० आत्म-प्रदेशो की चार वर्गणाएँ।

सातवा स्पर्धक

२४ करोड	१ वीर्याविभाग वाले	३२०	आत्म-प्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
२४ करोड	२ ,,	३१०	,,	द्वितीय वर्गणा
२४ करोड	३ ,,	३००	,,	तृतीय वर्गणा
२४ करोड	४ ,,	२९०	,,	चतुर्थ वर्गणा
		१२२०		

इस प्रकार सातवें स्पर्धक मे १२२० आत्म-प्रदेशो की चार वर्गणाएँ।

तीसरा योगस्थान

प्रथम स्पर्धक

७२ करोड	१ वीर्याविभाग वाले	५२०	आत्म-प्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
७२ करोड	२ ,,	५१०	,,	द्वितीय वर्गणा
७२ करोड	३ ,,	५००	,,	तृतीय वर्गणा
७२ करोड	४ ,,	४९०	,,	चतुर्थ वर्गणा
		२०२०		

इस प्रकार प्रथम स्पर्धक मे २०२० आत्म-प्रदेशो की चार वर्गणाएँ।

द्वितीय स्पर्धक

७३ करोड १ वीर्याविभाग वाले ४८० आत्म-प्रदेशो की प्रथम वर्गणा
७३ करोड २ ,, ४७० ,, द्वितीय वर्गणा
७३ करोड ३ ,, ४६० ,, तृतीय वर्गणा
७३ करोड ४ ,, ४५० ,, चतुर्थ वर्गणा

१८६०

इस प्रकार द्वितीय स्पर्धक मे १८६० आत्म-प्रदेशो की चार वर्गणाएँ।

तृतीय स्पर्धक

७४ करोड १ वीर्याविभाग वाले ४४० आत्म-प्रदेशो की प्रथम वर्गणा
७४ करोड २ ,, ४३० ,, द्वितीय वर्गणा
७४ करोड ३ ,, ४२० ,, तृतीय वर्गणा
७४ करोड ४ ,, ४१० ,, चतुर्थ वर्गणा

१७००

इस प्रकार तृतीय स्पर्धक मे १७०० आत्म-प्रदेशो की चार वर्गणाएँ।

चतुर्थ स्पर्धक

७५ करोड १ वीर्याविभाग वाले ४०० आत्म-प्रदेशो की प्रथम वर्गणा
७५ करोड २ ,, ३९० ,, द्वितीय वर्गणा
७५ करोड ३ ,, ३८० ,, तृतीय वर्गणा
७५ करोड ४ ,, ३७० ,, चतुर्थ वर्गणा

१५४०

इस प्रकार चतुर्थ स्पर्धक मे १५४० आत्म-प्रदेशो की चार वर्गणाएँ।

पाचवा स्पर्धक

७६ करोड १ वीर्याविभाग वाले ३६० आत्म-प्रदेशो की प्रथम वर्गणा
७६ करोड २ ,, ३५० ,, द्वितीय वर्गणा

७६ करोड ३	वीर्याविभाग वाले	३४०	आत्म-प्रदेशो की	तृतीय वर्गणा
७६ करोड ४	,,	३३०	,,	चतुर्थ वर्गणा
		१३८०		

इस प्रकार पाचवे स्पर्धक मे १३८० आत्म-प्रदेशो की चार वर्गणाएँ ।

छठा स्पर्धक

७७ करोड १	वीर्याविभाग वाले	३२०	आत्म-प्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
७७ करोड २	,,	३१०	,,	द्वितीय वर्गणा
७७ करोड ३	,,	३००	,,	तृतीय वर्गणा
७७ करोड ४	,,	२९०	,,	चतुर्थ वर्गणा
		१२२०		

इस प्रकार छठे स्पर्धक मे १२२० आत्म-प्रदेशो की चार वर्गणाएँ ।

सातवा स्पर्धक

७८ करोड १	वीर्याविभाग वाले	२८९	आत्म-प्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
७८ करोड २	,,	२८८	,,	द्वितीय वर्गणा
७८ करोड ३	,,	२८७	,,	तृतीय वर्गणा
७८ करोड ४	,,	२८६	,,	चतुर्थ वर्गणा
		११५०		

इस प्रकार सातवें स्पर्धक मे ११५० आत्म-प्रदेशो की चार वर्गणाएँ ।

आठवा स्पर्धक

७९ करोड १	वीर्याविभाग वाले	२८४	आत्म-प्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
७९ करोड २	,,	२८३	,,	द्वितीय वर्गणा
७९ करोड ३	,,	२८२	,,	तृतीय वर्गणा
७९ करोड ४	,,	२८१	,,	चतुर्थ वर्गणा
		११३०		

इस प्रकार आठवें स्पर्धक मे ११३० आत्म-प्रदेशो की चार वगणाएँ।

चौथा योगस्थान

प्रथम स्पर्धक

२४१ करोड १ वीर्याविभाग वाले ४८० आत्म-प्रदेशो की प्रथम वगणाएँ
२४१ करोड २ ,, ४७० ,, द्वितीय वगणा
२४१ करोड ३ ,, ४६० ,, तृतीय वर्गणा
२४१ करोड ४ ,, ४५० ,, चतुर्थ वर्गणा

१८६०

इस प्रकार प्रथम स्पर्धक मे १८६० आत्म-प्रदेशो की चार वर्गणाएँ।

द्वितीय स्पर्धक

२४२ करोड १ वीर्याविभाग वाले ४४० आत्म-प्रदेशो की प्रथम वर्गणा
२४२ करोड २ ,, ४३० ,, द्वितीय वर्गणा
२४२ करोड ३ ,, ४२० ,, तृतीय वर्गणा
२४२ करोड ४ ,, ४१० ,, चतुथ वगणा

१७००

इस प्रकार द्वितीय स्पर्धक मे १७०० आत्म-प्रदेशो की चार वर्गणाएँ।

तृतीय स्पर्धक

२४३ करोड १ वीर्याविभाग वाले ४०० आत्म-प्रदेशो की प्रथम वर्गणा
२४३ करोड २ ,, ३९० ,, द्वितीय वगणा
२४३ करोड ३ ,, ३८० ,, तृतीय वगणा
२४३ करोड ४ ,, ३७० ,, चतुर्थ वगणा

१५४०

इस प्रकार तृतीय स्पर्धक में १५४० आत्म-प्रदेशों की चार वर्गणाएँ।

चतुर्थ स्पर्धक

२४४ करोड १ वीर्याविभाग वाले	३६०	आत्म-प्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
२४४ करोड २ ,,	३५०	,,	द्वितीय वर्गणा
२४४ करोड ३ ,,	३४०	,,	तृतीय वर्गणा
२४४ करोड ४ ,,	३३०	,,	चतुर्थ वर्गणा
	१३८०		

इस प्रकार चतुर्थ स्पर्धक में १३८० आत्म-प्रदेशों की चार वर्गणाएँ।

पांचवां स्पर्धक

२४५ करोड १ वीर्याविभाग वाले	३२०	आत्म-प्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
२४५ करोड २ ,,	३१०	,,	द्वितीय वर्गणा
२४५ करोड ३ ,,	३००	,,	तृतीय वर्गणा
२४५ करोड ४ ,,	२९०	,,	चतुर्थ वर्गणा
	१२२०		

इस प्रकार पांचवें स्पर्धक में १२२० आत्म-प्रदेशों की चार वर्गणाएँ।

छठा स्पर्धक

२४६ करोड १ वीर्याविभाग वाले	२८९	आत्म-प्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
२४६ करोड २ ,,	२८८	,,	द्वितीय वर्गणा
२४६ करोड ३ ,,	२८७	,,	तृतीय वर्गणा
२४६ करोड ४ ,,	२८६	,,	चतुर्थ वर्गणा
	११५०		

इस प्रकार छठे स्पर्धक में ११५० आत्म-प्रदेशों की चार वर्गणाएँ।

सातवा स्पर्धक

२४७ करोड	१ वीर्याविभाग वाले	२८४	आत्म-प्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
२४७ करोड	२ ,,	२८३	,,	द्वितीय वर्गणा
२४७ करोड	३ ,,	२८२	,,	तृतीय वर्गणा
२४७ करोड	४ ,,	२८१	,,	चतुर्थ वर्गणा
		११३०		

इस प्रकार सातवें स्पर्धक मे ११३० आत्म-प्रदेशो की चार वर्गणाएँ।

आठवा स्पर्धक

२४८ करोड	१ वीर्याविभाग वाले	२६९	आत्म-प्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
२४८ करोड	२ ,,	२६८	,,	द्वितीय वर्गणा
२४८ करोड	३ ,,	२६७	,,	तृतीय वर्गणा
२४८ करोड	४ ,,	२६६	,,	चतुर्थ वर्गणा
		१०७०		

इस प्रकार आठवें स्पर्धक मे १०७० आत्म-प्रदेशो की चार वर्गणाएँ।

नौवा स्पर्धक

२४९ करोड	१ वीर्याविभाग वाले	२३९	आत्म-प्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
२४९ करोड	२ ,,	२३८	,,	द्वितीय वर्गणा
२४९ करोड	३ ,,	२३७	,,	तृतीय वर्गणा
२४९ करोड	४ ,,	२३६	,,	चतुर्थ वर्गणा
		९५०		

इस प्रकार नौवे स्पर्धक मे ९५० आत्म-प्रदेशो की चार वर्गणाएँ।

असत्कल्पना द्वारा योगस्थानो का समीकरण

प्रथम योगस्थान मे स्पर्धक	आत्म-प्रदेश	वर्गणा
प्रथम	२६००	४
द्वितीय	२२८०	४
तृतीय	२०२०	४
चतुर्थ	१८६०	४
पाचवा	१७००	४
छठा	१५४०	४
६	१२०००	२४

द्वितीय योगस्थान मे स्पर्धक	आत्म-प्रदेश	वर्गणा
प्रथम	२२८०	४
द्वितीय	२०२०	४
तृतीय	१८६०	४
चतुर्थ	१७००	४
पाचवा	१५४०	४
छठा	१३८०	४
सातवा	१२२०	४
७	१२०००	२८

तृतीय योगस्थान मे स्पर्धक	आत्म-प्रदेश	वर्गणा
प्रथम	२०२०	४
द्वितीय	१८६०	४
तृतीय	१७००	४
चतुर्थ	१५४०	४
पाचवा	१३८०	४
छठा	१२२०	४

सातवा	११५०	४
आठवा	११३०	४
८	१२०००	३२

चतुर्थ योगस्थान मे स्पर्धक	आत्म-प्रदेश	वर्गणा
प्रथम	१८६०	४
द्वितीय	१७००	४
तृतीय	१५४०	४
चतुर्थ	१३८०	४
पाचवाँ	१२२०	४
छठा	११५०	४
सातवा	११३०	४
आठवा	१०७०	४
नौवा	६५०	४
६	१२०००	३६

विशेष—कर्म प्रकृति बधनकरण गाथा ६ से ६ तक के आधार मे यह स्पष्टीकरण किया गया है।

□□

वर्गणाओ सम्बन्धी वर्णन का सारांश

यह लोक पुद्गल परमाणुओ से व्याप्त है। कर्म पौद्गलिक है और पुद्गल एक द्रव्य है। इसलिए जैन कर्मसिद्धान्त आदि मे यथायोग्य रीति से पुद्गल द्रव्य का वर्णन किया गया है।

कर्म साहित्य मे पुद्गल द्रव्य का वर्गणामुखेन वर्णन किया गया है। पुद्गल परमाणु अपने-अपने समगुण और समसख्या वाले समूहो मे वर्गीकृत है और इनके सयोग से ससारी जीव के शरीर, इन्द्रियो आदि की रचना होती है। इनके लिए वर्गणा शब्द का प्रयोग किया जाता है।

कर्मसिद्धान्त मे इन वर्गणाओ के दो प्रकार माने है—(१) ग्रहणयोग्य, (२) अग्रहणयोग्य। यह भिन्नता तत्तत् शरीरस्थ जीव द्वारा उन-उन पुद्गल परमाणुओ को ग्रहण करने अथवा न करने की योग्यता अथवा पुद्गल परमाणुओ मे तथा-स्वभाव से ग्रहण होने या न होने की योग्यता पर आधारित है। इस अपेक्षा से कर्म-सिद्धान्त मे इन सब ग्रहण और अग्रहण वर्गणाओ को निम्नलिखित २६ भेदो मे विभाजित किया गया है—

१ अग्रहण, २ औदारिक, ३ अगहण, ४ वैक्रिय, ५ अग्रहण, ६ आहारक, ७ अग्रहण, ८ तैजस्, ९ अग्रहण, १० भाषा, ११ अग्रहण, १२ श्वासोच्छ्वास, १३ अग्रहण, १४ मन, १५ अगहण, १६ कार्मण, १७ ध्रुवाचित्त, १८ अध्रुवाचित्त (सान्तर-निरतर), १९ ध्रुवशून्य, २० प्रत्येकशरीरी, २१ ध्रुवशून्य, २२. बादरनिगोद, २३. ध्रुवशून्य, २४ सूक्ष्मनिगोद, २५ ध्रुवशून्य, २६ महास्कन्ध।

कर्मप्रकृति, पचसग्रह और विशेषावश्यकभाष्य मे इन वर्गणाओ का

वर्णन किया गया है। लेकिन दोनो के वर्णन मे आपेक्षिक समानता भी है और असमानता भी है। जिसका सक्षेप मे साराश इस प्रकार है—

कर्मप्रकृति और पचसग्रह मे परमाणुवर्गणा के अर्थ मे सब परमाणुओ के लिए पृथक्-पृथक् वर्गणा शब्द का प्रयोग किया है। इसी प्रकार द्विपरमाणु आदि सभी वर्गणाएँ कही हैं। जिससे यह तात्पर्य निकलता है कि परमाणु वर्गणा अनन्त हैं, द्विपरमाणु वर्गणाएँ अनन्त है। परन्तु देवेन्द्र सूरि ने अपने कर्मग्रन्थो मे सर्व परमाणुओ के सग्रह अर्थ मे परमाणुवर्गणा का प्रयोग किया है। इसी प्रकार द्विपरमाणु स्कन्धो के सग्रह के लिए द्विपरमाणुवर्गणा कहा है।

विशेषावश्यकभाष्य मे वर्गणाओ के विचार का प्रारम्भ तो कर्मग्रन्थो के अनुरूप है। लेकिन भिन्नता इस प्रकार है—परमाणु से लेकर अनन्त प्रदेशी स्कन्ध तक की अनन्त वर्गणाएँ औदारिक शरीर के अग्रहणप्रायोग्य हैं, तदनन्तर एक-एक परमाणु अधिक स्कन्ध वाली अनन्त वर्गणाएँ औदारिक शरीर के ग्रहणप्रायोग्य है। तदनन्तर एक-एक परमाणु अधिक स्कन्ध वाली अनन्त वर्गणाएँ पुन औदारिक शरीर के अग्रहणप्रायोग्य है। तत्पश्चात् एक-एक परमाणु अधिक स्कन्ध वाली अनन्त वर्गणाएँ वैक्रियशरीर के अग्रहण-योग्य हैं। उसके बाद एक-एक परमाणु अधिक स्कन्ध वाली अनन्त वर्गणाएँ वैक्रिय शरीर के ग्रहणयोग्य हैं। तदनन्तर एक-एक परमाणु अधिक स्कन्ध रूप अनन्त वर्गणाएँ पुन वैक्रिय शरीर के अग्रहणप्रायोग्य हैं। इस प्रकार जीव को ग्रहणप्रायोग्य आठ वर्गणाओ को तीन-तीन रूप से कहने पर चौबीस वर्गणाएँ हो जाती है। यह चौबीस नाम दो ग्रहण वर्गणाओ के मध्य मे दो अग्रहण वर्गणाएँ मानने से होते है। एक ही अग्रहण वर्गणा का जो आधा भाग जिस शरीर आदि के समीप आया है, उस शरीर आदि के नाम की विवक्षा से एक ही अग्रहण वर्गणा का दो-दो नाम से उल्लेख किया है। लेकिन पचसग्रह, कर्मप्रकृति आदि कर्मग्रन्थो मे इस प्रकार का पार्थक्य न करके ग्रहणयोग्य वर्गणा के बाद अग्रहण वर्गणा कहकर अग्रहण और ग्रहण की अपेक्षा सोलह प्रकार माने है।

इसके अतिरिक्त भाष्य वर्णन मे निम्नलिखित अन्तर और है—

अन्तिम २४वी वर्गणा अग्रहणप्रायोग्य वर्गणा के नाम के अनन्तर इस प्रकार वर्गणाओ के नाम दिये है—

२५ प्रथम ध्रुव वर्गणा, २६ अध्रुव वर्गणा, २७ शून्यान्तर वर्गणा, २८ अशून्यान्तर वर्गणा, २९ प्रथम ध्रुवान्तर वर्गणा, ३० द्वितीय ध्रुवान्तर वर्गणा, ३१ तृतीय ध्रुवान्तर वर्गणा, ३२ चतुर्थ ध्रुवान्तर वर्गणा, ३३ औदारिक तनुवर्गणा, ३४ वैक्रियतनुवर्गणा, ३५ आहारक तनुवर्गणा ३६ तैजस तनुवर्गणा, ३७ मिश्र स्कन्ध वर्गणा ३८ अचित्त महास्कन्ध वर्गणा।

भाष्य मे किये गये वर्गणाओ के वर्णन को गाथा ६३३ से ६५३ तक देखिये।

इन सब वर्गणाओ का अवगाह अगुल के असख्यातवे भाग प्रमाण है। सर्वोत्कृष्ट महास्कन्ध वर्गणा पर्यन्त यद्यपि सभी वर्गणाएँ परमाणुओ की अपेक्षा अनुक्रम से मोटी है और अनुक्रम से मोटी होते जाने पर भी प्रत्येक मूल वगणा मे की एक-एक उत्तरवर्गणा अगुल के असख्यातवें भाग प्रमाण के अवगाह वाली है और यदि इन प्रत्येक उत्तर वर्गणाओ मे समुदाय की अपेक्षा अवगाह की विवक्षा करें तो परमाणु से लेकर सर्वोत्कृष्ट महास्कन्ध वगणा तक की सब उत्तर वर्गणाएँ भी प्रत्येक अनन्तानन्त है और समुच्चय की अपेक्षा समस्त लोकाकाश प्रमाण अवगाह वाली है।

दिगम्बर कर्म साहित्य मे भी वर्गणाओ का विचार किया गया है। उस वर्णन मे कुछ विभिन्नतायें रहने पर भी प्राय समानता है। वहाँ वगणाओ के निम्नलिखित २३ भेद है—

१ अणुवगणा, २ सख्याताणुवगणा, ३ असख्याताणुवगणा, ४ अनन्ताणुवगणा, ५ आहार वर्गणा, ६ अग्रहण वगणा, ७ तैजस् वगणा, ८ अग्रहण वर्गणा, ९ भाषा वर्गणा, १० अग्रहण वगणा, ११ मनोवर्गणा, १२ अग्रहण वगणा, १३ कार्मणशरीर वगणा, १४ ध्रुवस्कन्ध वगणा, १५ सान्तरनिरतर वगणा, १६ ध्रुवशून्य वर्गणा, १७ प्रत्यकशरीर वगणा, १८ ध्रुवशून्य वगणा, १९ बादर निगोद वर्गणा, २० ध्रुवशून्य

वर्गणा, २१ सूक्ष्म निगोद वर्गणा, २२ ध्रुवशून्य वर्गणा और २३ महा स्कन्ध वर्गणा।

आहार वर्गणा से औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर इन तीन वर्गणाओ को ग्रहण किया गया है।

जीव द्वारा ग्रहणयोग्य आठ वर्गणाएँ समान रूप मे सभी कार्मग्रन्थिक आचार्यो ने मानी है। जिनके नाम इस प्रकार हैं—

औदारिक शरीर वर्गणा, वैक्रिय शरीर वर्गणा, आहारक शरीर वर्गणा, तैजस् वर्गणा, भाषा वर्गणा, श्वासोच्छ्वास वर्गणा, मनोवर्गणा, कार्मण वर्गणा।

परिशिष्ट ७

पुद्गल (कर्म) बंध का कारण और प्ररूपणा के प्रकार

पुद्गल कर्म द्रव्य का परस्पर सम्बन्ध स्नेहगुण से होता है। इसीलिए कर्मबन्ध के प्रसग मे स्नेह प्ररूपणा की जाती है। इस स्नेह गुण के कारण अनन्तानन्त पुद्गल वर्गणाए जीव से सम्बद्ध होती है। वह स्नेह प्ररूपणा तीन प्रकार की है—१ स्नेहप्रत्यय स्पर्धक प्ररूपणा, २ नामप्रत्यय स्पर्धक प्ररूपणा, ३ प्रयोगप्रत्यय स्पर्धक प्ररूपणा। इनमे से स्नेह निमित्तक स्पर्धक की प्ररूपणा को स्नेहप्रत्यय स्पर्धक प्ररूपणा कहते है। शरीर बधन नाम कर्म के उदय से परस्पर बधे हुए शरीर पुद्गलो का आश्रय लेकर जो स्पर्धक की प्ररूपणा की जाती है, वह नामप्रत्यय स्पर्धक प्ररूपणा है अर्थात् बन्धन नाम निमित्तक शरीर प्रदेशो के स्पर्धक की प्ररूपणा को नामप्रत्यय स्पर्धक प्ररूपणा कहते है। प्रकृष्टयोग को प्रयोग कहते है। इस प्रयोगप्रत्ययभूत—कारणभूत प्रकृष्ट योग के द्वारा ग्रहण किये गये जो पुद्गल है, उनके स्नेह का आश्रय करके जो स्पर्धक प्ररूपणा की जाती है, वह प्रयोगप्रत्यय स्पर्धक प्ररूपणा कहलाती है।

स्नेहप्रत्यय, नामप्रत्यय और प्रयोगप्रत्यय प्ररूपणाओ के लक्षण इस प्रकार जानना चाहिए—

१ लोकवर्ती प्रथम अग्राह्य पुद्गल द्रव्यो मे स्निग्धपने की तरतमता कहना स्नेहप्रत्यय प्ररूपणा है।

२ पांच शरीर रूप परिणगते पुद्गलो मे स्निग्धपने की तरतमता बताना नामप्रत्यय प्ररूपणा है।

३ उत्कृष्ट योग से ग्रहण होने वाले पुद्गलो मे स्निग्धता की तरतमता कहना प्रयोगप्रत्यय प्ररूपणा कहलाती है।

स्पर्धक वर्गणाओ के समुदाय से बनते हैं। अतएव इन तीनो प्रकार की प्ररूपणाओ मे से स्नेहप्रत्यय स्पर्धक प्ररूपणा मे अनन्तरोपनिधा से वर्गणाएँ इस प्रकार होती है —

१ स्नेहप्रत्यय स्पर्धक की आदि की अनन्त वर्गणाएँ असख्यातभाग हीन,

२ स्नेहप्रत्यय स्पर्धक की तदनन्तर की अनन्त वर्गणाएँ सख्यातभाग हीन,

३ स्नेहप्रत्यय स्पर्धक की तदनन्तर की अनन्त वर्गणाएँ सख्यातगुण हीन,

४ स्नेहप्रत्यय स्पर्धक की तदनन्तर की अनन्त वर्गणाएँ असख्यातगुण हीन,

५ स्नेहप्रत्यय स्पर्धक की तदनन्तर की अनन्त वर्गणाएँ अनन्तगुण हीन।

इस प्रकार स्नेह प्रत्यय स्पर्धक की अनन्त वर्गणाएँ पाच विभागो मे विभाजित है—१ असख्यातभाग हीन विभाग, २ सख्यातभाग हीन विभाग ३ सख्यातगुण हीन विभाग, ४ असख्यातगुण हीन विभाग ५ अनन्तगुण हीन विभाग।

परम्परोपनिधा प्ररूपणा की अपेक्षा स्नेहप्रत्यय स्पर्धकगत वर्गणाओ का रूपक इस प्रकार जानना चाहिए—

पूर्व वर्गणा की अपेक्षा बीच मे कुछ वर्गणाओ को छोडकर आगे की वर्गणा मे परमाणुओ सम्बन्धी हीनाधिकता के कथन करने को परम्परोपनिधा कहते है। जो इस प्रकार है कि—

असख्यातभाग हानि विभाग मे असख्यात लोकातिक्रमण होने पर द्विगुण हानि, सख्यातभाग हानि विभाग मे असख्यात लोकातिक्रमण होने पर द्विगुण हानि तथा सख्यातगुणहानि विभाग, असख्यातगुण हानि और अनन्तगुण हानि विभाग, इन तीन विभागो मे पहले से ही त्रिगुणादि हीनपना होने स

द्विगुण हानि का अभाव है। यह पूर्वोक्त द्विगुण हानि रूप परपरोपनिधा सर्व विभागो मे प्राप्त न होने से दूसरे प्रकार से परपरोपनिधा की प्ररूपणा इस प्रकार जानना चाहिए।

असख्यातभाग हानि विभाग मे प्रथम वर्गणा की अपेक्षा कुछ वर्गणाएँ असख्यातभाग हीन, सख्यातभाग हीन, सख्यातगुण हीन, असख्यातगुण हीन, अनन्तगुण हीन है। अर्थात् असख्यातभाग हीन विभाग मे प्रथम वर्गणा की अपेक्षा आगे कितनी ही वर्गणाएँ यथाक्रम से पाँचो हानि वाली होती है।

इसी प्रकार सख्यातभाग हीन, सख्यातगुण हीन, असख्यातगुण हीन और अनन्तगुण हीन विभाग मे भी अपनी प्रथम वर्गणा की अपेक्षा उत्तर वर्गणाएँ भी हीन समझना चाहिए। किन्तु इतनी विशेपता है कि यह हीनता अपने-अपने नाम के क्रम से प्रारम्भ करना चाहिए। जो इस प्रकार है—

सख्यातभाग हानि मे प्रथम वर्गणा की अपेक्षा आगे कितनी ही वर्गणाएँ पूर्व की असख्यातभाग हानि के विना बाद की शेप चार हानियो वाली होती है।

सख्यातगुण हानि मे प्रथम वर्गणा की अपेक्षा आगे की कितनी ही वर्गणाएँ पूर्व की असख्यातभाग और सख्यातभाग इन दो हानियो के विना बाद की तीन हानियो वाली, असख्यातगुण हानि मे प्रथम वर्गणा की अपेक्षा आगे की कितनी ही वर्गणाएँ पूर्व की असख्यातभाग, सख्यातभाग और सख्यातगुण इन तीन हानियो के विना उत्तर की शेप दो हानियो वाली तथा अनन्तगुण हानि मे प्रथम वर्गणा की अपेक्षा आगे की कितनी ही वर्गणाएँ पूर्वोक्त चार हानियो के विना एक हानि वाली अर्थात् अनन्तगुण हानि वाली होती है।

अनन्तगुण हानि मे अनन्तगुण बडे-बडे भागो की हानि होने से यहाँ अनन्तगुण मे गुण शब्द से अनन्त पुद्गल राशि प्रमाण एक भाग ऐसे अनन्त भाग समझना चाहिए। परन्तु गुण शब्द से गुणाकार जैसा भाग नही समझना चाहिए। जहाँ-जहाँ हानि का प्रसग आये वहाँ गुण शब्द से भाग-प्रमाण ही जानना चाहिए, किन्तु गुणाकार रूप नही और वृद्धि के प्रसग मे गुण शब्द से गुणाकार आशय समझना चाहिए।

नामप्रत्यय स्पर्धक प्ररूपणा की वर्गणाओ मे कुछ विशेषता नही है। सामान्य से सर्वजीव राशि से अनन्तगुण अविभाग प्रत्येक वर्गणाएँ होने पर भी अन्य सर्व परमाणुओ से अल्प और समान स्नेहाविभाग वाले परमाणुओ का जो समुदाय वह प्रथम वर्गणा है। उससे एक स्नेहाविभाग अधिक परमाणुओ का समुदाय दूसरी वर्गणा। इस प्रकार पूर्व-पूर्व वर्गणा से एक-एक स्नेहाविभाग अधिक वाले परमाणुओ का समुदाय रूप अभव्य से अनन्तगुण और सिद्धो के अनन्तवेभाग प्रमाण वर्गणाएँ होती है। पूर्व-पूर्व की वर्गणा से उत्तर-उत्तर की वर्गणाओ मे पुद्गल अल्प-अल्प होते है।

अब यदि इन वर्गणाओ मे रहे हुए सभी परमाणुओ के स्नेहाविभागो का विचार किया जाये तो वह इस प्रकार जानना चाहिए—

प्रथम शरीर-स्थान के प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा मे स्नेहाविभाग सबसे अल्प है, उससे दूसरे स्थान के प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा मे अनन्तगुण है। इस प्रकार तीसरे, चौथे, पाचवे यावत् अन्तिम स्थान तक पूर्व-पूर्व के शरीर-स्थान के पहले-पहले स्पर्धक की पहली-पहली वर्गणा के स्नेहाविभागो मे उत्तर-उत्तर के स्थान के प्रथम स्पर्धक की पहली-पहली वर्गणा मे अनन्तगुण होते है।

प्रयोगप्रत्यय स्पर्धक प्ररूपणा मे भी वर्गणाओ का निरूपण नामप्रत्यय स्पर्धक प्ररूपणा मे किये गये वर्णन के अनुरूप जानना चाहिए।

इन तीनो प्रकारो के अल्पबहुत्व का प्रमाण इस प्रकार जानना चाहिए—

स्नेहप्रत्यय स्पर्धक की प्रथम वर्गणा मे स्नेहाविभाग सबसे अल्प है, उससे उसी स्पर्धक की अन्तिम वर्गणा मे स्नेहाविभाग अनन्तगुण हैं, उससे नामप्रत्यय प्रथम स्थान के प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा के कुल स्नेहाविभाग अनन्तगुण है, उससे उसी नामप्रत्यय स्पर्धक के अन्तिम स्थान के अन्तिम स्पर्धक की अन्तिम वर्गणा के कुल स्नेहाविभाग अनन्तगुण है, उससे प्रयोगप्रत्यय के प्रथम स्थान के प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा मे वर्तमान सकल स्नेहाविभाग और उससे उसी के चरम स्थान के चरमस्पर्धक की चरम वर्गणा मे रहे हुए सभी स्नेहाविभाग क्रमश अनन्तगुण है। □□

दलिक-विभागाल्पबहुत्व विषयक स्पष्टीकरण

गाथा ४१ के विवेचन मे उत्कृष्ट एव जघन्य पद मे उत्तरप्रकृतियो की अपेक्षा दलिको का विभाग तो बतलाया है, परन्तु विभाग करने का कारण और उस प्रकृति को उतना दलिक मिलने मे क्या हेतु है, उसका स्पष्टीकरण नहीं किया जा सका है। उस कमी की पूर्ति के लिए कारण सहित व्याख्या यहाँ करते है, जिससे पाठकों को समझने मे सुगमता हो।

इस अल्पबहुत्व को समझने के लिए निम्नलिखित नियम विशेष रूप से ज्ञातव्य हैं—

१ मूल कर्मो को प्राप्त हुए दलिक का अनन्तवा भाग ही सर्वघाति प्रकृतियो को मिलता है एव शेष रहा उस कर्म का अनन्तगुण दलिक उस समय उस कर्म की बध्यमान देशघाति प्रकृति को मिलता है। जिससे किसी भी मूल कर्म की अन्तर्वर्ती सर्वघाति प्रकृतियो के भाग मे आये दलिक मे देशघाति प्रकृति का दलिक सर्वत्र अनन्तगुण होता है।

उदाहरणार्थ—ज्ञानावरण कर्म के हिस्से मे आये दलिक का अनन्तवा भाग केवलज्ञानावरण को मिलता है और शेष रहा अनन्तगुण दलिक मनःपर्याय ज्ञानावरण आदि शेष चार देशघाति प्रकृतियो को मिलता है। जिसमे केवलज्ञानावरण को प्राप्त हुए दलिक से मनपर्याय ज्ञानावरण को प्राप्त हुआ दलिक अनन्तगुण होता है।

२ किसी भी विवक्षित एक ही बन्धस्थान मे जो और जितनी प्रकृतिया साथ मे बधती हो एव योगस्थान भी वही होने पर जिस प्रकृति को प्राप्त

४ जिन प्रकृतियो का उत्कृष्ट अथवा जघन्य प्रदेशबध जिस योगस्थान से होता हो, उसकी अपेक्षा दूसरो जिन प्रकृतियो का उत्कृष्ट अथवा जघन्य प्रदेशबध असख्यातगुण अधिक योगस्थान से होता हो तो उसके भाग मे दलिक असख्यातगुण आते है। जैसे कि मनुष्यगति का जघन्य प्रदेशबध सबसे अल्प वीर्य वाले लब्धि-अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया को उत्पत्ति के प्रथम समय मे उनतीस प्रकृतियो के बधस्थान मे प्राप्त होता है तथा देवगति का जघन्य प्रदेशबध सम्यग्दृष्टि मनुष्य को उत्पत्ति के प्रथम समय मे तीर्थंकर नाम सहित देवगतिप्रायोग्य उनतीस प्रकृतियो के बधस्थान मे प्राप्त होता है। यहाँ मनुष्य के लब्धि अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया के उत्पत्ति के प्रथम समय की अपेक्षा असख्यातगुण वृद्धि वाला योगस्थान होता है, जिससे मनुष्यगति के जघन्य पद मे प्राप्त हुए दलिक की अपेक्षा जघन्य पद मे देव गति के प्राप्त हुए कर्मदलिक असख्यातगुण होते है।

५ जिस समय चौदह मुख्य पिंडप्रकृतियो मे से जितनी प्रकृतियाँ बधती हो उतने ही भाग होते हैं, परन्तु शरीर आदि के अवान्तर भेद अधिक बधते हो तो भी चौदह मे से उनका अलग भाग नही होता है, परन्तु शरीर को प्राप्त दलिक मे से ही जिस समय जितने शरीर बधते हो उतने अवान्तर विभाग होते है। उदाहरणार्थ—देवगतिप्रायोग्य अट्ठाईस प्रकृति बधे तब उनमे सहनन नाम के बिना मुख्य तेरह पिंड प्रकृतियाँ बधती है, जिनसे उसके तेरह, अगरुलघुचतुष्क उपघात त्रसचतुष्क और यथासभव स्थिर अथवा अस्थिर षट्क इस प्रकार अट्ठाईस प्रकृति बाधे तब उसके अट्ठाईस भाग हो उस समय शरीर और सघात को प्राप्त दलिक के तीन, बधन को प्राप्त दलिक के छह और वर्णादि चतुष्क को प्राप्त दलिक के अनुक्रम से ५, २, ५ और ८ भाग होते हैं।

यद्यपि इस अट्ठाईस प्रकृतिक बधस्थान मे सघातन और बधन को गिना नही है और उसके बदले तैजस-कार्मण शरीर को ही गिना है परन्तु तैजस आदि दो शरीर को तो शरीर नाम कर्म को प्राप्त हुए दलिक मे से भाग मिलता है एव सघातन और बधन सर्वत्र बध और उदय मे शरीर के

साथ ही सदैव होते है, जिससे उनके दलिक की अलग से विवक्षा नही की है। परन्तु शरीर की तरह बधन और सघातन नामकर्म को भी स्वतन्त्र अलग भाग मिलता है, यह ध्यान मे रखना चाहिए।

उक्त दृष्टियो को ध्यान मे रखते हुए प्रदेशबध से प्राप्त दलिक को उत्कृष्ट और जघन्य पद मे विभाजित करने की प्रक्रिया जानना चाहिए। इसका वर्णन यथास्थान पूर्व मे किया गया है।

□□

परिशिष्ट ९

असत्कल्पना द्वारा षट्स्थानक प्ररूपणा का स्पष्टीकरण

षट्स्थानो मे अनन्तभागादि भागवृद्धि और सख्येयगुणादि गुणवृद्धि आदि के कडक जिस क्रम से होते है, इसका वर्णन पूर्व मे नामप्रत्यय स्पर्धक प्ररूपणा मे विस्तार से किया जा चुका है। तदनुसार यहाँ भी समझ लेना चाहिए। सक्षेप मे उस गुणाकार का प्रमाण इस प्रकार है—

१ अनन्तभाग वृद्धिस्थान	कडक प्रमाण (असत्कल्पना से ४ अक)
२ अनन्तभाग वृद्धिस्थान से असख्यातभाग वृद्धिस्थान	कडकाधिक कडकवर्ग प्रमाण (२० का अक)
३ अनन्तभाग वृद्धिस्थान से सख्यातभाग वृद्धिस्थान	कडकाधिक कडकवर्गद्वयाधिक कडक-घन (१०० अक)
४ अनन्तभाग वृद्धिस्थान से सख्यातगुणाधिक स्थान	कडकवर्गोन, कडकाधिक कडकवर्ग-वर्गद्वय प्रमाण (५०० का अक)
५ अनन्तभाग वृद्धिस्थान से असख्यातगुण वृद्धि स्थान	कडकाधिक, कडकघनत्रयाधिक, कडक-वर्गवर्गाधिक, कडकाभ्यासद्वय प्रमाण (२५०० का अक)
६ अनन्तभाग वृद्धिस्थान से अनन्तगुण वृद्धिस्थान	कडकवर्गत्रिकोन, कडकाधिक, कडक-वर्ग-वर्गाधिक कडकघन, वर्गत्रय प्रमाण (१२५०० का अक)

स्थापना मे सर्व अको का प्रमाण—४+२०+१००+५००+२५०० +१२५००=१५६२४।

इस पट्स्थानक प्ररूपणा मे वर्गादि का प्रमाण इस प्रकार समझना चाहिये—

कडकवर्ग ४ × ४ = १६ ।

कडकवर्गद्वय = ४ × ४ = १६, पुन ४ × ४ = १६ ; इस प्रकार दो वार १६ ।

कडकघन ४ × ४ × ४ = ६४ ।

कडकघनद्वय ४ × ४ × ४ = ६४, पुन ४ × ४ × ४ = ६४, इस तरह दो वार ६४ ।

कडकघनत्रय ४ × ४ × ४ = ६४, पुन ४ × ४ × ४ = ६४, पुन ४ × ४ × ४ = ६४, इस प्रकार तीन वार ६४ ।

कडकाभ्यासद्वय ४ × ४ × ४ × ४ × ४ = १०२४, पुन ४ × ४ × ४ × ४ × ४ = १०२४, इस प्रकार दो वार १०२४ । जो सख्या हो, उस सख्या को उसी सख्या से उतनी वार गुणा करने पर प्राप्त राशि को अभ्यास कहते है ।

कडकवर्गोन—कडकवर्ग का जो अक हो, उसे अन्तिम सख्या मे से कम कर देना ।

कडक वर्ग-वर्ग—कडक का वर्ग, उसका भी वर्ग, यथा ४ × ४ = १६ यह कडकवर्ग हुआ, उसका पुन वर्ग १६ × १६ = २५६ ।

उक्त गुणाकार मे कल्पना द्वारा पट्स्थान की अक सदृष्टि का प्रारूप स्वयमेव समझ लेना चाहिए ।

□□

षट्स्थानक में अधस्तनस्थान-प्ररूपणा का स्पष्टीकरण

षट्स्थान प्ररूपणा का स्पष्टीकरण पूर्व मे किया जा चुका है। षट्स्थानो मे वृद्धि की आद्य इकाई अनन्तभाग वृद्धिस्थान है और अधस्तनस्थान प्ररूपणा मे सर्वोच्च वृद्धि का स्थान अनन्तगुण वृद्धि का स्थान है। उससे नीचे-नीचे के स्थान मे अधस्तनस्थान प्ररूपणा की जाती है। इसीलिए उसे अधस्तनस्थान प्ररूपणा कहते हैं। अर्थात् विवक्षित वृद्धि की अपेक्षा नीचे की वृद्धि की विवक्षा करना, अधस्तनस्थान प्ररूपणा है। जिसका स्थापना पूर्वक स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

१ अनन्तगुण वृद्धि, २ असख्यातगुण वृद्धि, ३ सख्यातगुण वृद्धि ४ सख्यातभाग वृद्धि, ५ असख्यातभाग वृद्धि, ६ अनन्तभाग वृद्धि।

यह प्ररूपणा पाँच प्रकार की है—

१ अनन्तर मार्गणा, २ एकान्तरित मार्गणा, ३ द्व्यन्तरित मार्गणा, ४ त्र्यन्तरित मार्गणा, ५ चतुरन्तरित मार्गणा।

अनन्तर मार्गणा

बीच मे अन्य कोई भी वृद्धि न रखकर विवक्षित से नीचे की वृद्धि की प्ररूपणा करना। यथा—प्रथम असख्यातभाग वृद्धि की अपेक्षा अनन्त भाग वृद्धि के स्थान की प्ररूपणा। प्रथम सख्यातभाग वृद्धि की अपेक्षा असख्यात-भाग वृद्धि के स्थान का विचार। उसी प्रकार प्रथम अनन्तगुण वृद्धि की अपेक्षा असख्यातगुण वृद्धि के स्थान की विचारणा। इस मार्गणा मे पाच स्थान है।

एकान्तरित मार्गणा

विवक्षित वृद्धि से नीचे बीच मे एक वृद्धि को छोडकर प्ररूपणा करना। यथा—प्रथम सख्यातभाग वृद्धि के स्थान की अपेक्षा अनन्तभाग वृद्धि के स्थान की विचारणा। इस विचारणा के चार स्थान है।

द्व्यन्तरित मार्गणा

विवक्षित वृद्धि से नीचे बीच मे दो वृद्धि को छोडकर प्ररूपणा करना। यथा—प्रथम सख्यातगुण वृद्धि के स्थान की अपेक्षा अनन्तभाग वृद्धि के स्थान की प्ररूपणा। इस मार्गणा मे तीन स्थान हैं।

त्र्यन्तरित मार्गणा

विवक्षित वृद्धि से नीचे बीच मे तीन वृद्धि को छोडकर प्ररूपणा करना। यथा—प्रथम असख्यातगुण वृद्धि के स्थान की अपेक्षा अनन्तभाग वृद्धि के स्थान की प्ररूपणा। इस मार्गणा मे दो स्थान है।

चतुरन्तरित मार्गणा

विवक्षित वृद्धि से नीचे बीच मे चार वृद्धि को छोडकर प्ररूपणा करना। यथा—प्रथम अनन्तगुण वृद्धि के स्थान की अपेक्षा अनन्तभाग वृद्धि के स्थान की प्ररूपणा। इस मार्गणा मे एक स्थान है।

उक्त मार्गणाओ मे स्थानो का प्रमाण इस प्रकार जानना चाहिये—

अनन्तर मार्गणा मे

कण्डक प्रमाण स्थान जानना चाहिये। क्योकि अनन्तभाग वृद्धि के कण्डक प्रमाण स्थान व्यतीत होने पर असख्यातभाग वृद्धि का प्रथम स्थान प्राप्त होता है। असत्कल्पना से कण्डक का प्रमाण ४ अक है अतएव असख्यातभाग वृद्धि के ४ के अक से पूर्व अनन्तभाग वृद्धि के चार स्थान होने से कण्डक प्रमाण ४ स्थान जानना चाहिए।

एकान्तरित मार्गणा मे

कण्डकवर्ग और कण्डक प्रमाण। (असत्कल्पना से कण्डकवर्ग = ४ × ४ = १६ + ४ = २०)।

द्व्यन्तरित मार्गणा मे

कडकघन, दो कडकवर्ग और कडकप्रमाण (असत् कल्पना से ४×४×४=६४+१६+१६+४=१००)।

त्र्यन्तरित मार्गणा मे

कडकवर्गवर्ग, तीन कडकघन, तीन कडकवर्ग, और कडकप्रमाण (कल्पना से १६×१६=२५६+१९२+४८+४=५००)।

चतुरन्तरित मार्गणा मे

८ कडकवर्गवर्ग, ६ कडकघन, ४ कडकवर्ग और १ कडकप्रमाण (कल्पना से २५६×८=२०४८+३८४+६४+४=२५००)।

इस प्रकार कल्पना से प्रथम अनन्तगुण वृद्धि के स्थान से पूर्व ४+२०+१००+५००+२५००=३१२४ स्थान होते है।

□□

परिशिष्ट ११

असत्कल्पना द्वारा अनुकृष्टि प्ररूपणा का स्पष्टीकरण

अनुकृष्टि अर्थात् अनुकर्षण, अनुवर्तन। अनु—पश्चात् (पीछे से) कृष्टि—कर्षण—खीचना, यानि पाश्चात्य स्थितिबन्धगत अनुभागस्थानो को आगे-आगे के स्थितिबन्धस्थान मे खीचना अनुकृष्टि कहलाती है।

अमुक-अमुक प्रकृतियो की अनुकृष्टि एक समान होने से प्रकृतियो के इस प्रकार चार वर्ग बनाये हैं—

१ मतिज्ञानावरण आदि पैंतालीस घाति, अशुभ वर्णादि नवक, और उपघात, इन पचवन प्रकृतियो का अपरावर्तमान अशुभवर्ग है।

२—पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, शरीर-पचक, पचदश बधन-नाम, सघातनपच, अगोपागत्रिक, अगुरुलघु, निर्माण, शुभवर्णादि एकादश और तीर्थंकर नाम इन छियालीस प्रकृतियो का अपरावर्तमान शुभवर्ग है।

३ सातावेदनीय, प्रथम सहनन, प्रथम सस्थान, स्थिर-षटक, शुभ विहायोगति, मनुष्यद्विक, देवद्विक, पचेन्द्रियजाति और उच्चगोत्र, इन सोलह प्रकृतियो का परावर्तमान शुभवर्ग है।

४ असातावेदनीय, नरकद्विक, आदिजाति-चतुष्क, अशुभ विहायोगति, अन्तिम पाच सहनन और पाच सस्थान तथा स्थावर-दशक इन अट्ठाईस प्रकृतियो का परावर्तमान अशुभवर्ग है।

प्राय सभी प्रकृतियो की अभव्य जीव के ग्रन्थिदेश के समीप जो जघन्य स्थितिबन्ध होता है, वहाँ से प्रारम्भ कर अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति तक अनुकृष्टि का विचार किया जाता है। तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र इन

तीन प्रकृतियो की अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थिति से नीचे के स्थितिस्थानो मे भी अनुकृष्टि व्यवस्थित होने से इन तीन प्रकृतियो के परावर्तमान अशुभ-वर्ग की होने पर भी उसमे नही गिनकर पृथक् रूप से अनुकृष्टि का विचार किया जाता है ।

मतिज्ञानावरण आदि पचवन अपरावर्तमान अशुभ प्रकृतियो के अभव्य-प्रायोग्य जघन्य स्थितिबधस्थान मे उत्तरवर्ती स्थितिस्थानो की अपेक्षा अल्प होने पर भी असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण रसबन्ध के अध्यवसाय होते है । इन अध्यवसायो मे के प्रारम्भ के एक असख्यातवे भाग प्रमाण अध्यवसायो को कम कर शेष वे सब और कम किये अध्यवसायो की सख्या से कुछ अधिक नये अध्यवसाय समयाधिक जघन्य स्थितिस्थान मे होते है । पुन उनके प्रारम्भ के असख्यातवे भाग जितने अध्यवसायो को छोडकर शेष सब और जो छोडे गये है, उनसे कुछ विशेष सख्याप्रमाण नये अनुभागबध अध्यवसाय दो समयाधिक जघन्य स्थितिबधस्थान मे होते है । इस प्रकार प्रत्येक स्थितिस्थान मे रहे हुए रसबध के अध्यवसायो मे के प्रारम्भ के एक-एक असख्यातवे भागप्रमाण अध्यवसायो को छोडकर शेष वे सर्व और छोडे हुए अध्यवसायो से कुछ अधिक नये-नये अध्यवसाय ऊपर-ऊपर के स्थितिस्थान मे जाते है और ऐसा होने से सब जघन्य स्थितिबध के अध्यवसाय पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण अधिक स्थितिबध तक पहुँचते है ।

जिस स्थितिबध के अध्यवसाय जिस स्थितिस्थान तक पहुँचते है, उतने स्थितिस्थानो को एक कडक कहा जाता है और वह पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण होता है । जिससे जघन्य स्थितिबध के अध्यवसायो की अनुकृष्टि पल्योपम के असख्यातवे भाग के चरम स्थिति-स्थान मे पूर्ण होती है । समयाधिक जघन्य स्थितिस्थान के अध्यवसायो की कडक के ऊपर के प्रथम स्थितिस्थान मे, दो समयाधिक जघन्य स्थितिस्थान के अध्यवसायो की कडक के ऊपर के द्वितीय स्थिति स्थान मे, तीन समयाधिक जघन्य स्थिति-स्थान के अध्यवसायो की कडक के ऊपर के तृतीय स्थितिस्थान मे, इस तरह किसी भी विवक्षित स्थितिस्थान के अध्यवसायो की अनुकृष्टि उस

स्थितिस्थान के कडक के चरम स्थान मे पूर्ण होती है। जिसमे इस प्रकार सर्वोत्कृष्ट स्थितिबध के अन्तिम कडकप्रमाण स्थितिस्थानो मे के प्रथम स्थितिस्थान के अध्यवसायो की अनुकृष्टि कडक के चरम स्थिति रूप सर्वोत्कृष्ट स्थितिस्थान मे पूर्ण होती है।

पराघात आदि छियालीस अपरावर्तमान शुभ प्रकृतियो की अनुकृष्टि सर्वोत्कृष्ट स्थितिबधस्थान से अपने-अपने अभव्य-प्रायोग्य जघन्य स्थितिबध तक मतिज्ञानावरण आदि से विपरीत क्रम से जानना चाहिए। जो इस प्रकार—

सर्वोत्कृष्ट स्थितिबधस्थान मे नीचे-नीचे के स्थिति-स्थानो की अपेक्षा अल्प होने पर भी असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण रसबध के अध्यवसाय होते है। उनमे से आरम्भ के एक असख्यातवें भाग प्रमाण को छोडकर शेष सर्व और छोडे गये से कुछ अधिक नये अध्यवसाय समयन्यून उत्कृष्ट स्थितिबधस्थान होते हैं, समयन्यून उत्कृष्ट स्थितिबधस्थान मे जो अध्यवसाय हैं, उनमे के आदि के एक असख्यातवे भाग प्रमाण अध्यवसायो को छोडकर शेष सर्व और छोडे गये अध्यवसायो से कुछ अधिक नये अध्यवसाय दो समयन्यून उत्कृष्ट स्थितिबधस्थान मे होते है।

इस तरह प्रत्येक स्थितिबधस्थान मे अध्यवसायो मे के आदि के एक एक असख्यातवें भाग प्रमाण अध्यवसायो को छोडकर शेष सर्व एव छोडी हुई सख्या से कुछ अधिक नये-नये अध्यवसाय नीचे-नीचे के स्थितिबधस्थान मे जाने वाले होने से सर्वोत्कृष्ट स्थितिबध के अध्यवसाय प्रथम कडक के चरम स्थिति-स्थान तक जाते हैं। इसी तरह समयोन उत्कृष्ट स्थितिबध-स्थान के रसबध के अध्यवसायो की अनुकृष्टि कडक के नीचे के प्रथम स्थितिबधस्थान मे, दो समय न्यून उत्कृष्ट स्थितिबधस्थान के अध्यवसायो की कडक के नीचे दूसरे स्थितिबधस्थान मे, तीन समय न्यून उत्कृष्ट स्थिति-बधस्थान के अध्यवसायो की कडक के नीचे के तीसरे स्थिति-स्थान मे पूर्ण होती है, यावत् सबसे नीचे के कडक के पहले स्थिति-स्थान के अध्यव-सायो की अनुकृष्टि, उसी कडक के चरम स्थिति-स्थान रूप अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थिति-स्थान मे पूर्ण होती है।

सातावेदनीय आदि सोलह परावर्तमान शुभ प्रकृतियो और असातावेदनीय आदि अट्ठाईस परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो की अनुकृष्टि का विचार करने के पूर्व निम्नलिखित बिन्दुओ को ध्यान मे रखना चाहिए—

शुभ और अशुभ प्रतिपक्ष प्रकृतियो के जितने स्थितिस्थान प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त मे परावर्तन रूप मे बधते है, उतने स्थिति-स्थानो को आक्रात स्थितिस्थान कहा जाता है।

जैसे अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबध से प्रतिपक्ष दोनो प्रकृतियो मे से जिस प्रकृति का उत्कृष्ट स्थितिबध कम हो वहाँ तक के सभी स्थितिस्थान आक्रात कहलाते है, जिससे अभव्यप्रायोग्य साता-असाता वेदनीय के जघन्य स्थितिबध से साता के पन्द्रह कोडा-कोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबध तक के सभी स्थितिस्थान दोनो प्रकृतियो के आक्रान्त कहलाते हैं और उनमे की जिस प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति अधिक हो, वे स्थितिस्थान शुद्ध कहलाते है। अर्थात् दोनो प्रकृतियाँ बधे, वैसे मध्यम परिणाम नही होते है, परन्तु अधिक खराब परिणाम हो तभी जो स्थिति बधती है, जैसे कि पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थितिबध से अधिक स्थितिबधयोग्य सक्लिष्ट परिणाम हो तब समयाधिक पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम मे तीस कोडाकोडी सागरोपम तक की असातावेदनीय की स्थिति बधती है, जिससे वे सभी स्थितिस्थान शुद्ध कहलाते है।

इसी प्रकार प्रतिपक्ष दो प्रकृतियो मे से जिस प्रकृति का अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबध से भी अधिक न्यून जघन्य स्थितिबध होता है उन प्रकृतियो का उसकी प्रतिपक्ष प्रकृति का अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबध से अपने जघन्य स्थितिबध तक के नीचे के स्थितिस्थान शुद्ध होते है और इसी कारण असातावेदनीय के अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबध से नीचे सातावेदनीय के जघन्य स्थितिबध तक के सातावेदनीय के शुद्ध स्थितिस्थान होते है। अर्थात् अधिक विशुद्धि वाले परिणाम हो तब अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबध से भी हीन सातावेदनीय का जघन्य स्थितिबध होता है, जिससे सातावेदनीय के वे स्थिति-स्थान शुद्ध कहलाते है।

अमुक अपवाद के सिवाय शुभ प्रकृतियो के उत्कृष्ट स्थितिबध से अशुभ प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थितिबध अधिक होता है। अतएव शुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबध मे अशुभ प्रकृतियों का जितना अधिक उत्कृष्ट स्थिति-बध होता है, वह सब अशुभ प्रकृतियो का शुद्ध स्थितिस्थान होता है तथा अशुभ प्रकृतियो का अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबध मे प्राय शुभ प्रकृतियो का जघन्य स्थितिबध अत्यल्प होता है, जिससे अशुभ प्रकृतियो के अभव्य प्रायोग्य जघन्य स्थितिबध मे शुभ प्रकृतियों के नीचे के स्थितिस्थान शुद्ध होते हैं।

प्रतिपक्ष दोनो प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति समान होने पर भी अमुक मर्यादा तक का दोनो प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थितिबध करने वाले जीव एक न हो किन्तु भिन्न स्वरूप वाले हो तो वे अर्थात् स्थितिस्थान आक्रात नही भी होते किन्तु शुद्ध होते है। जैसे कि नरकद्विक और तिर्यचद्विक की बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति समान होने पर भी समयाधिक अठारह कोडाकोडी सागरोपम से बीस कोडाकोडा सागरोपम तक की नरकद्विक की उत्कृष्ट स्थिति मनुष्य, तिर्यंच और तिर्यचद्विक की देव और नारक ही बाधते है। इसी प्रकार समयाधिक अठारह कोडाकोडी सागरोपम से बीस कोडाकोटी सागरोपम तक की स्थावरनाम की उत्कृष्ट स्थिति मात्र ईशान तक के देव और त्रस नाम की ईशान तक के देवो को छोडकर शेष चार गति के जीव बाधते है। अतएव वे भी सभी स्थिति-स्थान शुद्ध होते है।

सातावेदनीय आदि शुभ प्रकृतियो के उत्कृष्ट स्थितिबध मे असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण रसबध के जो अध्यवसाय हैं वे सब और उनमे भी तीव्र शक्ति वाले कुछ नये अध्यवसाय समयोन उत्कृष्ट स्थितिबध मे भी होते है। समयोन उत्कृष्ट स्थितिबध मे जो अध्यवसाय होते है, वे सब और उनसे भी तीव्र शक्ति वाले कुछ नये अधिक अध्यवसाय दो समयोन उत्कृष्ट स्थितिबध मे भी होते है। दो समयन्यून उत्कृष्ट स्थिति-बध मे जो अध्यवसाय है, वे सब और उनसे तीव्र शक्ति वाले कुछ नये

प्रकृतियो के पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम आदि उत्कृष्ट स्थितिबंध तक असातावेदनीय आदि प्रकृतियो के पूर्व पूर्व के नीचे के स्थितिस्थान में रस बंध के जो अध्यवसाय हैं, वे सब और उनमें तीव्र शक्ति वाले कुछ अधिक नये नये अध्यवसाय उत्तरोत्तर ऊपर-ऊपर के स्थितिस्थान में होते हैं।

सातावेदनीय आदि की उत्कृष्ट स्थिति के समान असातावेदनीय आदि की पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम के स्थितिबन्धस्थान में जो अध्यवसाय है उनके प्रारम्भ के असख्यातवें भाग के अध्यवसायों को छोडकर शेष सब और कुछ अधिक तीव्र शक्ति वाले अध्यवसाय समयाधिक पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम के स्थितिबन्धस्थान मे होते है और इस स्थितिबन्धस्थान में जो अध्यवसाय है उनमे के प्रारम्भ के असख्यातवें भाग प्रमाण अध्यवसाय छोडकर शेष सब और छोडे हुए अध्यवसायो की सख्या से कुछ अधिक नये दो समयाधिक पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम के स्थितिबन्धस्थान मे होते हैं। यहाँ जो अध्यवसाय है उनमे का शुरू का असख्यातवा भाग छोडकर शेष सर्व और छोडी हुई सख्या से कुछ अधिक नये अध्यवसाय त्रिसमयाधिक पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम के स्थितिबन्धस्थान मे होते हैं।

इस प्रकार पूर्व-पूर्व के स्थितिबन्धस्थान मे रहे हुए अध्यवसायो का प्रारम्भ का असख्यातवा भाग छोड-छोडकर शेष सर्व और जो छोडे हैं, उनसे कुछ अधिक-अधिक तीव्र शक्ति वाले अध्यवसाय असातावेदनीय आदि प्रकृतियो के तीस कोडाकोडी सागरोपम आदि के उत्कृष्ट स्थितिबन्धस्थान तक होते है। वहाँ असातावेदनीय के पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण बन्ध के ऊपर के स्थितिबन्धस्थान के अध्यवसायो की अनुकृष्टि पल्योपम के असख्यातवें भाग प्रमाण ऊपर के कन्डक के अन्तिम स्थितिस्थान मे पूरी होती है। आक्रात स्थितियो की ऊपर के पहले कन्डक के दूसरे स्थितिस्थान के अध्यवसायो की कडक के ऊपर के पहले स्थितिस्थान मे, आक्रान्त स्थिति के ऊपर के तीसरे स्थितिबन्धस्थान के अध्यवसायो की अनुकृष्टि निवर्तन कन्डक के ऊपर के दूसरे स्थितिस्थान मे पूर्ण होती है।

इस प्रकार विवक्षित प्रत्येक स्थितिबन्धस्थान के अध्यवसायो की अनुकृष्टि उस-उस कन्डक के चरम स्थितिस्थान मे पूर्ण होती है। जिसमे सर्वो-

त्कृष्ट स्थितिबन्ध के अन्तिम कन्डक के प्रथम स्थितिस्थान की अनुकृष्टि उसी कन्डक के चरम स्थितिस्थान रूप तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण चरम स्थितिबन्धस्थान मे पूर्ण होती है। किन्तु सूक्ष्मत्रिक, विकलत्रिक तथा मध्यम चार संस्थान और चार संहनन इन चौदह प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अपनी-अपनी प्रतिपक्ष प्रकृतियो से कम है, अतएव अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबन्धस्थान से अपने-अपने उत्कृष्ट स्थितिबन्ध तक के सभी और कुछ नये-नये अध्यवसाय होते है। ये सभी स्थितियाँ आक्रान्त होती हैं इसलिए इन चौदह प्रकृतियो मे उपर्युक्त असातावेदनीय आदि की तरह शुद्ध स्थिति-स्थान नही होते हैं।

सातवी नरकपृथ्वी के नारक के सिवाय दूसरा कोई भी जीव सम्यक्त्वादि गुणो की प्राप्ति के समय तिर्यचद्विक और नीचगोत्र नही बांधते है, परन्तु सातवी नारक के जीव मिथ्यात्वावस्था मे इन तीन प्रकृतियो को अवश्य बांधने वाले होने से उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति के पूर्व समय मे भी इन्ही तीन प्रकृतियो को बांधते हैं और उस समय अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबन्ध से भी अत्यल्प स्थितिबन्ध होना है, अत मिथ्यात्व के चरम समय मे तिर्यंच गति आदि इन तीन प्रकृतियो को सातवी नरक पृथ्वी का नारक जितना जघन्य स्थितिबन्ध करता है, वहाँ से अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबन्ध तक इन तीन प्रकृतियो के अध्यवसायो की अनुकृष्टि मतिज्ञानावरण आदि प्रकृतियो के समान होती है और अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबन्ध से अपने-अपने उत्कृष्ट स्थितिबन्ध तक असातावेदनीय के समान अनुकृष्टि होती है। अर्थात् अभव्य-प्रायोग्य जघन्य स्थितिबन्ध से तिर्यचद्विक का अठारह कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण और नीचगोत्र का दस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थितिबन्ध आये, वहां तक के स्थितिस्थान आक्रात होते हैं और तिर्यचद्विक के समयाधिक अठारह कोडाकोडी सागरोपम से और नीचगोत्र के समयाधिक दस कोडा कोडी सागरोपम से ऊपर के बीस कोडाकोडी सागरोपम तक के सभी स्थिति-स्थान शुद्ध होते है।

त्रसचतुष्क सामान्य रूप से शुभ प्रकृति वर्ग मे गर्भित हो सकता है,

परिशिष्ट १२

अपरावर्तमान ५५ अशुभ प्रकृतियो की अनुकृष्टि का प्रारूप

(आवरणद्विक १४, मोहनीय २६, अन्तराय ५, अशुभ वर्णादि ६, उपघात १=५५)।

१ अपरावर्तमान अशुभ प्रकृतियो की अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबध के पश्चात की स्थितिवृद्धि से अनुकृष्टि प्रारम्भ होती है।

२ अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थिति को १ से ८ तक के अक द्वारा बतलाया गया है। क्योकि अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिस्थान (अन्त. कोडा-

जिससे इन चारो प्रकृतियो की अनुकृष्टि सातावेदनीय के समान हो सकती है। परन्तु बीस कोडाकोडी सागरोपम से समयाधिक अठारह कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण त्रसनाम का स्थितिबन्ध ईशान तक के देवो को छोडकर अन्य चारो गति के जीव और स्थावरनाम का ईशान तक के देव ही करते है। बादरत्रिक की प्रतिपक्षी सूक्ष्मत्रिक का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अठारह कोडा-कोडी सागरोपम से अधिक है ही नही, इसलिये इन चारो प्रकृतियो की अनु-कृष्टि पृथक बताई जाती है। अर्थात् बीस कोडाकोडी सागरोपम से समया-धिक अठारह कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थितिबन्ध तक पराघात की तरह और बाद मे अपने-अपने जघन्य स्थितिबन्ध तक सातावेदनीय की तरह अनुकृष्टि होती है। यानि अठारह कोडाकोडी सागरोपम से इनके प्रतिपक्ष स्थावरचतुष्क के अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबन्ध के समान स्थितिबन्ध हो वहाँ तक के सभी स्थितिस्थान आक्रान्त होते है और उनके सिवाय ऊपर के तथा नीचे के इस प्रकार दोनो बाजुओ के समस्त स्थिति-स्थान शुद्ध होते है।

अब उक्त भूमिका के आधार पर प्रारूपो के माध्यम से प्रकृतियो की अनुकृष्टि को स्पष्ट करते है।

□□

परिशिष्ट १२

अपरावर्तमान ५५ अशुभ प्रकृतियो की अनुकृष्टि का प्रारूप

(आवरणद्विक १८, मोहनीय २६, अन्तराय ५, अशुभ वर्णादि ६, उपघात १=५५)।
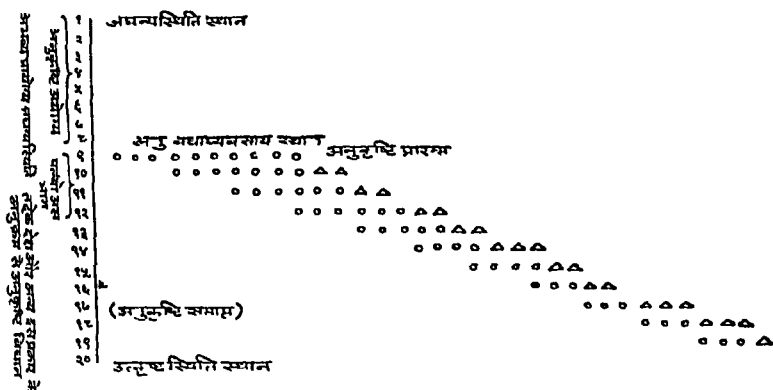
१ अपरावर्तमान अशुभ प्रकृतियो की अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध के पश्चात की स्थितिवृद्धि से अनुकृष्टि प्रारम्भ होती है।

२ अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थिति को १ से ८ तक के अक द्वारा बतलाया गया है। क्योंकि अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिस्थान (अन्त कोडा-

जिससे इन चारो प्रकृतियो की अनुकृष्टि सातावेदनीय के समान हो सकती है। परन्तु बीस कोडाकोटी सागरोपम से समयाधिक अठारह कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण त्रसनाम का स्थितिबन्ध ईशान तक के देवो को छोडकर अन्य चारो गति के जीव और स्थावरनाम का ईशान तक के देव ही करते है। बादरत्रिक की प्रतिपक्षी सूक्ष्मत्रिक का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अठारह कोडाकोडी सागरोपम से अधिक है ही नही, इसलिये इन चारो प्रकृतियो की अनुकृष्टि पृथक बताई जाती है। अर्थात् बीस कोडाकोडी सागरोपम से समयाधिक अठारह कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थितिबन्ध तक पराघात की तरह और बाद मे अपने-अपने जघन्य स्थितिबन्ध तक सातावेदनीय की तरह अनुकृष्टि होती है। यानि अठारह कोडाकोडी सागरोपम से इनके प्रतिपक्ष स्थावरचतुष्क के अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबन्ध के समान स्थितिबन्ध हो वहाँ तक के सभी स्थितिस्थान आक्रान्त होते है और उनके सिवाय ऊपर के तथा नीचे के इस प्रकार दोनो बाजुओ के समस्त स्थितिस्थान शुद्ध होते हैं।

अब उक्त भूमिका के आधार पर प्रारूपो के माध्यम से प्रकृतियो की अनुकृष्टि को स्पष्ट करते है।

□□

परिशिष्ट १२

अपरावर्तमान ५५ अशुभ प्रकृतियों की अनुकृष्टि का प्रारूप

(आवरणद्विक १४, मोहनीय २६, अन्तराय ५, अशुभ वर्णादि ९, उपघात १=५५)।

१ अपरावर्तमान अशुभ प्रकृतियो की अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध के पश्चात की स्थितिवृद्धि से अनुकृष्टि प्रारम्भ होती है।

२ अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थिति को १ से ८ तक के अक द्वारा बतलाया गया है। क्योंकि अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिस्थान (अन्त. कोडा-

कोडी) से नीचे के स्थितिस्थान अनुकृष्टि के अयोग्य हैं। अत उनसे आगे ६ के अक से आरम्भ करके २० तक के १२ स्थितिस्थानो मे अनुकृष्टि का विचार किया गया है। ये प्रत्येक अक एक-एक स्थितिस्थान का प्रतिनिधित्व करते है।

३ नौ के अक से जो अनुकृष्टि प्रारम्भ हुई है उसमे अक के सामने रखे गये ० (शून्य) तथा △ (त्रिकोण) को अनुभागबधाध्यवसायस्थान रूप जानना चाहिये। लेकिन इतना विशेष है कि ० (शून्य) से मूल अनुभागबधाध्यवसायस्थान और △ (त्रिकोण) से मूलोपरान्त का नवीन स्थान समझना चाहिये।

४ जघन्य स्थितिबधवृद्धि का प्रमाण पल्य का असख्यातवा भाग है। जिसे यहाँ ६ से १२ तक के चार अको द्वारा दिखाया गया है।

५ नौ के अक से जो अनुकृष्टि प्रारम्भ हुई है, उसमे वहाँ जितने अनुभागबधाध्यवसायस्थान होते है, उनका 'तदेकदेश' एव अन्य इतने अनु-स्थान दसवें स्थान मे होते है। 'तदेकदेश एव अन्य' अर्थात् पूर्व स्थान के अध्यवसायो के असख्यातवें भाग को छोडकर शेष सर्व और दूसरे भी। नौवें स्थितिस्थान मे जो स्थान होते हैं, उनमे के दसवें स्थितिस्थान मे तदेकदेश-रूप शून्य के द्वारा बताये गये स्थान हैं। उन्हें बताने के लिए शून्यो मे से आदि के यथायोग्य शून्य खाली छोडकर शेष शून्यो के नीचे पुन शून्य दिये गये हैं। अर्थात् पूर्व स्थिति-स्थान मे के अनु-स्थानो की पीछे के स्थितिस्थानो मे अनुकृष्टि जानना तथा △ (त्रिकोण) द्वारा 'अन्य' दूसरे नवीन अनु-स्थान जानना चाहिये।

६ बारहवें स्थितिस्थान मे नौवें स्थितिस्थान से प्रारम्भ हुई अनुकृष्टि समाप्त होती है। वहाँ तक नौवें स्थान के अनु-स्थान होते है। किन्तु इससे आगे तेरहवें आदि स्थानो मे उनका एक भी अनु-स्थान नही होता है। इसी तरह आगे के स्थानो के लिये समझना चाहिये। अर्थात् इसके बाद के दस आदि स्थितिस्थान सम्बन्धी अनु-स्थानो की अनुकृष्टि प्रारम्भ होती है, जो

उससे आगे के स्थितिस्थान मे समाप्त होती है। इसी प्रकार उत्कृष्ट स्थिति-स्थान तक समझना चाहिय।

७ इसी प्रकार से छियालीस अपरावर्तमान शुभ प्रकृतियो की अनकृष्टि प्ररूपणा जानना चाहिए। लेकिन इतना विशेप है कि उत्कृष्ट स्थितिस्थान से प्रारम्भ करके अनुकृष्टि अयोग्य जघन्य स्थितिस्थानो को छोडकर शेष जघन्य स्थितिस्थान तक समाप्त करना चाहिये।

परिशिष्ट १३

अपरावर्तमान ४६ शुभ प्रकृतियो की अनुकृष्टि का प्रारूप

(पराघात, बन्धननाम १५, शरीरनाम ५, सघातनाम ५, अगोपाग ३, शुभवर्णादि ११, तीर्थंकर, निर्माणनाम, अगुरुलघुनाम, उच्छ्वास, आतप, उद्योतनाम=४६)।
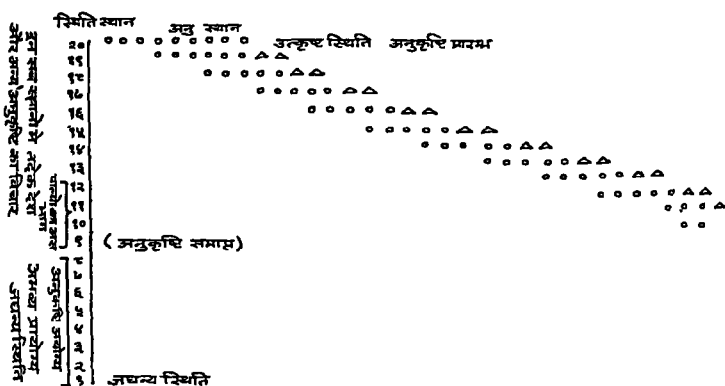
१ अपरावर्तमान शुभ प्रकृतियो की अनुकृष्टि उत्कृष्ट स्थितिबन्धस्थान से प्रारम्भ होती है।

२ उत्कृष्ट स्थितिबन्धस्थान मे जो अनु स्थान होते है, उनका असख्यातवाँ भाग छोडकर शेष भाग और अन्य उससे अधस्तनवर्ती स्थितिस्थान मे होते है। जिसे ३ बिन्दु रूप असख्यातवा भाग छोडकर शेष भाग को लेते हुए

'अन्य' को दो △ से १९वें अक मे बताया है। इस प्रकार पल्योपम के असख्यातवें भाग स्थितियाँ अतिक्रात होती है। यहाँ पर उत्कृष्ट स्थितिस्थान से प्रारम्भ हुई अनुकृष्टि समाप्त होती है। जो उत्कृष्ट स्थितिस्थान २० के अक से ९ के अक तक जानना।

३. इसके बाद के अधस्तनस्थान मे एकसमयोन उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के प्रारम्भ मे जो अनु स्थान थे, उनकी अनुकृष्टि समाप्त होती है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिए जब तक जघन्य स्थिति का स्थान प्राप्त होता है और उन कर्म प्रकृतियो की जघन्य स्थिति होती है।

४. अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थिति अनुकृष्टि के अयोग्य है। अत उसमे अनुकृष्टि का विचार नही किया जाता है जो १ से ८ अको द्वारा प्रदर्शित की है।

□□

परिशिष्ट १४

परावर्तमान २८ अशुभ प्रकृतियो की अनुकृष्टि का प्रारूप

(असातावेदनीय, स्थावरदशक, एकेन्द्रियादि जातिचतुष्क, आदि से रहित सस्थान तथा सहनन १०, नरकद्विक, अशुभ विहायोगति = २८)
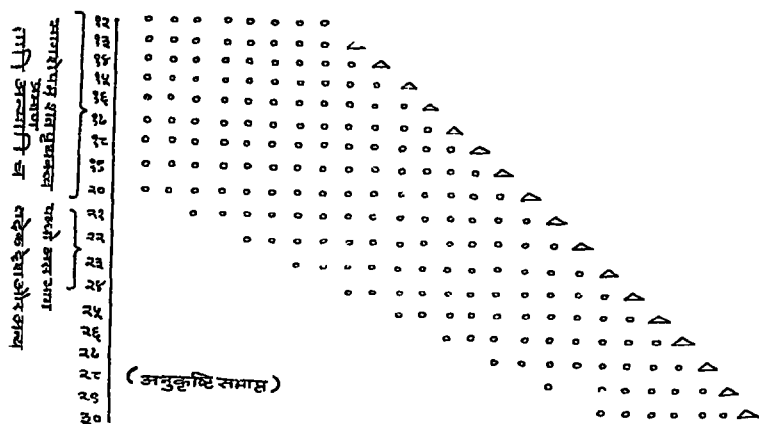
१ परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो की अनुकृष्टि का विचार असातावेदनीय के माध्यम से किया है।

२ असातावेदनीय मे दो प्रकार की अनुकृष्टि होती है—

१ तानि अन्यानि च, २ तदेकदेश और अन्य।

३ इस प्रकार की अनुकृष्टि सातावेदनीय की अनुकृष्टि से विपरीत जानना।

४ अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिस्थान से सागरोपमशतपृथक्त्व प्रमाण स्थिति तक की स्थितिया सातावेदनीय के साथ परावर्तमान रूप से बधती है। वे परस्पर आक्रात स्थितिया है, जिन्हे ~~ इस प्रकार की पक्ति से सूचित-किया है। वहाँ तक 'तानि अन्यानि च' इस क्रम से अनुकृष्टि कहना चाहिए।

५ इसके आगे उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त 'तदेकदेश और अन्य' के क्रम से अनुकृष्टि कहना चाहिए। जिसे प्रारूप मे २१ से ३० तक के अको द्वारा बताया है।

६ पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थितियो के जाने पर जघन्य अनु॰ स्थान की अनुकृष्टि समाप्त होती है। उससे आगे उत्तर-उत्तर के स्थान मे पूर्व-पूव के एक-एक स्थान की अनुकृष्टि समाप्त होती है। यह क्रम असाता की उत्कृष्ट स्थिति तक जानना चाहिए।

परिशिष्ट १५

परावर्तमान १६ शुभ प्रकृतियो की अनुकृष्टि का प्रारूप

(सातावेदनीय, मनुष्यद्विक, देवद्विक, पचेन्द्रियजाति, समचतुरस्रसंस्थान वज्रऋषभनाराचसहनन, शुभविहायोगति, स्थिरषट्क, उच्चगोत्र = १६)।

१ परावर्तमान शुभ प्रकृतियो की अनुकृष्टि का विचार सातावेदनीय के माध्यम से किया है।

२ सातावेदनीय मे सागरोपमशतपृथक्त्व प्रमाण स्थितिस्थानो मे १ 'तानि अन्यानि च' और पल्यो असख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिस्थानो मे २ 'तदेकदेश और अन्य' इस तरह दो प्रकार की अनुकृष्टि होती है ।

३ साता की उत्कृष्ट स्थिति के जो अनु स्थान है, वे सभी एक समय कम उत्कृष्ट स्थितिस्थान मे भी होते है और अन्य भी होते है ।

४ प्रारूप मे २० का अक साता की उत्कृष्ट स्थिति का द्योतक है और उसके सामने दिये गये बिन्दु अनुभाग स्थानो के सूचक है ।

५ समयोन उत्कृष्ट स्थितिस्थान के सूचक १९वे अक मे उन सर्व अनु स्थानो की अनुकृष्टि २०वें अक के बिन्दुओ द्वारा बतलाई है तथा △ अन्य अनु स्थानो का सूचक है । ये △ द्वारा सूचित अन्य अनुभाग स्थान उत्तरोत्तर अधिक जानना । यह क्रम उत्तरोत्तर सागरोपमशतपृथक्त्व तक जानना, जिसे प्रारूप मे १२ के अक तक बतलाया है । यह क्रम अभव्यप्रायोग्य असाता-वेदनीय की जघन्य स्थिति के बन्ध तक चलता है ।

६. उसके आगे 'तदेकदेश और अन्य' के प्रमाण से अनुकृष्टि सातावेदनीय के जघन्य स्थितिबन्ध तक जानना । जिसकी अनुकृष्टि पूर्वोक्त अपरावर्तमान अशुभ प्रकृतिवत् है ।

□□

<u>परिशिष्ट १६</u>

तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र की अनुकृष्टि का प्रारूप
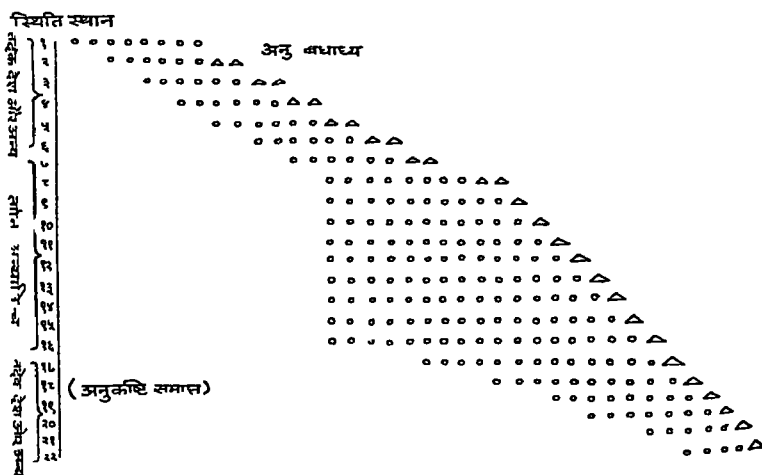
१ तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र मे तीन प्रकार की अनुकृष्टि होती है—

(अ) 'तदेकदेश और अन्य'—जिसे अभव्य प्रा ज स्थान से नीचे के स्थान बताने वाले १ से ६ तक के अक द्वारा बताया है।

(आ) 'तानि अन्यानि च'—अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबन्ध के योग्य सागरोपमशतपृथक्त्व स्थितियो मे 'तानि अन्यानि च' इस क्रम से जानना जिसे ७ से १६ तक के अक द्वारा बताया है।

(इ) 'तदेकदेश और अन्य'—इसके आगे उत्कृष्ट स्थितिस्थान पर्यन्त जानना। जिसे १७ से २२ तक के अक द्वारा स्पष्ट किया है। □□

त्रसचतुष्क की अनुकृष्टि का प्रारूप

(त्रस, बादर, पर्याप्त और प्रत्येक=४)
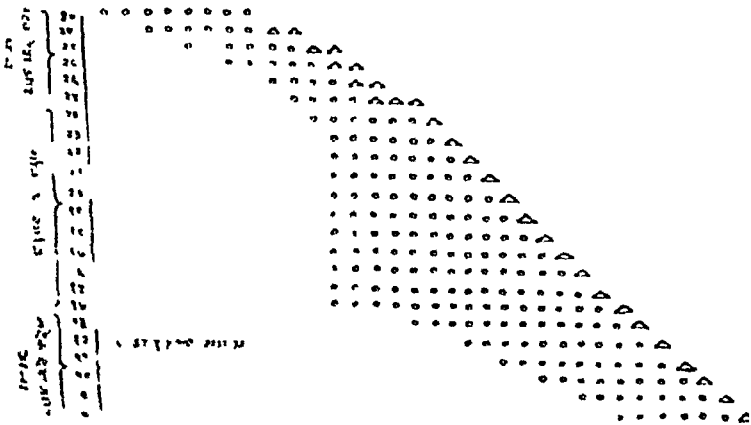
(आ) 'तानि अन्यानि च'—इससे आगे (१८ सागरोपम से नीचे साग-रोपम शतपृथक्त्व तक) अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिस्थान तक 'तानि अन्यानि च' के क्रम से जानना, जिसे प्रारूप मे २४ से १४ तक के अको द्वारा बतलाया है।

(इ) 'तदेकदेश और अन्य'—इससे नीचे पल्योपम के असख्यातवें भाग स्थितिस्थानो मे 'तदेकदेश और अन्य' इस क्रम से अनुकृष्टि होती है। जिसे प्रारूप मे अक १३ से ८ तक के अक द्वारा बतलाया है।

□□

असत्कल्पना द्वारा तीव्रता–मंदता की स्थापना की रूपरेखा

प्रकृतियो मे जैसे परावर्तमान, अपरावर्तमान शुभ, अशुभ की अपेक्षा अनुभागवधस्थानो की अनुकृष्टि का विचार किया गया है, उसी प्रकार से अब उनकी तीव्रता-मदता का स्पष्टीकरण असत्कल्पना के प्रारूप द्वारा करते है।

तीव्रता-मदता का परिज्ञान करने के लिये यह सामान्य नियम है कि सभी कृतियो का अपने-अपने जघन्य अनुभागवध से आरम्भ कर उत्कृष्ट अनुभाग-धध तक प्रत्येक स्थितिबधस्थान मे उत्तरोत्तर अनुक्रम से पूर्वापेक्षा अनन्तगुण, अनन्तगुण अनुभाग समझना चाहिये। लेकिन अशुभ और शुभ प्रकृतियो की अपेक्षा विशेषता इस प्रकार है—

१ शुभ प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थितिस्थान से प्रारम्भ कर जघन्य स्थिति-स्थान तक उत्तरोत्तर नीचे-नीचे अनुक्रम से अनन्तगुण, अनन्तगुण अनुभाग समझना चाहिये।

२ अशुभ प्रकृतियो का जघन्य स्थितस्थान से आरम्भ कर उत्तरोत्तर ऊपर-ऊपर के क्रमानुसार उत्कृष्ट स्थितिस्थान मे अनन्तगुण-अनन्तगुण अनुभाग होता है।

इस प्रकार सामान्य से तीव्रता-मदता का नियम बतलाने के पश्चात् असत्कल्पना के प्रारूप द्वारा अपरावर्तमान ५५ अशुभ प्रकृतियो की तीव्रता-मदता को स्पष्ट करते हैं।

परिशिष्ट १९

अपरावर्तमान ५५ अशुभ प्रकृतियों की तीव्रता-मंदता

(आवरणद्विक १४, मोहनीय २६, अन्तराय ५, अशुभवर्णादि ९, उपघात १ = ५५)

[तीव्रता-मंदता के अयोग्य]
१
२
३
४
५
६
७
८

[निवर्तन कंडक]
९ का जघन्य अनु अल्प उससे
१० ,, अनन्तगुण
११ ,, ,,
१२ ,, ,,

१३ ,, ,,
१४ ,, ,,
१५ ,, ,,
१६ ,, ,,
१७ ,, ,,
१८ ,, ,,
१९ ,, ,,
२० ,, ,,

—९ का उत्कृष्ट अनु अन गुण उस
—१० ,, ,,
—११ ,, ,,
—१२ ,, ,,
—१३ ,, ,,
—१४ ,, ,,
—१५ ,, ,,
—१६ ,, ,,

[कंडक प्रमाण स्थितियाँ]
—१७ ,, ,,
१८ ,, ,,
१९ ,, ,,
२० ,, ,,

१ अभव्यप्रायोग्य (अन्त कोडाकोडी रूप) जघन्य स्थितिस्थान तीव्रता-मदता के अयोग्य हैं। जिन्हे प्रारूप मे १ से ८ तक के अक द्वारा बताया है।

२ निवर्तनकण्डक की प्रथम स्थिति मे जघन्य अनुभाग से जघन्य स्थिति मे उत्तरोत्तर अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप मे ६ से १२ तक के अक द्वारा बताया है।

३. तदनन्तर कण्डक से ऊपर प्रथम स्थिति मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप मे अक १२ के सामने ६ का अक देकर बताया है।

४. इसके वाद कण्डक से ऊपर द्वितीय स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्त-गुण है। जिसे प्रारूप मे १३ के अक से बताया है।

५ उसके नीचे द्वितीय स्थिति मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप मे अक १३ के सामने १० का अक देकर बताया है।

६ इसके वाद तृतीय स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप मे १४ के अक से बताया है।

७ इस प्रकार एक ऊपर और एक नीचे यथाक्रम से अनन्तगुणत्व तव तक कहना चाहिये, जव तक उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग प्राप्त होता है। जिसे प्रारूप मे १४-११, १५-१२, १६-१३, १७-१४ आदि लेते हुए उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग २० के अक तक बताया है।

८ शेप कण्डक मात्र उत्कृष्ट स्थिति का जो अनुभाग अनुक्त है, वह सर्वोत्कृष्ट स्थिति के जघन्य अनुभाग से कण्डक मात्र स्थितियो की प्रथम स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है, फिर उसकी उपरितन स्थितियो मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। पुन उसके बाद की उपरितन स्थिति मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। इस प्रकार उत्कृष्ट अनुभाग का अनन्तगुणत्व उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त कहना चाहिये। जिसे प्रारूप मे कण्डक प्रमाण (१७-२०) चार स्थितिया लेकर बताया है। इनमे प्रथम स्थिति १७ के अक से है। तत्पश्चात १८, १६, २० के अक तक अनन्तगुणत्व जानना चाहिये।

९ २० का अक उत्कृप्ट स्थिति व उत्कृष्ट अनुभाग का सूचक है।

१० इस प्रकार की रेखा '—' परस्पर-आक्रान्त-प्ररूपणादर्शक है। जिसका आशय यह है कि १२ के अक के जघन्य अनुभाग से अक ९ का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण, ९ के अक के उत्कृष्ट अनुभाग से १३ के अक का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण, १३ के अक के जघन्य अनुभाग से ११ के अक का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। इसी प्रकार के क्रम से जघन्य, उत्कृष्ट अनुभाग की अनन्तगुणता परस्पर आक्रान्त प्ररूपणा से करना चाहिये।

अपरावर्तमान ४६ शुभ प्रकृतियों की तीव्रता-मंदता

(पराघात, उद्योत, आतप, शुभवर्णादि ११, अगुरुलघु, निर्माण, तीर्थंकर, उच्छ्वास, बन्धननाम १५, शरीरनाम ५, संघातनाम ५, अंगोपांगनाम ३ = ४६)

उक्त प्रकृतियो की तीव्रता-मन्दता का दर्शक प्रारूप इस प्रकार है—

निवर्तन कंडक	२० का जघन्य अनु	अल्प उससे				
	१९	,,	अनन्तगुण			
	१८	,,	,,			
	१७	,,	,,	—२० का उत्कृष्ट अनु	अनन्तगुण उससे	
	१६	,,	,,	—१९	,,	,,
	१५	,,	,,	—१८	,,	,,
	१४	,,	,,	—१७	,,	,
	१३	,,	,,	—१६	,,	,,
	१२	,,	,,	—१५	,,	,,
	११	,,	,,	—१४	,,	,,
	१०	,,	,,	—१३	,,	,,
	९	,,	,,	—१२	,,	,,
अभव्यप्रायोग्य स्थिति	८			११	,,	,,
	७			१०	,,	,,
	६			९	,,	,,
	५			८		
	४			७		
	३			६		
	२			५		
	१			४		
				३		
				२		
				१		

१ अपरावर्तमान शुभ प्रकृतियो की तीव्रता-मन्दता का विचार अनुकृष्टि की तरह उत्कृष्ट स्थिति से प्रारम्भ कर अभव्य-प्रायोग्य स्थिति को छोडकर शेष स्थितियो मे करना चाहिए। अभव्यप्रायोग्य स्थिति १ से ८ तक के अक द्वारा बताई है तथा २० का अक उत्कृष्ट स्थिति का दर्शक है।

२, उत्कृष्ट स्थिति के जघन्य पद का जघन्य अनुभाग अल्प है। इसके बाद समयोन उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है, उससे भी द्विसमयोन उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। यह तब तक कहना यावत् निवर्तनकण्डक अर्थात् पल्योपम के असख्यातभाग मात्र स्थितियाँ अतिक्रात हो जाती है। जिन्हे प्रारूप मे २० से १७ के अक तक बताया है।

३ निवर्तनकण्डक से नीचे प्रथम स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप मे २० के अक से बताया है।

४ उसके बाद समय कम उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप मे १६ के अक से नीचे के अक से बताया है। निवर्तनकण्डक से नीचे द्वितीय स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है, जिसे १५ के अक से बतलाया है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिए, जब तक जघन्य स्थिति का जघन्य अनुभाग प्राप्त होता है।

५ प्रारूप मे '—' इस प्रकार की पक्ति परस्पर-आक्रात-प्ररूपणा की दर्शक है। जिसका आशय यह है कि २० के अक के उत्कृष्ट अनुभाग से १७ का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है और पुन १६, पुन १८, पुन १५ इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग ९ के अक तक कहना चाहिये।

६ उत्कृष्ट स्थिति के उत्कृष्ट अनुभाग की कण्डकमात्र जो स्थितिया अनुक्त है, उसे जघन्य स्थिति पर्यन्त अनन्तगुण जानना चाहिये। जिन्हे प्रारूप मे १२ के अक से ९ के अङ्क पर्यन्त बताया है।

□□

परावर्तमान १६ शुभ प्रकृतियों की तीव्रता-मंदता

(सातावेदनीय, मनुष्यगतिद्विक, देवगतिद्विक, पचेन्द्रियजाति, समचतुरस्र-सस्थान, वज्रऋषभनाराचसहनन, शुभविहायोगति, स्थिरषट्क और उच्च गोत्र)।

उक्त प्रकृतियो की तीव्रता-मदता दर्शक प्रारूप इस प्रकार है—

९० का जघन्य अनु	स्तोक	उससे
८९	"	"
८८	"	"
८७	"	"
८६	"	"
८५	"	"
८४	"	"
८३	"	"
८२	"	"
८१	"	"
८०	"	"
७९	"	"
७८	"	"
७७	"	"
७६	"	"
७५	"	"
७४	"	"
७३	"	"
७२	"	"
७१	"	"

सागरोपम शतपृथक्त्व ↓

↑

	स्थिति	अनुभाग	अल्पबहुत्व
	७० का	जघन्य अनु	स्तोक उससे
प्रमाण स्थितियाँ	६९	,,	,,
	६८	,,	,,
	६७	,,	,,
	६६	,,	,,
	६५	,,	,,
	६४	,,	,,
	६३	,,	,,
	६२	,,	,,
	६१	,,	,,
	६०	,,	,,
	५९	,,	,,
	५८	,,	,,
	५७	,,	,,
	५६	,,	,,
	५५	,,	,,
	५४	,,	,,
	५३	,,	,,
	५२	,,	,,
	५१	,,	,,
कण्डक का असं भाग	५०	,,	,,
	४९	,,	,,
	४८	,,	,,
	४७	,,	,,
	४६	,,	,,
	४५	,,	,,
	४४	,,	,,
अव १ भाग कण्डक का	४३	,,	,,
	४२	,,	,,
	४१	,,	,,

स्थिति	अनुभाग	अल्पबहुत्व
—९० का	उत्कृष्ट अनु	अनन्तगुण उससे
८९	,,	,,
८८	,,	,,
८७	,,	,,
८६	,,	,,
८५	,,	,,
८४	,,	,,
८३	,,	,,

८२ का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण उससे
८१ ,, ,,

४३ का जघन्य अनु अनन्तगुण उससे—८० ,, ,,
७९ ,, ,,
७८ ,, ,,
७७ ,, ,,
७६ ,, ,,
७५ ,, ,,
७४ ,, ,,
७३ ,, ,,
७२ ,, ,,
७१ ,, ,,

४२ का जघन्य अनु अनन्तगुण उससे—७० ,, ,,
६९ ,, ,,
६८ ,, ,,
६७ ,, ,,
६६ ,, ,,
६५ ,, ,,
६४ ,, ,,
६३ ,, ,,
६२ ,, ,,
६१ ,, ,,

४१ का जघन्य अनु अनन्तगुण उससे—६० ,, ,,
५९ ,, ,,
५८ ,, ,,
५७ ,, ,,
५६ ,, ,,
५५ ,, ,,
५४ ,, ,,
५३ ,, ,,
५२ ,, ,,
५१ ,, ,,

४० का जघन्य अनु	अनन्तगुण उससे		—५० का उत्कृष्ट अनु	अनन्तगुण उससे	
३९	,,	,,	—४९	,,	,,
३८	,,	,,	—४८	,,	,,
३७	,,	,,	—४७	,,	,,
३६	,,	,,	—४६	,,	,,
३५	,,	,,	—४५	,,	,,
३४	,,	,,	—४४	,,	,,
३३	,,	,,	—४३	,,	,,
३२	,,	,,	—४२	,,	,,
३१	,,	,,	—४१	,,	,,
३०	,,	,,	—४०	,,	,,
२९	,,	,,	—३९	,,	,,
२८	,,	,,	—३८	,,	,,
२७	,,	,,	—३७	,,	,,
२६	,,	,,	—३६	,,	,,
२५	,,	,,	—३५	,,	,,
२४	,,	,,	—३४	,,	,,
२३	,,	,,	—३३	,,	,,
२२	,,	,,	—३२	,,	,,
२१	,,	,,	—३१	,,	,,
		कण्डक प्रमाण स्थितियाँ	३०	,,	,,
			२९	,,	,,
			२८	,,	,,
			२७	,,	,,
			२६	,,	,,
			२५	,,	,,
			२४	,,	,,
			२३	,,	,,
			२२	,,	,,
			२१	,,	,,

१ परावर्तमान शुभ प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग स्तोक है। जिसे प्रारूप मे ९० के अङ्क से बतलाया है। इसी प्रकार एक समय कम, दो समय कम यावत् सागरोपम शतपृथक्त्व प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति

का जघन्य अनुभाग पूर्वोक्त प्रमाण ही जानना अर्थात् स्तोक जानना। जिसे प्रारूप मे ८६ के अङ्क से लेकर ५१ तक के अङ्क तक वताया है।

२ उससे (सागरोपम शतपृथक्त्व से) भी नीचे अनुभाग अनन्तगुण एक भाग हीन कण्डक के असख्येय भाग तक जानना।

३ यहाँ असत्कल्पना से प्रत्येक कण्डक मे १० सख्या समझना चाहिये। इस नियम से एक भागहीन कण्डक के असख्येय भाग की ७ सख्या ली है। जिसे प्रारूप मे ५० से ४४ तक के अङ्क द्वारा बतलाया है। एक भाग अवशेष रहा, उसके ४३, ४२, ४१ ये तीन अङ्क वतलाये है।

४ असख्येय भागहीन (सख्येयभागहीन) शेष असख्येयभाग स्थितियो की 'साकारोपयोगी' सज्ञा है।

५ उसके बाद उत्कृष्ट स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप मे ४४ के अङ्क के सामने आने वाले ९० के अङ्क से वतलाया है। ये स्थितियाँ भी कण्डक मात्र होनी हैं। इसलिए ९० से ८१ अङ्क तक की दस सख्या को कण्डक जानना।

६ इसके बाद जघन्य अनुभाग जहाँ से कहकर निवृत्त हुए थे, वहाँ से नीचे का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप मे ४३ के अङ्क से वतलाया है।

७ इसके पश्चात् उत्कृष्ट स्थिति का अनुभाग कण्डक प्रमाण अनन्तगुण है, जिसे ८० से ७१ अङ्क तक बतलाया है।

८ इसके बाद पुन जघन्य अनुभाग से नीचे का अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप मे ४२ के अङ्क द्वारा वतलाया है।

९ इसके बाद पुन उत्कृष्ट स्थिति का अनुभाग अनन्तगुण कण्डकमात्र तक जानना, जिसे ७० से ६१ तक के अङ्क द्वारा बतलाया हैं। पुन जघन्य अनुभाग से नीचे का अनुभाग अनन्तगुण है, जिसे प्रारूप मे ४१ के अङ्क से वतलाया है।

१० इसके बाद उत्कृष्ट स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग कण्डक प्रमाण अनन्तगुण है, जिसे ६० से ५१ तक के अङ्क द्वारा वतलाया है। इस प्रकार

उत्कृष्ट स्थिति के उत्कृष्ट अनुभाग ६० से ५१ तक सागरोपम शतपृथक्त्व प्रमाण हैं।

११ इसके बाद पुन प्रागुक्त जघन्य अनुभाग से नीचे का अनुभाग अनन्तगुण है जिसे ४० के अङ्क से बतलाया है। इसके बाद उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है, जिसे ५० के अङ्क से बतलाया है। इसी प्रकार जघ अनु तब तक कहना चाहिए, जब तक जघन्य अनुभाग की जघन्य स्थिति न आ जाये। ये परस्पर आक्रात स्थितिया हैं, अत अब जघन्य ३९, उत्कृष्ट ४९, जघन्य ३८, उत्कृष्ट ४८, जघन्य ३७, उत्कृष्ट ४७, इस प्रमाण से अनुभाग का दिग्दर्शन कराते हुए उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग २१ के अङ्क पर्यन्त जानना और उत्कृष्ट स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग ३१ के अङ्क पर्यन्त जानना।

१२ इसके पश्चात् उत्कृष्ट स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग कण्डक प्रमाण अनन्तगुण कहना, जिन्हे ३० से २१ तक के अङ्क द्वारा बतलाया है।

□□

परावर्तमान २८ अशुभ प्रकृतियों की तीव्रता–मंदता

(असातावेदनीय, नरकगतिद्विक, पचेन्द्रियजाति हीन जातिचतुष्क, आदि के सस्थान और सहनन रहित शेष पांच सस्थान और सहनन, अशुभ विहायोगति, स्थावरदशक = २८)

परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो की तीव्रता-मदता का विचार अनुकृष्टि की तरह जघन्य स्थिति से प्रारम्भ कर उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त किया जाता है।

परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो की तीव्रता-मन्दता दर्शक प्रारूप इस प्रकार है—

सागरोपम शतपृथक्त्व प्रमाण स्थितियाँ→

२१ का	जघन्य अनु	अल्प उससे
२२	,,	,,
२३	,,	,,
२४	,,	,,
२५	,,	,,
२६	,,	,,
२७	,,	,,
२८	,,	,,
२९	,,	,,
३०	,,	,,
३१	,,	,,
३२	,	,,
३३	,,	,,
३४	,,	,,

सागरोपम शतपृथक्त्व प्रमाण स्थितियाँ ↓

३५ का जघन्य अनु.	अल्प	उससे
३६	,,	,,
३७	,,	,,
३८	,,	,,
३९	,,	,,
४०	,,	,,
४१	,,	,,
४२	,,	,,
४३	,,	,,
४४	,,	,,
४५	,,	,,
४६	,,	,,
४७	,,	,,
४८	,,	,,
४९	,,	,,
५०	,,	,,

कण्डक का असं० भाग

५१ का जघन्य अनु	अनन्तगुण उससे		
५२	,,	,,	
५३	,,	,,	
५४	,,	,,	
५५	,,	,,	
५६	,,	,,	
५७	,,	,,	—११ का उत्कृष्ट अनु अनन्त

अवशिष्ट एक भाग — कण्डक का

५८	,,	,,	१२	,,
५९	,,	,,	१३	,,
६०	,,	,,	१४	,,
			१५	,,
			१६	,,
			१७	,,
			१८	,,
			१९	,,
			२०	,,

५८ का जघन्य अनु अनन्तगुण उससे—२१ ,,

	२२ का उत्कृष्ट	अनु.	अनतगुण उससे
	२३	,,	,,
	२४	,,	,,
	२५	,,	,,
	२६	,,	,,
	२७	,,	,,
	२८	,,	,,
	२९	,,	,,
	३०	,,	,,
५९ का ज अनु अनन्तगुण उससे—	३१	,,	,,
	३२	,,	,,
	३३	,,	,,
	३४	,,	,,
	३५	,,	,,
	३६	,,	,,
	३७	,,	,,
	३८	,,	,,
	३९	,,	,,
	४०	,,	,,
६० का ज अनुभाग अनन्तगुण उससे—	४१	,,	,,
	४२	,,	,,
	४३	,,	,,
	४४	,,	,,
	४५	,,	,,
	४६	,,	,,
	४७	,,	,,
	४८	,,	,,
	४९	,,	,,
	५०	,,	,,
६१ का ज अनुभाग अनन्तगुण उससे—	५१	,,	,,
६२ ,, ,, —	५२	,,	,,
६३ ,, ,, —	५३	,,	,,
६४ ,, ,, —	५४	,,	,,

६५ का जघन्य अनु	अनन्तगुण उससे	—	५५ का उत्कृष्ट अनु	अनन्तगुण उससे	
६६	”	”	—५६	”	”
६७	”	”	—५७	”	”
६८	”	”	—५८	”	”
६९	”	”	—५९	”	”
७०	”	”	—६०	”	”
७१	”	”	—६१	”	”
७२	”	”	—६२	”	”
७३	”	”	—६३	”	”
७४	”	”	—६४	”	”
७५	”	”	—६५	”	”
७६	”	”	—६६	”	”
७७	”	”	—६७	”	”
७८	”	”	—६८	”	”
७९	”	”	—६९	”	”
८०	”	”	—७०	”	”
		अवशिष्ट कण्डक	७१	”	”
			७२	”	”
			७३	”	”
			७४	”	”
			७५	”	”
			७६	”	”
			७७	”	”
			७८	”	”
			७९	”	”
			८०	”	”

१ परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो की जघन्य स्थिति का जघन्य अनुभाग सर्वस्तोक (अल्प) है। जिसे प्रारूप मे २१ के अङ्क से बतलाया है। इसी प्रकार द्वितीय, तृतीय, यावत् सागरोपम शतपृथक्त्व प्रमाण तक सर्वस्तोक जानना। जिसे प्रारूप मे २१ के अङ्क से लेकर ५० तक के अङ्क पर्यन्त बताया है।

२ उसके बाद उपरितन स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा है। इसी

प्रकार आगे की द्वितीय आदि स्थितियो मे कण्डक के असख्येयभाग तक अनन्तगुणा कहना चाहिये । असत्कल्पना से कण्डक का सख्या प्रमाण १० अङ्क समझना चाहिये और उसका असख्यातवा भाग ७ अङ्क, जिसे प्रारूप मे ५१ से ५७ तक के अङ्क द्वारा बतलाया है तथा 'एकोऽवतिष्ठते' से तीन अङ्क (५८, ५६, ६०) लिये है ।

३ परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो की जघन्य स्थिति के उत्कृष्ट पद मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है । इसी प्रकार द्वितीय, तृतीय आदि कण्डक प्रमाण स्थितियो मे अनन्तगुण, अनन्तगुण जानना । जिन्हे प्रारूप मे अक ११ से २० तक के अङ्क पर्यन्त बतलाया है ।

४ जिस स्थिति के जघन्य अनुभाग को कहकर निवृत्त हुए थे, उसकी उपरितन स्थिति का अनुभाग अनन्तगुण है, जिसे प्रारूप मे ५८ के अङ्क से प्रदर्शित किया है ।

५ प्रागुक्त उत्कृष्ट अनुभाग रूप कण्डक से ऊपर की प्रथम, द्वितीय, तृतीय यावत् कण्डक प्रमाण स्थितियो मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण, अनन्त-गुण है। जिसे प्रारूप मे २१ के अङ्क से ३० के अङ्क पर्यन्त बतलाया है ।

६ इसके पश्चात् जिस स्थितिस्थान के जघन्य अनुभाग को कहकर निवृत्त हुए, उससे ऊपर की जघन्य स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुण होता है । जिसे प्रारूप मे ५६ के अङ्क से बतलाया है ।

७ इसके बाद पुन प्रागुक्त कण्डक से ऊपर की कण्डक प्रमाण स्थितियो मे उत्कृष्ट अनुभाग क्रमश अनन्तगुण, अनन्तगुण जानना चाहिए । जिसे प्रारूप मे ३१ से ४० के अङ्क पर्यन्त बतलाया है ।

८ इस प्रकार एक स्थिति का जघन्य अनुभाग और कण्डकमात्र स्थितियो का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण तब तक कहना चाहिए, यावत् जघन्य अनुभाग सम्बन्धी एक-एक स्थितियो की 'तानि अन्यानि च—वही और अन्य' रूप अनुकृष्टि से कण्डक पूर्ण हो जाये अर्थात् कण्डक पर्यन्त अनन्तगुण कहना चाहिए । प्रारूप मे जघन्य अनुभाग विपयक एक स्थिति ६० के अङ्क से अनन्तगुणी बताई है और उत्कृष्ट अनुभाग विपयक स्थितियाँ कण्डक प्रमाण

अनन्तगुणी ४१ से ५० के अक पर्यन्त बतलाई है। इस प्रकार सागरोपम शतपृथक्त्व प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग ५० के अक पर्यन्त कहना चाहिए।

९ इसके पश्चात् परस्पर आक्रान्त स्थितिस्थान हैं। अत उसके ऊपर एक स्थिति, एक स्थिति का जघन्य अनुभाग और सागरोपमशतपृथक्त्व प्रमाण स्थिति से उपरितन स्थिति का अनुभाग अनन्तगुण कहना। जिसे प्रारूप मे क्रमश ६१-५१ के अक से बताया है। इसके ऊपर पुन प्रागुक्त स्थिति की उपरितन स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है और सागरोपमशतपृथक्त्व प्रमाण से ऊपर की द्वितीय स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण कहना। जिसे प्रारूप मे क्रमश. ६२-५२ के अक से बताया है।

१० इस प्रकार एक जघन्य और एक उत्कृष्ट का अनुभाग अनन्तगुण तब तक कहना यावत् असातावेदनीय के जघन्य अनुभाग की सर्वोत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है। जिसे प्रारूप मे ६३-५३, ६४-५४, ६५-५५ आदि लेते हुए ८० के अक तक जघन्य स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग बताया है।

११ अभी जो उत्कृष्ट अनुभाग की कण्डक मात्र स्थितिया अनुक्त है। वे भी यथोत्तर अनन्तगुणी जानना। जिसे प्रारूप मे ७१-८० के अक पर्यन्त उत्कृष्ट स्थिति के उत्कृष्ट अनुभाग से बताया है।

□□

त्रसचतुष्क की तीव्रता-मन्दता

(त्रस, बादर, पर्याप्त और प्रत्येक)

ये चारो प्रकृतियाँ परावर्तमान शुभ प्रकृतिया हैं। अत इनकी तीव्रता-मदता का विचार उत्कृष्ट स्थिति से प्रारम्भ करके जघन्य स्थिति पर्यन्त किया जायेगा।

इनकी तीव्रता-मदता दर्शक प्रारूप इस प्रकार है—

निवर्तन-कंडक	९० का ज	अनुभाग अल्प उससे				
	८९	”	अनन्तगुण			
	८८	”	”			
	८७	”	”			
	८६	”	”			
	८५	”	”			
	८४	”	”			
	८३	”	”			
	८२	”	”			
	८१	”	”	—९० का उत्कृष्ट	अनुभाग	अनन्तगुण उससे
अनाकृ ↓	८०	”	”	—८९	”	”
	७९	”	”	—८८	”	”
	७८	”	”	—८७	”	”
	७७	”	”	—८६	”	”
	७६	”	”	—८५	”	”
	७५	”	”	—८४	”	”
	७४	”	”	—८३	”	”

कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण ↓

७३ का ज अनु अनतगुण उससे —८२ का उत्कृष्ट अनु अनन्तगुण उससे
७२ ,, ,, —८१ ,, ,,
७१ ,, ,, —८० ,, ,,
७० ,, ,, —७९ ,, ,,
६९ ,, ,, —७८ ,, ,,
६८ ,, ,, —७७ ,, ,,
६७ ,, ,, —७६ ,, ,,
६६ ,, ,, —७५ ,, ,,
६५ ,, ,, —७४ ,, ,,
६४ ,, ,, —७३ ,, ,,
६३ ,, ,, —७२ ,, ,,
६२ ,, ,, —७१ ,, ,,
६१ ,, ,, —७० ,, ,,

अभव्यप्रायोग्य अनुभागबंधस्थिति

६० का ज अनु अनतगुण उससे
५९ ,, ,,
५८ ,, ,,
५७ ,, ,,
५६ ,, ,,
५५ ,, ,,
५४ ,, ,,
५३ ,, ,,
५२ ,, ,,
५१ ,, ,,
५० ,, ,,
४९ ,, ,,
४८ ,, ,,
४७ ,, ,,
४६ ,, ,,
४५ ,, ,,
४४ ,, ,,
४३ ,, ,,
४२ ,, ,,
४१ ,, ,,
४० ,, ,,

कण्डक का असं० भाग
३९ का जघन्य अनु अन उसमे
३८ ,, ,,
३७ ,, ,,
३६ ,, ,,
३५ ,, ,,
३४ ,, ,,
३३ ,, ,, — ६९ का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण उसमे

कण्डक का अव. एक भाग
३२ — ६८ ,, ,,
३१ — ६७ ,, ,,
३० — ६६ ,, ,,

६५ ,, ,,
६४ ,, ,,
६३ ,, ,,
६२ ,, ,,
६१ ,, ,,
६० ,, ,,

३२ का ज अनुभाग अनन्तगुण उसमे — ५९ ,, ,,
५८ ,, ,,
५७ ,, ,,
५६ ,, ,,
५५ ,, ,,
५४ ,, ,,
५३ ,, ,,
५२ ,, ,,
५१ ,, ,,
५० ,, ,,

३१ का ज अनुभाग अनतगुण उसमे — ४९ ,, ,,
४८ ,, ,,
४७ ,, ,,
४६ ,, ,,
४५ ,, ,,
४४ ,, ,,
४३ ,, ,,
४२ ,, ,,

				४१ का उत्कृष्ट	अनुभाग	अनन्तगुण उससे
३० का ज	अनुभाग	अनन्तगुण	उससे	—४०	"	"
२९	"	"		—३९	"	"
२८	"	"		—३८	"	"
२७	"	"		—३७	"	"
२६	"	"		—३६	"	"
२५	"	"		—३५	"	"
२४	"	"		— ३४	"	"
२३	"	"		—३३	"	"
२२	"	"		—३२	"	"
२१	"	"		—३१	"	"
२०	"	"		— ३०	"	"
१९	"	"		—२९	"	"
१८	"	"		—२८	"	"
१७	"	"		—२७	"	"
१६	"	"		—२६	"	"
१५	"	"		— २५	"	"
१४	"	"		—२४	"	"
१३	"	"		—२३	"	"
१२	"	"		—२२	"	"
११	"	"		—२१	"	"
			अवशिष्ट कण्डक प्रमाण स्थिति	२०	"	"
				१९	"	"
				१८	"	"
				१७	"	"
				१६	"	"
				१५	"	"
				१४	"	"
				१३	"	"
				१२	"	"
				११	"	"

१ त्रस आदि नामकर्म की उत्कृष्ट स्थिति के जघन्य पद मे जघन्य अनुभाग सर्वस्तोक है, जिसे प्रारूप मे ९० के अक से बतलाया है ।

२ तदनन्तर समयोन, समयोन उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण, अनन्तगुण कण्डक मात्र तक जानना। जिसे प्रारूप मे ८९ से ८१ के अक तक बताया है।

३ इसके बाद उत्कृष्ट स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है, जिसे प्रारूप में ८१ के अक के सामने के ९० के अक द्वारा बतलाया है।

४. तत कण्डक से नीचे प्रथम स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। तत समयोन उत्कृष्ट स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप मे क्रमश ८९ से ८० के अक तक से बताया है।

५ इसके बाद कण्डक की अधस्तनी द्वितीय स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुण और द्विसमयोन उत्कृष्ट स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप मे क्रमश ७९—८८ के अक से जानना। यह तब तक कहना यावत् १८ कोडाकोडी सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। जिसे प्रारूप मे ७९-८८, ७८-८७ आदि अक बतलाते हैं। यह क्रम ६१-७० के अक तक जानना।

६ १८ कोडाकोडी सागरोपम से ऊपर कण्डक मात्र स्थिति अनुक्त है। उसकी प्रथम स्थिति का जघन्य अनुभाग अनण्तगुण है। उससे समयोन उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग पूर्ववत् है, द्विसमयोन उत्कृष्ट स्थिति का भी पूर्ववत् है (अर्थात् अनन्तगुण है)। इस प्रकार अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबध तक जानना। जिसे प्रारूप मे ६० से ४० के अक तक बतलाया है।

७ उसके बाद अधस्तन प्रथम स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। इस प्रकार नीचे कण्डक के असख्येय भाग तक जानना चाहिये। जिसे प्रारूप मे ३९ से ३३ के अक तक बतलाया है।

'एकोऽवतिष्ठते' इस सकेत से ३२, ३१, ३० अक जानना।

८ अठारह कोडाकोडी सागरोपम से ऊपर कण्डक मात्र स्थितियो का

उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप मे ६९ से ६० के अक तक बताया है।

९ जिस जघन्य स्थितिस्थान के अनुभाग को कहकर निवृत्त हुए थे, उससे नीचे के स्थितिस्थान का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे ३२ के अक से बताया है।

१० उसके बाद पुन १८ कोडाकोडी सागरोपम सम्बन्धी अन्त्यस्थिति से लेकर नीचे कण्डक प्रमाण स्थितियो का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण कहना, जिसे प्रारूप मे ५९ से ५० के अक तक बताया है।

११ उसके बाद जिस स्थितिस्थान का जघन्य अनुभाग कहकर निवृत्त हुए थे, उससे नीचे के स्थितिस्थान का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप मे ३१ के अक से प्रदर्शित किया है।

१२ उससे भी पुन पूर्वोक्त कण्डक (५९-५०) से नीचे कण्डक प्रमाण स्थितियो का अनुक्रम से नीचे-नीचे उतरते-उतरते उत्कृष्ट अनुभाग अनन्त-गुण-अनन्तगुण कहना। जिसे ४९ से ४० के अक तक बताया है।

१३ इस प्रकार एक स्थिति का जघन्य अनुभाग और कण्डकमात्र स्थितियो का उत्कृष्ट अनुभाग तब तक कहना चाहिए यावत् अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागवध के विषय मे जघन्य स्थिति आती है।

१४ जिस स्थितिस्थान के जघन्य अनुभाग को कहकर निवृत्त हुए थे, उसके अधोवर्ती स्थितिस्थान मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप मे ३० के अक से बताया है। इसके बाद अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागवध के नीचे प्रथम स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप मे ३० के अक के सामने ४० के अक से बताया है।

१५ इसके बाद पुन प्रागुक्त जघन्य अनुभागवध की स्थिति के नीचे का अनुभाग अनन्तगुण है, जिसे २९ के अक से बताया है। उसके बाद अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभाग से नीचे द्वितीय स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे २९ के अक के सामने ३९ के अक से बताया है।

इस प्रकार एक स्थिति का जघन्य अनुभाग और एक स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग तब तक कहना चाहिये यावत् जघन्य स्थिति आती है। जिसे प्रारूप मे २८-३८, २७-३७, २६-३६, २५-३५ आदि के क्रम को लेते हुए जघन्य स्थिति को २१ के अक से बताया है।

१६ जो उत्कृष्ट स्थिति मे कण्डक प्रमाण अनुभाग अनुक्त है, उसे प्रारूप मे २० से ११ के अक तक जानना। वह उत्तरोत्तर अनन्तगुण अनन्तगुण है।

परिशिष्ट २४

तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र की तीव्रता-मन्दता

इनकी तीव्रता-मदता का विचार जघन्य स्थिति से प्रारम्भ कर उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त किया जायेगा। इनकी तीव्रता-मदता का प्रारूप इस प्रकार है—

निवर्तन कण्डक	११ का ज	अनुभाग	स्तोक उससे			
	१२	”	अनन्तगुण			
	१३	”	”			
	१४	”	”			
	१५	”	”			
	१६	”	”			
	१७	”	”			
	१८	”	”			
	१९	”	”			
	२०	”	”	—११ का	उत्कृष्ट अनुभाग	अनन्तगुण उससे
अभव्यप्रायोग्य जघन्य +	२१	”	”	—१२	”	”
	२२	”	”	—१३	”	”
	२३	”	”	—१४	”	”
	२४	”	”	—१५	”	”
	२५	”	”	—१६	”	”
	२६	”	”	—१७	”	”
	२७	”	”	—१८	”	”
	२८	”	”	—१९	”	”
	२९	”	”	—२०	”	”
	३०	”	”	—२१	”	”
	३१	”	”	—२२	”	”

६६ का ज अनु अनन्तगुण उससे		
६७ " "	—३१	का उत्कृष्ट अनुभाग अनतगुण उससे
६८ " "	३२	" "
६९ " "	३३	" "
७० " "	३४	" "
	३५	" "
	३६	" "
	३७	" "
	३८	" "
	३९	" "
	४०	" "
६८ का ज अनुभाग अनतगुण उससे	—४१	" "
	४२	" "
	४३	" "
	४४	" "
	४५	" "
	४६	" "
	४७	" "
	४८	" "
	४९	" "
	५०	" "
६९ का ज अनुभाग अनतगुण उससे	—५१	" "
	५२	" "
	५३	" "
	५४	" "
	५५	" "
	५६	" "
	५७	" "
	५८	" "
	५९	" "
	६०	" "
७० का ज अनुभाग अनतगुण उससे	—६१	" "
७१ " "	—६२	" "

७२ का ज	अनुभाग अनतगुण	उससे	—६३ का उत्कृष्ट	अनुभाग	अनतगुण उससे
७३	,,	,,	—६४	,,	,,
७४	,,	,,	—६५	,,	,,
७५	,,	,,	—६६	,,	,,
७६	,,	,,	—६७	,,	,,
७७	,,	,,	—६८	,,	,,
७८	,,	,,	—६९	,,	,,
७९	,,	,,	—७०	,,	,,
८०	,,	,,	—७१	,,	,,
८१	,,	,,	—७२	,,	,,
८२	,,	,,	—७३	,,	,,
८३	,,	,,	—७४	,,	,,
८४	,,	,,	—७५	,,	,,
८५	,,	,,	—७६	,,	,,
८६	,,	,,	—७७	,,	,,
८७	,,	,,	—७८	,,	,
८८	,,	,,	—७९	,,	,,
८९	,,	,,	—८०	,,	,,
९०	,,	,,	अवशिष्ट कण्डक प्रमाण स्थिति — ८१	,,	,,
			८२	,,	,,
			८३	,,	,,
			८४	,,	,,
			८५	,,	,,
			८६	,,	,,
			८७	,,	,,
			८८	,,	,,
			८९	,,	,,
			९०	,,	,,

१ सप्तम नरक मे वर्तमान नारक के सर्वजघन्य स्थितिस्थान के जघन्यपद मे अनुभाग सर्वस्तोक है। जिसे प्रारूप मे ११ के अक से वतलाया है।

२ द्वितीयादि निवर्तन कण्डक तक के स्थान मे जघन्य अनुभाग क्रमश

अनन्तगुण जानना चाहिये। जिसे प्रारूप मे १२ से २० के अक पर्यन्त बताया है।

३ उसके बाद जघन्य स्थिति के उत्कृष्ट पद मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है, जिसे प्रारूप मे २० के अक के सामने के ११ के अक से बतलाया है।

४ इससे निवर्तनकण्डक से ऊपर के प्रथम स्थितिस्थान मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे १२ के अक से बताया है। द्वितीय स्थिति के उत्कृष्ट पद मे अनुभाग अनन्तगुण है, जिसे २१ के अक के सामने १२ के अक से बतलाया है। इस प्रकार एक जघन्य, एक उत्कृष्ट अनुभाग तब तक जानना चाहिए जब तक कि अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभाग के नीचे की चरम स्थिति आती है। जिसे प्रारूप मे २२-१३, २३-१४, २४-१५ आदि क्रम लेते हुए अन्त मे ३९-३० के अक से बताया है।

५. अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभाग की चरम स्थिति ४० के अक से बताई है।

६ अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबध विषयक प्रथम स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। द्वितीयादि स्थितियो (सागरोपम शतपृथक्त्व प्रमाण स्थितियो) पर्यन्त तावन्मात्र-तावन्मात्र अर्थात् अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप मे ४१ से ६० अक पर्यन्त बतलाया है।

इन स्थितियो को परावर्तमान जघन्य अनुभागबधप्रायोग्य भी कहते हैं।

७ इससे ऊपर प्रथम स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण, उससे भी द्वितीय जघन्य स्थिति का अनुभाग अनन्तगुण, इस प्रकार निवर्तन-कण्डक के असख्येय भाग पर्यन्त जानना। जिसे प्रारूप मे ६१ से ६७ के अक पर्यन्त बताया है।

'एकोऽवतिष्ठते' इस नियम के अनुसार निवर्तनकण्डक के एक अवशिष्ट भाग को बताने के लिए ६८, ६९, ७० ये तीन अक बतलाये है।

८ जिस उत्कृष्ट स्थितिस्थान के अनुभाग का कथन कर निवृत्त हुए, उससे उपरितन स्थितिस्थान मे अनन्तगुण, अनन्तगुण अभव्यप्रायोग्य अनु-

भागवध की चरम स्थिति के नीचे तक कहना चाहिए। जिसे प्रारूप मे ३१ से ४० तक के अक पर्यन्त बतलाया है।

९ जिस स्थितिस्थान मे जघन्य अनुभाग का कथन करते निवृत्त हुए थे, उससे उपरितन स्थितिस्थान मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप मे ६८ के अक मे बताया है।

१० अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबंधविषयक प्रथम स्थिति मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। द्वितीयादि स्थितिस्थान तब तक कहना यावत् कण्डकमात्र स्थितिया अतिक्रान्त होती है। जिसे प्रारूप मे ४१ से ५० के अक तक बताया है।

११. जिस स्थितिस्थान के जघन्य अनुभाग को कहकर निवृत्त हुए थे, उससे उपरितन जघन्य स्थितिस्थान का अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप मे ६९ के अक म बताया है।

१२ अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभाग विषयक स्थितिस्थान से ऊपर कण्डकमात्र स्थितिस्थान अनन्तगुण जानना चाहिए। जिसे प्रारूप मे ५१ से ६० के अक पर्यन्त बताया है।

१३ इस प्रकार एक स्थिति का जघन्य अनुभाग और कण्डकमात्र स्थितियो का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण तब तक जानना, जब तक कि अभव्य प्रायोग्य जघन्य अनुभाग की चरम स्थिति आती है। जिसे प्रारूप मे ७० के अक मे जानना।

१४ अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभाग बध के ऊपर प्रथम स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप मे ६१ के अक मे जानना। प्रागुक्त जघन्य अनुभागबध के ऊपर का जघन्य स्थितिस्थान अनन्तगुण, जिसे प्रारूप मे ७१ के अक मे बताया है और प्रागुक्त उत्कृष्ट अनुभाग से ऊपर के स्थितिस्थान का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे ६२ के अक मे समझना।

इस प्रकार एक स्थितिस्थान का जघन्य अनुभाग और एक स्थिति-

स्थान का उत्कृष्ट अनुभाग परस्पर आक्रान्त रूप मे तब तक कहना यावत् उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण आता है। जिसे प्रारूप मे ६३-७३, ६४-७४, ६५-७५ आदि लेते हुए ९०-८१ अक पर्यन्त कहना। यह ९० के उत्कृष्ट स्थितिस्थान का जघन्य अनुभाग हुआ।

१५ अब जो उत्कृष्ट स्थिति के उत्कृष्ट अनुभाग की कण्डक मात्र स्थितिया अनुक्त हैं, उसे क्रमश अनन्तगुण कहना। जिसे प्रारूप मे ८१ से ९० के अक पर्यन्त बताया है।